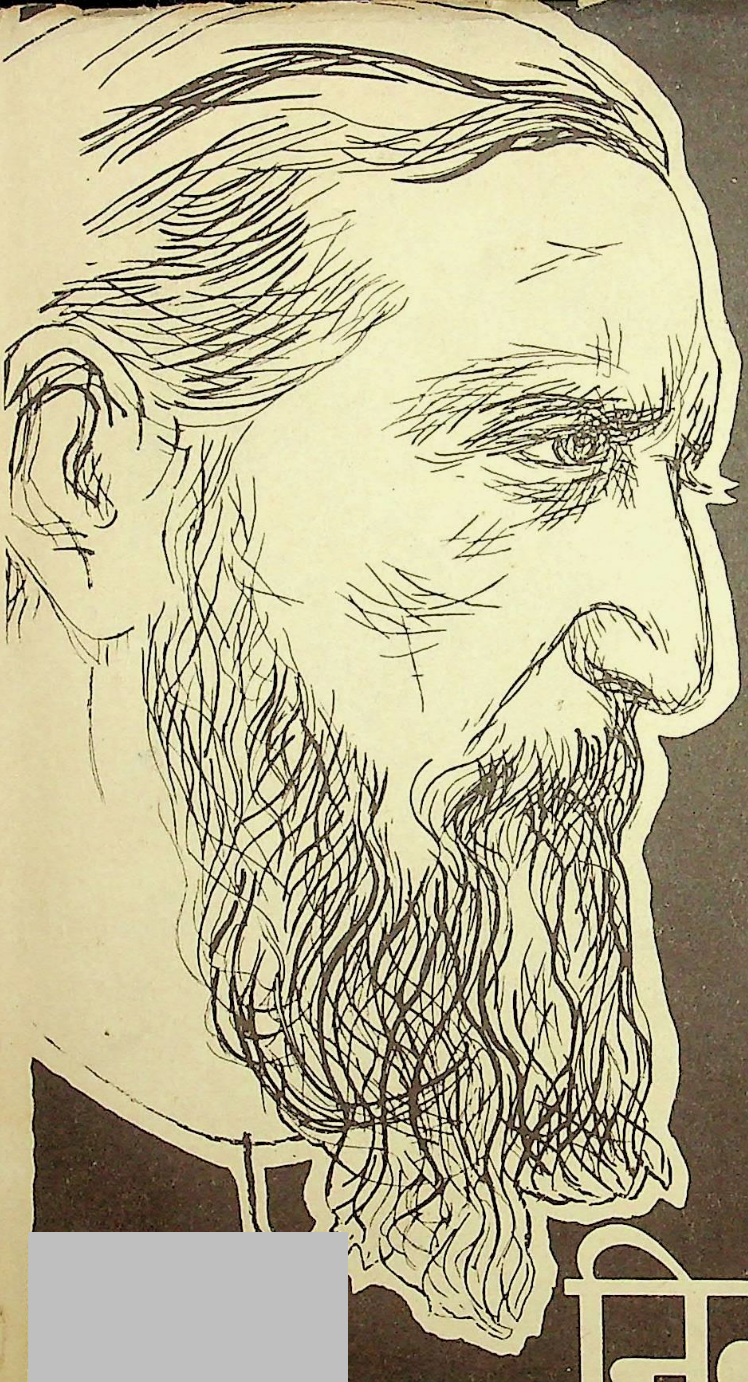

निराला रचनावली

7

कोई भी जाति जब किसी बड़े परिवर्तन के लिए संघर्ष करती है तो उसकी प्रेरणाओं में उसका अतीत भी होता है और साहित्य, विशेषकर किशोरोपयोगी कथा-साहित्य में उसे बहुविध अभिव्यक्ति मिलती है। इस दृष्टि से **रचनावली** के इस खण्ड में महाकवि की चार पुस्तकें – **भक्त ध्रुव, भक्त प्रह्लाद, भीष्म** और **महाराणा प्रताप** विशेष महत्त्व रखती हैं। इनके अलावा **ईसप की नीतिकथाएँ** भी इन्हीं प्रेरणाओं का प्रतिफल है। इस शताब्दी के तीसरे दशक में रचित ये पाँचों पुस्तकें, जो अब लुप्तप्राय थीं, असंख्य बच्चों को चारित्रिक दृढ़ता, वीरता और स्वातन्त्र्य-प्रेम की शिक्षा देती रही हैं। स्पष्टतः **निरालाजी** का उद्देश्य भी यही था, जैसा कि 'भक्त प्रह्लाद' की भूमिका में उन्होंने लिखा है – 'किसी देश को उन्नति के शिखर पर फिर से संस्थापित करने का सबसे उत्तम उपाय यही है कि उसके बालकों की सार्वभौमिक शिक्षा की ओर ध्यान दिया जाय। उनके सामने देश के आदर्श बालकों के चरित्र रक्खे जायँ। इस तरह उनकी शारीरिक दशा का सुधार तो होगा ही, साथ ही उनकी मानसिक और नैतिक उन्नति भी हो सकेगी और निकट भविष्य में वे देश के मुखोज्ज्वलकारी रत्न हो सकेंगे।' आदर्श बालकों की इन चरित-कथाओं में महाकवि ने इस बात का विशेष ध्यान रखा है कि ईश्वर और धर्म आदि गूढ़ विषयों के रहस्यों का भी उद्घाटन हो जाय, ताकि धार्मिक रूढ़ियों और कट्टरता का लोप होकर एक नये मानवीय समाज की रचना हो सके। साथ ही, देश-काल-परिप्रेक्ष्य में अधिकाधिक प्रासंगिक और उपयोगी अन्य मूल्यों को भी उन्होंने उभारा है। यही कारण है कि ध्रुव और प्रह्लाद दोनों राज्य-शक्ति से टकरानेवाले बाल-चरित्र हैं, भीष्म अपनी प्रतिज्ञा एवं वीरता में अनुपम हैं और प्रताप 'वन-वन स्वतन्त्रता-दीप लिये फिरनेवाले बलवान' राष्ट्रभक्त।

R
0८9
द२नि:6

72798

7 [illegible] 798 -

निराला रचनावली

बालोपयोगी साहित्य

भक्त ध्रुव, भक्त प्रह्लाद, भीष्म.
महाराणा प्रताप, सीखभरी
कहानियाँ

तुम तुंग हिमालय श्रृंग और मैं चंचल गति सुर-सरिता

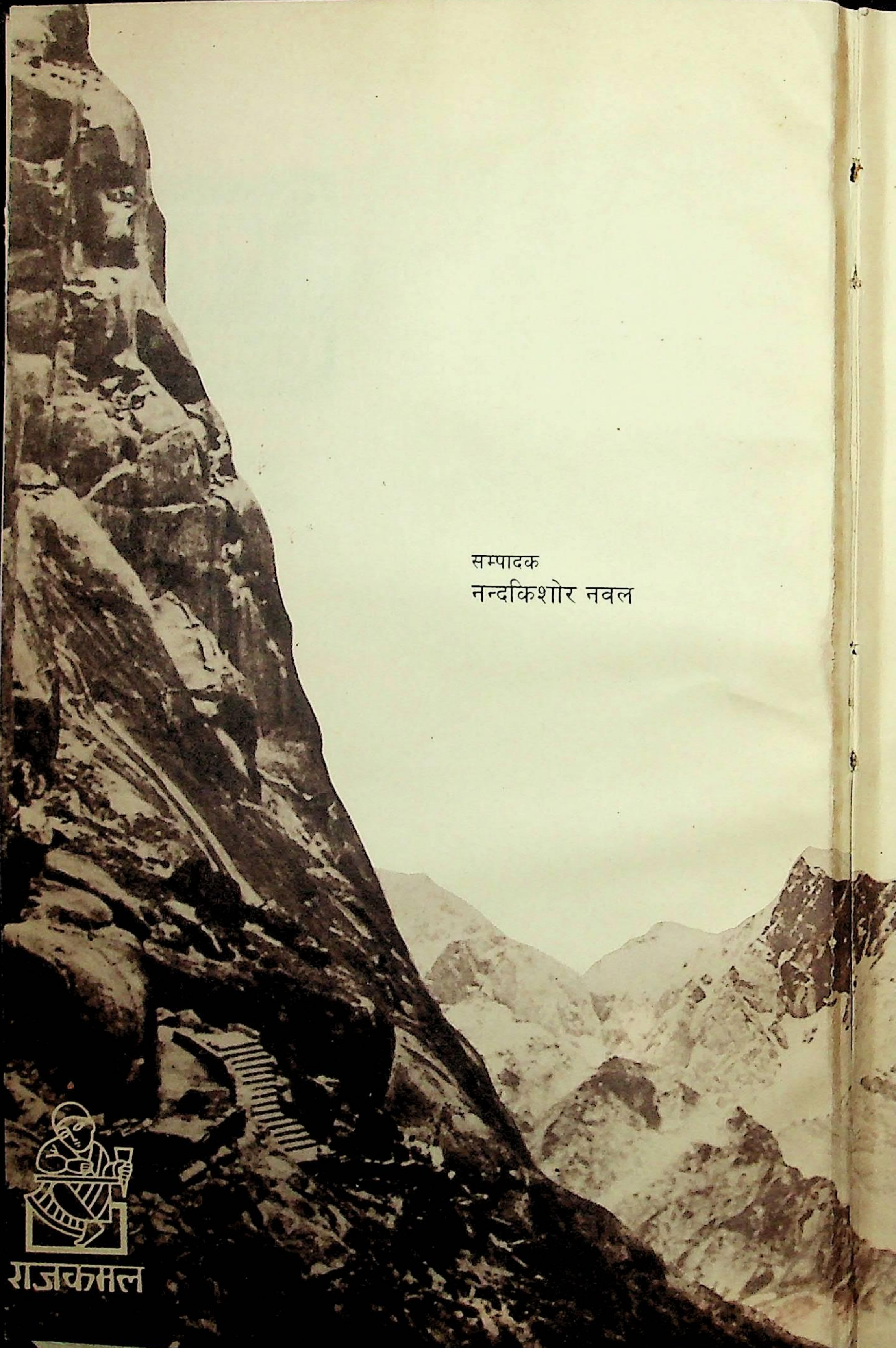

सम्पादक
नन्दकिशोर नवल

राजकमल

72798

निराला रचनावली

7

मूल्य
प्रति खण्ड रु० 75.00
सम्पूर्ण सैट रु० 600.00

रामकृष्ण त्रिपाठी

द्वितीय संस्करण
मार्च, 1983

प्रकाशक
राजकमल प्रकाशन प्रा.
8 नेताजी सुभाष मार्ग,
नयी दिल्ली - 110 002

मुद्रक
रुचिका प्रिन्टर्स
नवीन शाहदरा
दिल्ली - 110 032

आवरण तथा
प्रारम्भिक पृष्ठ :
प्रभात आफसेट प्रेस,
दरियागंज, नयी दिल्ली

कला-पक्ष

आवरण के लिए
निराला का रेखांकन :
हरिपाल त्यागी

कला - संयोजना :
चाँद चौधरी

NIRALA
RACHANAVALI
Collected Works of
Suryakant Tripathi 'Nirala'

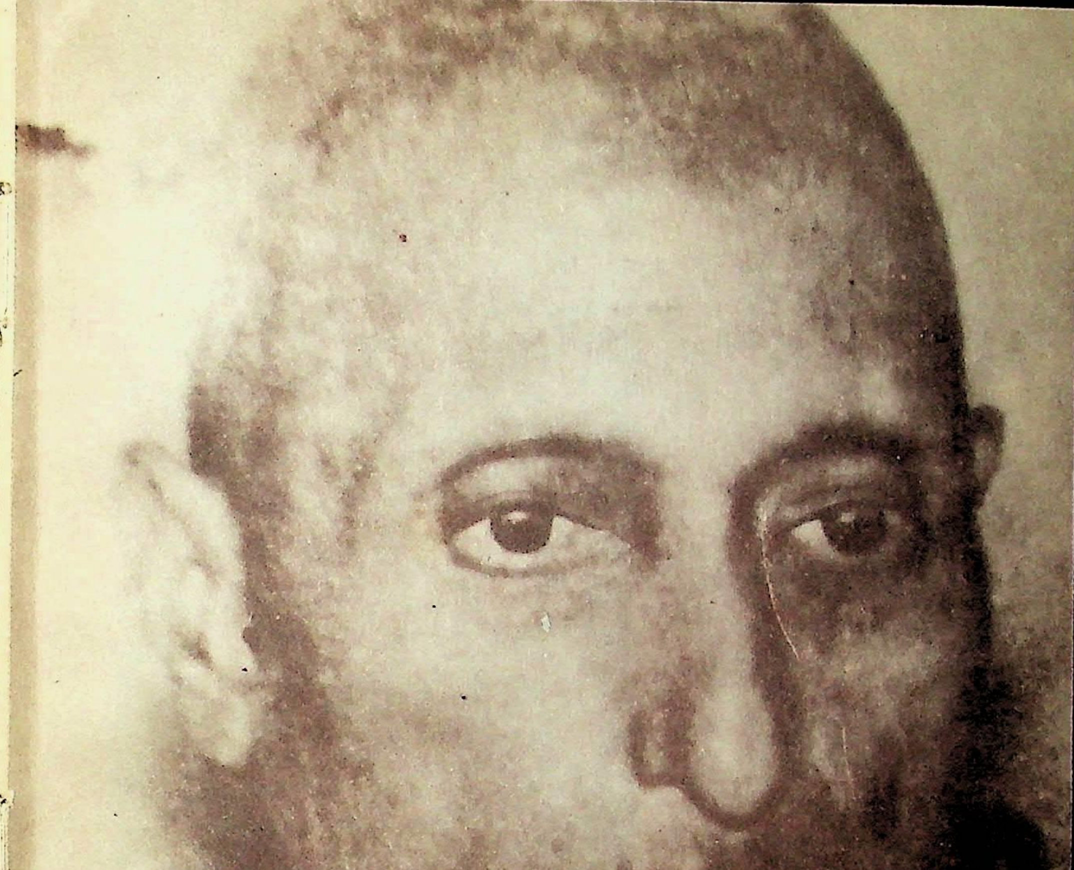

1962

72798

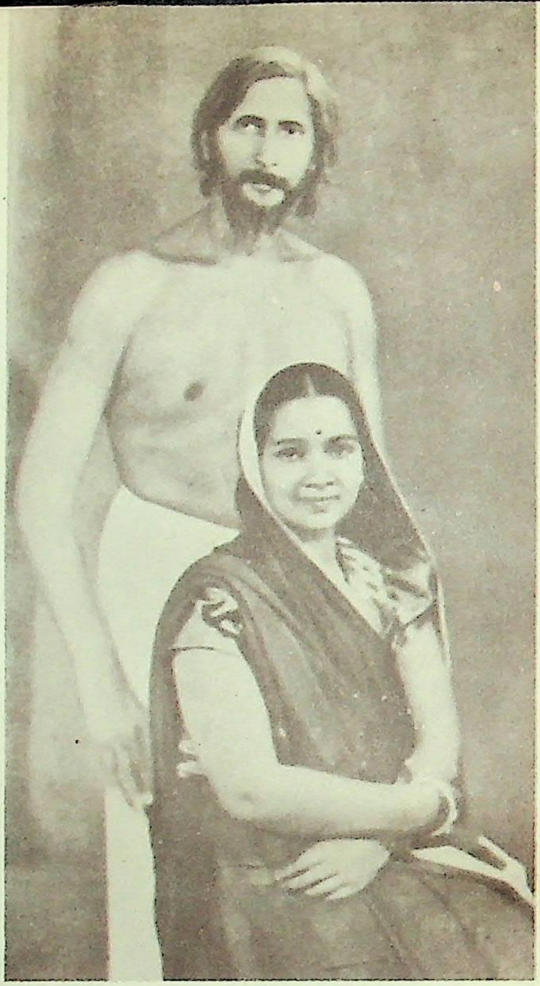

श्रीमती चन्द्रमुखी ओझा 'सुधा' के साथ

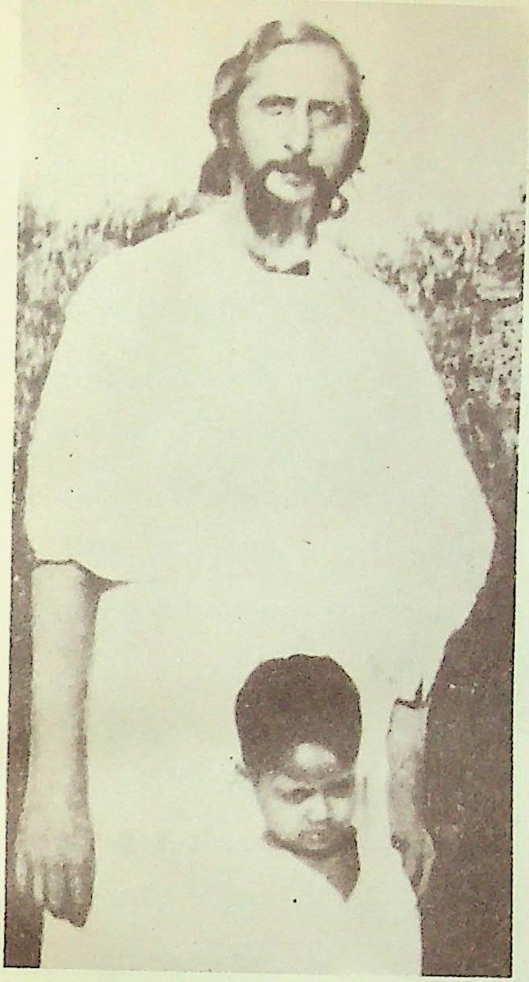

72798

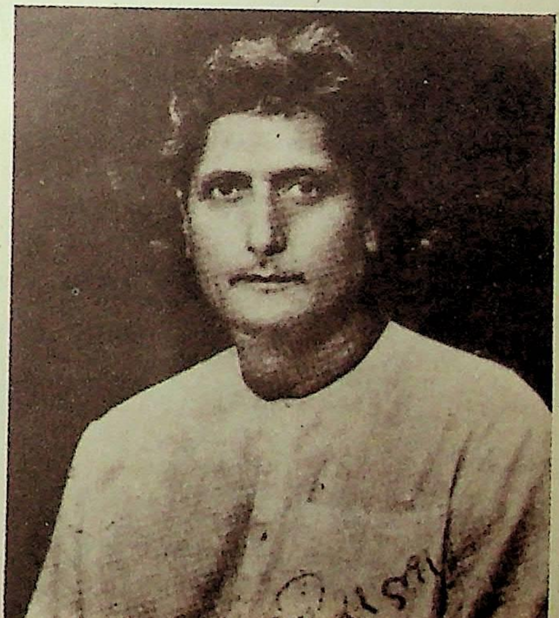

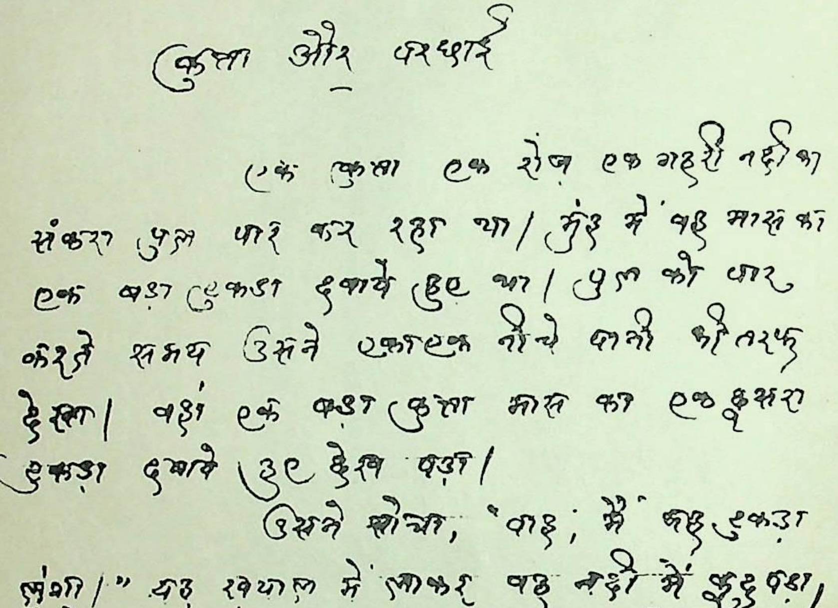

कुत्ता और परछाईं

एक कुत्ता एक रोज़ एक गहरी नदी का सँकरा पुल पार कर रहा था। मुँह में वह मांस का एक बड़ा टुकड़ा दबाये हुए था। पुल को पार करते समय उसने एकाएक नीचे पानी की तरफ़ देखा। वहाँ एक बड़ा कुत्ता मांस का एक दूसरा टुकड़ा दबाये हुए देख पड़ा।

उसने सोचा, "वाह; मैं वह टुकड़ा लूंगा।" यह ख़याल में लाकर वह नदी में कूद पड़ा। उस बेवकूफ़ कुत्ते की समझ में यह नहीं आया कि वह दूसरा कुत्ता उसी की परछाईं थी। उसने परछाईं वाले टुकड़े को पकड़ने के इरादे से अपना मुंहवाला टुकड़ा भी खो दिया।

चीज़ें जैसी दिखती हैं, बहुत समय वैसी ही नहीं होतीं। पास जो कुछ है, उसको रखना अधिक पाने की ओर हाथ बढ़ाने से अधिक अच्छा है।

—

निराला की हस्तलिपि में 'सीखभरी कहानियाँ' का एक पृष्ठ

72798

आभार

निराला रचनावली प्रकाशित हो रही है, यह राजकमल के लिए गौरव की बात है। जिस प्रकार महाकवि की जीवन-यात्रा संघर्षपूर्ण रही, उसी प्रकार इस **रचनावली** के प्रकाशन में तरह-तरह की कठिनाइयाँ और बाधाएँ सामने आयीं। किन्तु बड़े धैर्य के साथ हमने सभी कठिनाइयों को हल किया और इसके प्रकाशन में सभी निराला-प्रेमियों का प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष सहयोग हमें मिला।

रचनावली में भारती भण्डार, इलाहाबाद, की आठ पुस्तकें [गीतिका, अनामिका, तुलसीदास, आराधना, सुकुल की बीवी, प्रबन्ध-प्रतिमा, निरुपमा और अपरा], निराला प्रकाशन, दारागंज, इलाहाबाद, की चार पुस्तकें [प्रभावती, बिल्लेसुर बकरिहा, चोटी की पकड़ और चतुरी चमार] तथा लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, की आठ पुस्तकें [अर्चना, बेला, नये पत्ते, कुकुरमुत्ता, अणिमा, देवी, काले कारनामे और रवीन्द्र-कविता-कानन] संकलित की गयी हैं और इन संस्थाओं ने अपनी पुस्तकें **रचनावली** में संकलित करने की सहर्ष अनुमति दी है। यह स्वस्थ परम्परा हिन्दी-प्रकाशन के लिए स्वागत-योग्य है।

रचनावली में जिन चित्रों का उपयोग किया गया है वे हमें सर्वश्री अमृतलाल नागर, ओंकार शरद, अजितकुमार, नेमिचन्द्र जैन, रामकृष्ण त्रिपाठी तथा इण्डियन आर्ट स्टूडियो देहरादून के श्री नवीन नौटियाल से प्राप्त हुए हैं। इसके अतिरिक्त श्री बरुआ द्वारा सम्पादित 'महाकवि निराला अभिनन्दन ग्रन्थ' से भी कई चित्र लिये गये हैं।

रचनावली के पत्रोंवाले खण्ड में आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री की पुस्तक 'निराला के पत्र' से महाकवि द्वारा शास्त्रीजी को लिखे गये पत्र संकलित हुए हैं। श्री सोहनलाल भार्गव, लखनऊ, ने स्वर्गीय श्री दुलारेलाल भार्गव के नाम लिखे गये पत्र और श्री रामकृष्ण त्रिपाठी, इलाहाबाद, ने अपने नाम लिखे गये पत्र, जो 'निराला की साहित्य साधना' के तीसरे खण्ड में संकलित हैं, **रचनावली** में संकलित करने की सहर्ष अनुमति दी।

उपरोक्त सभी संस्थाओं और महानुभावों तथा परोक्ष रूप से सहायक होनेवाले अन्य व्यक्तियों के हम आभारी हैं। उनके सहयोग से ही यह स्वप्न साकार हुआ है।

19 जनवरी, '83 **शीला सन्धू**

सातवाँ खण्ड

यह खण्ड निराला के बाल-साहित्य का है। इसमें उनकी ये पुस्तकें संकलित की गयी हैं—**भक्त ध्रुव, भक्त प्रह्लाद, भीष्म, महाराणा प्रताप** और **सीखभरी कहानियाँ**।

निराला ने 1943 ई. में डॉ. रामविलास शर्मा के एक प्रश्न के उत्तर में कहा था : "कलकत्ता से निकली 6 किताबें मेरे नाम से हैं, जो बाजार के लिए ही लिखी गयी हैं।" [**निराला की साहित्य-साधना** (3), पृ. 399] इन छः पुस्तकों से निराला का तात्पर्य **भक्त ध्रुव, भक्त प्रह्लाद, भीष्म, महाराणा प्रताप, रवीन्द्र-कविता-कानन** और **हिन्दी-बंगला-शिक्षा** से था, क्योंकि यही वे पुस्तकें हैं, जिन्हें उन्होंने प्रकाशकों के आदेश पर लिखा था और जो उनके नाम से निकली थीं।

उक्त छः में से आरम्भिक तीन पुस्तकें निश्चित रूप से बच्चों के लिए लिखी गयी हैं, क्योंकि इनकी भूमिकाओं में निराला ने इस तरह के संकेत दिये हैं। चौथी पुस्तक **महाराणा प्रताप** बच्चों के लिए भी लिखी गयी है और साधारण पाठकों के लिए भी।

डॉ. शर्मा ने **साहित्य-साधना** (3) में निराला के बारे में लिखा है कि "अपने खर्च के लिए, खास तौर से भतीजों को पैसे भेजने के लिए उन्हें बाजार का काम करना पड़ता था। 'मतवाला' से निश्चित आय न थी।" (पृ. 118) 'मतवाला' से उनका सम्बन्ध दिन-दिन बिगड़ता गया, जिससे बाजार के काम पर उनकी निर्भरता बढ़ती गयी। इसी समय उन्होंने प्रकाशकों के आदेश पर उक्त छहों पुस्तकें लिखीं। ये 1926-27 ई. के वर्ष थे।

भक्त ध्रुव, भक्त प्रह्लाद, भीष्म और **महाराणा प्रताप** ये चारों ही पुस्तकें दी पोपुलर ट्रेडिंग कम्पनी, 115 हरीसन रोड, कलकत्ता से रत्नाकर-ग्रन्थमाला के क्रमशः ग्यारहवें, बारहवें, पन्द्रहवें और सत्रहवें रत्न के रूप में निकली थीं। **भक्त ध्रुव, भक्त प्रह्लाद** और **भीष्म** का प्रकाशन-काल 1926 ई. का उत्तरार्द्ध है और **महाराणा प्रताप** का प्रकाशन-काल 1927 ई. का उत्तरार्द्ध। **भक्त प्रह्लाद** (द्वितीय संस्करण) में निराला की जो भूमिका है, उसके नीचे 15 अगस्त, 1930 की तिथि दी गयी है, जिससे यह भ्रम हो सकता है कि यह पुस्तक 1930 ई. में लिखी गयी या प्रकाशित हुई। हमारा खयाल है कि यह भूमिका प्रथम संस्करण के साथ छपी थी (हमें इस पुस्तक का प्रथम संस्करण देखने को नहीं मिला) द्वितीय संस्करण में उसके नीचे दी गयी तिथि बदली गयी, या वहाँ तिथि नहीं थी, यह

नयी तिथि लगायी गयी। द्वितीय संस्करण 1930 ई. (संवत् 1987 वि.) में निकला था। **भक्त प्रह्लाद** के पहली बार 1930 ई. में प्रकाशित होने का प्रश्न ही नहीं उठता है, क्योंकि रत्नाकर ग्रन्थमाला का यह बारहवाँ रत्न है और उसका पन्द्रहवाँ रत्न **भीष्म** 1926 ई. में प्रकाशित है। यह कैसे सम्भव है कि ग्रन्थमाला के बारहवें रत्न का प्रकाशन उसके पन्द्रहवें रत्न के बाद हो! **महाराणा प्रताप** का भी द्वितीय संस्करण ही उपलब्ध हुआ है। यह संस्करण 1929-30 ई. (संवत् 1986 वि.) में निकला था। इसके साथ एक प्रकाशकीय भूमिका है, जिसके नीचे 1 अगस्त, 1927 की तिथि दी हुई है। इससे यह पता चलता है कि यह भूमिका प्रथम संस्करण की भूमिका है, लेकिन मजे की बात यह है कि इस भूमिका का अन्तिम वाक्य यह है—"हर्ष की बात है कि थोड़े ही दिनों के बाद यह दूसरा संस्करण हो रहा है।" पुस्तक का द्वितीय संस्करण हो रहा है 1929-30 ई. में और यह बात कही जा रही है उस भूमिका में, जो लिखी गयी है 1 अगस्त, 1927 को! जाहिर है कि जब द्वितीय संस्करण निकलने लगा, तो प्रकाशक ने प्रथम संस्करण की भूमिका के अन्त में एक नया वाक्य जोड़ दिया। अपनी तरफ से उसने इतनी सावधानी अवश्य बरती कि इस वाक्य को कोष्ठकों में रखा। **भक्त प्रह्लाद** नामक पुस्तक में जहाँ प्रथम संस्करण की भूमिका के नीचे द्वितीय संस्करण के प्रकाशन की तिथि लगा दी गयी है, वहाँ **महाराणा प्रताप** नामक पुस्तक में प्रथम संस्करण की भूमिका की तिथि के ऊपर द्वितीय संस्करण से सम्बन्धित एक वाक्य डाल दिया गया है! इस तरह का उलट-फेर चलता ही रहता था।

निराला की ये पुस्तकें प्रकाशकों के आदेश पर लिखी गयी हैं इसका यह मतलब नहीं है कि ये साहित्य-गुण से शून्य और इसलिए उपेक्षणीय हैं। इनमें निराला की बालकों के चरित्र-निर्माण-सम्बन्धी चिन्ता प्रकट हुई है, साथ ही उनके गद्य-साहित्य का भिन्न स्तर भी, जिसका विकास हम उनके उपन्यासों में देखते हैं।

भक्त प्रह्लाद, भक्त ध्रुव और **भीष्म** पौराणिक आख्यान हैं, जिनमें चित्रित ध्रुव, प्रह्लाद और भीष्म के चरित्रों से निश्चय, सत्य और प्रतिज्ञा पर दृढ़ रहने की प्रेरणा मिलती है। **भक्त ध्रुव** में निराला ने यथास्थान मानव-प्रकृति का भी वर्णन किया है, जैसे सुनीति के त्याग और सुरुचि के सपत्नी-द्वेष तथा उत्तानपाद के भोग में लिप्त होकर सबकुछ भूल जाने का। दूसरे, इसमें उन्होंने ध्रुव की चिन्ता को एक मानवीय अर्थ देने का भी प्रयास किया है। "गहन अरण्य के एक ओर चिन्ता में डूबा हुआ एक बालक मन-ही-मन अपने भविष्य की चिन्ता कर रहा है। वह मनुष्य है, मनुष्य का हक लेकर पैदा हुआ है, मनुष्य से मनुष्योचित व्यवहार की आशा रखता है, मनुष्यों की सम्पूर्ण वृत्तियाँ उसके अन्दर भी विराजमान हैं। चाहे उनका रूप बहुत क्षुद्र ही क्यों न हो—चाहे अनुकूल अवस्था के अभाव से अब तक उनकी अंकुरित दशा भी विपरीत ही क्यों न हो—वे बीज-रूप में ही क्यों न हों। तिरस्कार, घृणा, अपमान, अत्याचार, निर्यातन इन पाशविक प्रवृत्तियों के विरोध के लिए आज उसके खून का हरएक बूंद तीव्र गति से उसे कार्यतत्पर कर रहा है। बालक सोच रहा है इस अत्याचार का उपाय। चिरकाल से मनुष्य जाति, मनुष्य जाति पर जो अत्याचार करती चली आ रही है—इसका कारण, साथ ही

इसका प्रतिरोध भी। वह अत्याचार सहने के लिए नहीं आया।" ध्रुव की कथा निराला ने अत्यन्त प्रांजल भाषा में लिखी है। जगह-जगह उसमें अत्यन्त कवित्व-पूर्ण वर्णन मिलते हैं, जैसे आरम्भ में ही प्रलय का वर्णन।

भक्त प्रह्लाद में जब प्रह्लाद शिक्षा के लिए गुरुकुल में पहुँचा तो गुरु ने उसे आरम्भ में तीन बातें बतलायीं। "तीसरी बात यह कि तुम यहाँ कभी यह घमण्ड न कर सकोगे कि तुम राजा के लड़के हो। यहाँ जितने लड़के हैं, सबका बराबर आसन है। सम्मान की दृष्टि से बड़ा वह है, जिसने अध्ययन अधिक किया है। तुम्हें सदा ही उसका अदब करना चाहिए।" इसके बाद निराला लिखते हैं: "प्रह्लाद मौन धारण किये उसके अनुशासनों को सुन रहे थे। तीसरी आज्ञा उन्हें भायी। राजा और रंक एक ही आसन पर बैठकर ज्ञानार्जन करते हैं, समता के इस भाव से समदर्शी बालक का मुख प्रफुल्ल हो उठा।" इस पुस्तक में भी उन्होंने मानव-प्रकृति के वर्णन पर अपना ध्यान रखा है। सारे क्रिया-कलाप उसी के अनुसार सम्पन्न होते हैं। भाषा इसकी और अधिक प्रांजल है, जिसमें स्थान-स्थान पर सरल वाक्यों में अत्यन्त उच्च कोटि का कवित्व प्रकट हुआ है। कहीं-कहीं अत्यन्त यथार्थपरक वर्णन है, यथा: "हिरण्यकशिपु किले के अन्दर गया। सबसे पहले वह उस जगह पर पहुँचा जहाँ उसकी अजेय सेना रहती थी। गारद खाली पड़ी थी। इधर-उधर की दीवारें ढह गयीं थीं। चूहों ने कहीं-कहीं खोदकर मिट्टी की राशि लगा रखी थी। ऊपर खम्भों के दराज में चिमगादड़ों ने अड्डा जमा लिया था। जंगली लताएँ जगह-जगह से दीवार और छत पर चढ़कर फैली हुई खूब लहलहा रही थीं, मानो हिरण्यकशिपु को देखकर सब उससे मजाक कर रही हों। हँस-हँसकर लोट-पोट हो रही थीं। चुपचाप वहाँ से निकलकर हिरण्य-कशिपु अपनी अस्त्रशाला में गया। वहाँ भी यही हाल। अस्त्रों का वहाँ कहीं नाम भी न था। दो-चार टूटी हुई तलवारें इधर-उधर पड़ी थीं। एक को उसने उठा लिया और गौर से बड़ी देर तक देखता रहा। देखते-ही-देखते उसकी आँखों से कई बूंद आँसू टपक पड़े। तलवार के ऊपर की मिट्टी कुछ धुल गयी। उसी की भाषा में तलवार पर कुछ लिखा था। वह पढ़ने लगा। पढ़कर उस तलवार को छाती से लगाकर वह उच्च स्वर से बच्चे की तरह रोने लगा। एक दिन उसके हाथ से इस तलवार ने संसार पर विजय प्राप्त की थी!"

भीष्म में जैसे महाभारत की सम्पूर्ण कथा संक्षेप में कह दी गयी है। ओज निराला की भाषा का विशेष गुण है। इस पुस्तक में उसका उत्कर्ष देखने को मिलता है। वे वीरता का वर्णन तो ओजपूर्ण भाषा में करते ही हैं, उनके सौन्दर्य-वर्णन में भी एक ओजस्विता होती है। "(महाराज शान्तनु) एक दिन शिकार खेलकर अपने तम्बू में लौट रहे थे कि स्वच्छसलिला भागीरथी के तट पर स्वर्गीय सौन्दर्य पर इतराती हुई, नवयौवना, परम रूपवती एक सुकुमारी षोडशी को देख चकित हो गये। स्त्री क्या थी चाँदनी की मूर्ति थी। अंग-अंग से लावण्य की सुकुमार धारा बह रही थी...।" ओज के साथ करुणा का यह मिश्रण द्रष्टव्य है: "महर्षियों की आज्ञा सुनकर लोहित-कलेवर महावीर जाह्नवीनन्दन ने प्रतिरोध करना बन्द कर दिया। धनुष रखकर प्रलय की महालीला देखने लगे। उस समय

दुःशासन उनके पास था। उन्होंने कहा—'देखो दुःशासन, वज्र की तरह यह अविराम शरधारा कभी शिखण्डी के शरासन से न निकलती होगी, कवच को भेद करनेवाले ये तीक्ष्ण तीर कभी शिखण्डी के छोड़े हुए न होंगे, जिन वाणों से मेरा शरीर जर्जर हुआ जा रहा है, ये कभी शिखण्डी के वाण नहीं हो सकते। निश्चय ही इन तीरों का मारनेवाला अर्जुन है। एक अर्जुन को छोड़कर संसार में दूसरे किसी मनुष्य में यह बल नहीं है, कि वह मेरा कवच भेद कर सके।' महावीर भीष्म की देह में कहीं तिल रखने की जगह भी न रह गयी थी। अंग-अंग में वाण आर-पार हो गये थे। सूर्यास्त से कुछ पहले, अटल ब्रह्मचारी महाधनुर्धर भीष्म पितामह रथ से गिर गये। कौरवों में हा-हाकार मच गया। महावीर भीष्म ने गिरकर भी मृत्तिका-स्पर्श नहीं किया। जिन अगणित तीरों से उनकी तपश्चर्यानिरत पवित्र देह क्षत-विक्षत हो रही थी, उन्हीं के सहारे शरों की सेज पर लेटे हुए से रह गये।"

महाराणा प्रताप पौराणिक आख्यान न होकर ऐतिहासिक आख्यान है। यह आकार में सबसे बड़ा है। इसके नायक भारतीय इतिहास के मध्यकाल के प्रसिद्ध क्षत्रिय वीर महाराणा प्रताप हैं। पूरी कथा ओजपूर्ण है। शक्तिसिंह के अन्तर्द्वन्द्व और पृथ्वीराज की पत्नी की चारित्रिक दृढ़ता के वर्णन से उसमें गहराई आयी है। युद्ध के साथ अन्य घटनाओं और मानव-मन की गतियों का वर्णन भी निराला अत्यन्त सशक्त रूप में करते हैं। सप्तम परिच्छेद में शक्तिसिंह के अन्तर्द्वन्द्व का बहुत ही सटीक वर्णन हुआ है। इसी तरह द्वादश परिच्छेद में पृथ्वीराज की पत्नी से अकबर के एक घुप्प अँधेरे कक्ष में मिलने का वर्णन अत्यन्त प्रभावशाली है: "सुन्दरी को उसके ताऊ वीरवर महाराणा प्रतापसिंह की याद आयी। उसने सुना था कि हल्दीघाटी के अगणित शत्रुओं के अन्दर घिरकर भी वे नहीं घबराये। धैर्य के साथ, अपरिमित विक्रम से शत्रुओं का संहार करते गये। मैं उन्हीं की भतीजी हूँ, उनके सगे भाई की लड़की, यदि वे अगणित शत्रुओं में अपने धर्म, देश और जाति की मर्यादा की रक्षा कर सकते हैं, तो क्या मैं यहाँ अपने धर्म और सम्मानकी रक्षा न कर सकूँगी? इतना विचार पैदा होने के साथ ही मानो अनेक हाथियों का बल उसके भीतर आ गया। कड़ककर उसने कहा, 'तू कौन है मुझे छेड़नेवाला? क्या तू राजपूतों की स्त्रियों को नहीं पहचानता?' एकाएक कमरे में सैकड़ों बत्तियाँ जल उठीं और सुन्दरी ने देखा, उसके सामने दीन भाव से भारतेश्वर दिल्लीपति अकबरशाह उससे प्रेम की भिक्षा-प्रार्थना कर रहे हैं।"

निराला ने ये चारों पुस्तकें स्वाधीनता-आन्दोलन के दौर में रचीं और उनके द्वारा हिन्दीप्रदेश के बच्चों को चारित्रिक दृढ़ता, वीरता और स्वातन्त्र्य-प्रेम की शिक्षा दी। ध्रुव और प्रह्लाद दोनों ऐसे बाल-चरित्र हैं, जो राजशक्ति से टकराते हैं। भीष्म का प्रतिज्ञा-निर्वाह और वीरता अनुपम है। महाराणा प्रताप "वन-वन स्वतन्त्रता-दीप लिये फिरनेवाले बलवान" हैं। उनके चरित्र को इस्लाम-विरोधी रूप में न देखकर स्वतन्त्रता के लिए प्राणपन से संघर्ष करनेवाले योद्धा के रूप में देखना चाहिए। निराला धार्मिक उदारता के पक्षपाती थे, इसलिए स्वभावतः उनमें इस्लाम के प्रति द्वेष न था। **महाराणा प्रताप** नामक पुस्तक निश्चय ही

72798

उन्होंने कोमलमति बालकों और साधारण पाठकों को इस्लाम-विरोध की शिक्षा देने के लिए नहीं लिखी। **भक्त ध्रुव** की भूमिका में उन्होंने स्पष्ट लिखा है : "इस धर्मनिष्ठ और कर्त्तव्यपरायण बालक के चरित्र का चित्रण हमने यथासाध्य सरल भाषा में करने का प्रयत्न किया है। साथ ही, ईश्वर-प्राप्ति विषयक गूढ़ रहस्यों का उद्घाटन भी कर दिया गया है, ताकि धर्म के मार्ग से घातक कट्टरता का इस देश में लोप हो जाय, बच्चे हर प्रान्त और हर जाति के बालकों से सहानुभूति रखना सीखें।"

भक्त ध्रुव, भक्त प्रह्लाद, भीष्म और **महाराणा प्रताप** ये निराला द्वारा लिखी गयी कलात्मक जीवनियाँ हैं, जिनमें उपन्यास के तत्त्व घुल-मिल गये हैं। उन्होंने पुराणों या इतिहास से तथ्य बटोरकर अपने नायकों का जीवन-चरित नहीं प्रस्तुत कर दिया है, बल्कि कल्पना का भरपूर उपयोग करते हुए उनकी पुनर्रचना की है। ऊपर संकेत किया जा चुका है कि निराला की यही क्षमता बाद में उनके उपन्यासों में प्रस्फुटित हुई।

प्रस्तुत खण्ड में संकलित निराला की पाँचवीं पुस्तक है—**सीखभरी कहानियाँ**।

15 मार्च, 1943 को इलाहाबाद से निराला ने डॉ. शर्मा को एक पत्र में लिखा था : "एसप के फेबल हिन्दी में लिख रहा हूँ।" [**साहित्य-साधना** (3)] पुस्तक पूरी कर अनेक वर्षों तक वे उसकी पाण्डुलिपि सँभालकर रखे रहे। छठे दशक में वह पाण्डुलिपि उन्होंने प्रकाशनार्थ श्री रामेश्वरप्रसाद मेहरोत्रा को दी, जिन्होंने उनकी मृत्यु के बाद 1969 ई. में अपनी प्रकाशन-संस्था अभिनव भारती, 42, सम्मेलन मार्ग, इलाहाबाद-3 से उसका प्रकाशन किया। **सीखभरी कहानियाँ** वही पुस्तक है।

ईसप ग्रीसनिवासी थे। उनका काल ई. पू. छठी शताब्दी है। वे सम्भवत: दास थे, जिन्हें उनके स्वामी ने बाद में मुक्त कर दिया था। उनके सम्बन्ध में यह भी कहा जाता है कि वे विकलांग थे, लेकिन अत्यन्त तीक्ष्णबुद्धि और वाग्विदग्ध। उनकी मृत्यु बहुत ही त्रासद ढंग से हुई। डेल्फी निवासियों ने उन्हें एक चट्टान पर पटककर मार डाला।

ईसप ने अपनी नीतिकथाएँ लिखी नहीं। वे उन्हें लोगों को सुना देते थे, जो उन्हें याद कर लेते थे। उनकी मृत्यु के करीब दो सौ वर्षों बाद उनकी सारी नीति-कथाएँ संकलित की गयीं और उनका प्रकाशन हुआ। अंग्रेजी में तो वे पन्द्रहवीं शताब्दी में अनूदित हुईं। तब से सारे विश्व में उनका प्रचार-प्रसार होता रहा है। जैसा कि हम जानते हैं, ईसप की कथाएँ आकार में छोटी होती हैं और उनमें किसी ऐसी घटना का वर्णन होता है, जिससे जीवन में बुद्धिमत्तापूर्ण आचरण की शिक्षा मिलती है। इन कथाओं में चरित्र प्राय: जानवर होते हैं, जो अपनी प्रकृतिगत विशेषता को सुरक्षित रखते हुए भी मनुष्य की तरह बोलते और उसके गुणों और दुर्गुणों से युक्त होते हैं। ये कथाएँ बच्चों को शिक्षा देने की दृष्टि से बहुत उपयोगी हैं, लेकिन प्राचीन-काल में इन्हें बाल-साहित्य नहीं माना जाता था। इनकी रचना प्रौढ़ों के लिए की गयी थी, व्यंग्य के रूप में, जिनका प्राय: राजनीतिक उपयोग

किया जाता था।

ईसप की कथाओं के जो आधुनिक संस्करण उपलब्ध हैं, उनमें हम प्रायः वैसी कथाएँ पाते हैं, जैसी **पंचतन्त्र** में मिलती हैं। **पंचतन्त्र** की कुछ कथाएँ मध्य-काल में यूरोपीय भाषाओं में अनूदित हुई थीं। आज यह कहना कठिन है कि ग्रीस की नीतिकथाओं पर **पंचतन्त्र** का प्रभाव कब पड़ा, बिलकुल शुरू में ही, या बाद में।

ईसप की नीतिकथाएँ निराला को आकर्षित करें, यह बिलकुल स्वाभाविक है। वे विभिन्न प्रकार के व्यक्तियों के सम्पर्क में आये थे, जीवन का बहुत ही कटु अनुभव प्राप्त किया था और उनकी व्यंग्य-वृत्ति बहुत ही प्रबल थी। इन सबों ने अपनी साहित्य-साधना के एक दौर में उन्हें ईसप की कथाओं को हिन्दी में लिखने के लिए प्रेरित किया। उनका यह कार्य बाल-साहित्य की रचना के प्रति उनकी स्वाभाविक प्रवृत्ति की भी सूचना देता है। **सीखभरी कहानियाँ** की पाण्डुलिपि प्रकाशक को सौंपते हुए उन्होंने कहा था : "मैं कितना बड़ा साहित्यकार क्यों न माना जाऊँ पर मेरी लेखनी तभी सार्थक होगी जब इस देश के बाल-गोपाल मेरी कोई कृति पढ़कर आनन्द-विभोर होंगे। इन कथाओं को सुनाने का केवल ढंग मेरा है, बाकी सबकुछ हमारे पूर्वजों का है। नन्हे-मुन्ने इन कहानियों में जितना अधिक रस पायेंगे, उतनी ही मेरी कहानीगोई की सफलता होगी।" (प्रकाशकीय भूमिका)

निराला ने कहानियों से नये और महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष निकाले हैं, घिसे-पिटे नहीं। उदाहरण के लिए 'कुत्ता और परछाईं' शीर्षक कहानी में जो उन्होंने यह कहा है कि "चीजें जैसी दिखती हैं, बहुत समय वैसी ही नहीं होतीं", यह एक नयी बात है, जो ईसप की नीतिकथा में नहीं। निराला का कहानी कहने का ढंग बहुत ही सजीव और लुभावना है। संवाद अत्यन्त सटीक और वर्णन अत्यन्त सरस हैं। भाषा में जो निखार है, वह देखते ही बनता है। लगता है, वे मूलतः बाल-साहित्य के ही लेखक थे। प्रौढ़ भी उनकी भाषा का मजा ले सकते हैं, जो सर्वत्र एक विलक्षण कवित्व से युक्त और अत्यन्त मुहावरेदार है। इस तरह निराला ने ईसप की इन कथाओं को भी केवल हिन्दी में रूपान्तरित नहीं किया, बल्कि उन्हें फिर से रचा है।

नन्दकिशोर नवल

रानीघाट लेन, महेन्द्रू,
पटना-800006,
8 नवम्बर, 1982

अनुक्रम

भक्त ध्रुव	17
भक्त प्रह्लाद	69
भीष्म	131
महाराणा प्रताप	193
सीखभरी कहानियाँ	291

भक्त ध्रुव

भूमिका

किसी देश को उन्नति के शिखर पर फिर से संस्थापित करने का सबसे उत्तम उपाय यही है कि उसके बालकों की सार्वभौमिक शिक्षा की ओर ध्यान दिया जाय। उनके सामने देश के आदर्श-बालकों के चरित्र रक्खे जायँ। इस तरह उनकी शारीरिक दशा का सुधार तो होगा ही, साथ ही उनकी मानसिक और नैतिक उन्नति भी हो सकेगी और निकट भविष्य में वे देश के मुखोज्ज्वलकारी रत्न हो सकेंगे। ध्रुव-चरित्र बालकों के लिए सर्वथा अनुकरणीय है। उनके चरित्र के पाठ से बालकों में धर्म-भाव, शुद्धता और सजीवता के आने के साथ ही साथ, उनमें एक प्रकार की वह कर्मनिष्ठा और एकाग्रता आयेगी, जिसके प्रभाव से वे सफलता की मंजिल पूरी करके ही दम लेंगे। ध्रुव के महान् चरित्र की कथा प्रत्येक बालक-बालिकाओं को पढ़ानी चाहिए। इस धर्मनिष्ठ और कर्तव्य-परायण बालक के चरित्र का चित्रण हमने यथासाध्य सरल भाषा में करने का प्रयत्न किया है। साथ ही, ईश्वर-प्राप्ति विषयक गूढ़ रहस्यों का उद्घाटन भी कर दिया गया है, ताकि धर्म के मार्ग से घातक कट्टरता का इस देश में लोप हो जाय, बच्चे हर प्रान्त और हर जाति के बालकों से सहानुभूति रखना सीखें। इतिः।

5.8.26 सूर्यकान्त त्रिपाठी

R
72798

प्रथम परिच्छेद

पूर्वाभास

भारत के इतिहास में मनु परम प्रसिद्ध हैं, उन्होंने बड़ी कठोर तपस्या की थी। अपने कठोर तप के प्रताप से मनु मनुष्यों के पिता के आसन पर प्रतिष्ठित हैं। श्रुतिमार्ग को धर्मसम्मत रखने का इन्हें ही अधिकार दिया गया है। महाप्रलय में भी इनका नाश नहीं हुआ। मनुष्यों के बीज-रूप से, उनकी पुन: सृष्टि करने के लिए वे बच रहे थे। तपःप्रभाव से इनका शरीर पुष्ट, गठन सुन्दर और रंग गोरा था, ये पराक्रमी भी बड़े थे। वीर्यवान् और जितेन्द्रिय थे। संसार में मनुष्य जाति के प्रथम और मुख्य आदर्श यही कहलाते हैं।

मनुष्य-सृष्टि के पहले, महाप्रलय के द्वारा संसार का नाश हो जाता है। नाश के कारण ये हैं, मनुष्यों में मिथ्याचार की मात्रा बढ़ जाती है। व्रत-विधान, यज्ञदान, जप-तप सब नष्ट-भ्रष्ट हो जाते हैं। ब्राह्मणों में नीचता आ जाती है। शूद्रों में धर्म का भाव बढ़कर अन्त में महा अनर्थकारी दम्भ का रूप धारण कर लेता है। क्षत्रिय अपने वीर-कर्म से रहित और पतित होकर हत्याएँ करने लगते हैं। वैश्य नीच उपायों से धन-संग्रह करना अपना परम धर्म समझते हैं। राजा स्वेच्छाचार ग्रस्त हो जाता है। वर्णाश्रम धर्म का निशान भी संसार में नहीं रह जाता। चारों ओर अपनी डफली और अपना रागवाली कहावत चरितार्थ होती है। धर्म से च्युत होने के कारण लोग अल्पायु होते हैं, उनमें असत्य भाषण, दूसरों को ठगकर अपनी जिन्दगी बसर करना, इस तरह के सैकड़ों दुराचार समा जाते हैं। बाल-विवाह और वृद्ध-विवाह की प्रथा प्रचलित हो जाती है। आठ-आठ और दस-दस वर्ष की बालिकाओं के सन्तान पैदा होने लगती है। सृष्टि में चारों ओर पाप की पताका फहराने लगती है। कलिकाल के उस अन्त समय में उसका नाश हो जाता है। पहले अनावृष्टि होती है। कई साल तक लगातार पानी न बरसने के कारण हरे-हरे पेड़-पौधे जलकर राख हो जाते हैं। अन्न नहीं पैदा होता। जीव-जन्तु भूखों मरने लगते हैं। फिर सूर्य भगवान् भी उग्र-रूप धारण कर लेते हैं। नदियों और तालाबों का पानी सूख जाता है। जल-जन्तु भी तड़फ-तड़फकर मौत के शिकार होते हैं। जब संसार का इस तरह, आधे से अधिक नाश हो जाता है, तब ईश्वर की इच्छा से बड़े काले-काले बादल आसमान को घेरकर प्रलय की वर्षा

आरम्भ कर देते हैं। इतना अधिक जल होता है कि समुद्र का पानी उमड़कर जमीन के ऊपर आ जाता है। सब देश और गाँव बह जाते हैं। बड़े-बड़े पहाड़ों की चोटियाँ भी पानी के अन्दर हो जाती हैं। तब सम्पूर्ण सृष्टि विनाश को प्राप्त होती है।

जिस परमात्मा की इच्छा से संसार में प्रलय होता है, उसी की इच्छा से फिर से सृष्टि उत्पन्न होती है। नाश और सृष्टि की लीला देखते रहना ही मानो सच्चिदानन्द भगवान् की यथार्थ इच्छा है।—इस बार महाप्रलय के बाद सृष्टि का क्रम फिर से शुरू हो गया था। जल-स्थल, जल-जीवों और स्थल-जन्तुओं की सृष्टि हो चुकी थी। शस्यश्यामला भूमि पर कुसुमित लताओं और गुंथों से वसन्त की वायु बहने लगी थी। जलाशयों में लहरों के साथ कमल का कौतुक होने लगा था। संसार के हृदय पर सजीवता विहार कर रही थी। यह स्वर्ण-युग था, सृष्टि की शोभा का पहला शृङ्गार। इस समय हिमालय के नीचे समतल गङ्गा और यमुना की तट-भूमि पर मनुष्यों की उत्पत्ति हुई।

सृष्टि की प्रथम छटा बड़ी विचित्र थी। वह शोभा आज तक विचारवान् मनुष्यों की आदर्श-मूर्ति हो रही है। उसी राज्य में बसने के लिए लोग लालायित हो रहे हैं। अस्तु—मनु एक सभ्य जनसमुदाय के पालक थे। उनकी राजधानी बड़ी सुहावनी और अजीब-सी थी। उसमें आडम्बर न था। परन्तु उसकी वह उतनी ही श्री, औचित्य के आसन पर समासीन हो रही थी। सारांश यह कि चारुता हद दर्जे को पहुँची हुई थी। जिस गढ़ के अन्दर महाराज मनु रहते थे, उसके चारों ओर गहरी खाई खुदी थी। सदा वहाँ अथाह पानी भरा रहता था। गढ़ में घुसने के लिए बड़े-बड़े आठ फाटक थे। सब फाटकों से राजा के महल तक सीधा रास्ता गया हुआ था। रास्ते के दोनों ओर सुगन्धित फूलों के पेड़ लगे हुए थे। पेड़ों में भाँति-भाँति की लताएँ लिपटायी गयी थीं। जगह-जगह पर कुएँ और तालाब थे। हर फाटक पर एक-एक साथ कई सन्तरियों का पहरा रहता था। पुरी सब प्रकार से सुरक्षित थी। आदि-युग के मनुष्य भी बड़े बलवान और डील-डौल के बड़े हृष्ट-पुष्ट होते थे।

सुराज्य था, इसलिए मनुष्यों में एक-दूसरे से प्रेम का वर्ताव था। ईर्ष्या की बेलि उस समय भारत-वसुन्धरा की छाती पर लहराने न पायी थी, न इससे किसी को क्षतिग्रस्त ही होना पड़ता था। सब लोग प्रसन्न रहते थे, सब लोग सम्पन्न थे। अभाव का अनुभव कभी किसी को स्वप्न में भी न होता था। राज्य की शृङ्खला में किसी प्रकार की शिथिलता न थी। सबके लिए राज्य का प्रबन्ध सुखकर था और वह प्रजा के स्वत्वों पर ध्यान रखकर किया गया था। उसके अनुसार कार्य करने और उसी के अनुसार चलने की प्रजा की हार्दिक अभिलाषा थी। सदाचार, स्पष्टवादिता, निरहंकारिता, मधुर आलाप, मितव्ययिता, व्यायाम, हास्य-प्रमोद आदि के लिए लोगों को उपदेश दिये जाते और उन्हीं के अनुसार उनसे काम भी लिया जाता था। प्रजा से लिया गया कर प्रजा के हित के लिए ही खर्च होता था।

धर्मनिष्ठ ब्राह्मणों को राज्य की ओर से काफी सहायता मिलती थी। वे निश्चिन्त होकर तीनों वर्णों के बालकों को उचित शिक्षाएँ देते और ब्रह्मचर्य के नियमों का पालन कराते थे। कभी किसी की सन्तान को बाल्यकाल में ही काल का ग्रास होते नहीं देखा गया। विवाह शास्त्रीय रीति से हुआ करता था। कभी बाल-विवाह या वृद्ध-विवाह नहीं होता था। उस समय अबकी तरह बाल-विवाह की व्यर्थ प्रशंसा भारतवर्ष में न होती थी। आदि-सृष्टि में मनुष्य हर तरह से सुख और शान्ति-पूर्वक अपना जीवन व्यतीत करते थे।

महाराज मनु केवल तपस्वी ही न थे, वे बड़े नीतिज्ञ और मनुष्य-चरित्र के ज्ञाता थे। उन्हें ज्ञान-विज्ञान, राजनीति और धर्मनीति, समाज और शासन, सब विषयों का पूर्ण ज्ञान था। किस तरह से राज्य की परिस्थिति में सुधार करना राजा के लिए आदर्श कार्य कहलाता है, किस तरह की रीतियों का अनुसरण किया जाय, तो प्रजा में पारस्परिक प्रेम-भाव दृढ़ होता है, किन विधानों की रचना हो तो प्रजा आदर्श-भ्रष्ट नहीं होती, किस मार्ग पर रहना मनुष्य जाति के लिए सबसे बड़ा धर्म है, संसार में किस उपाय से थोड़े समय में काफी ज्ञान संचय हो सकता है, बालकों की तन्दुरुस्ती के लिए गुरुकुलों में किस-किस तरह की व्यायाम-प्रणालियों का प्रचलन किया जाय, इस तरह की आवश्यक सैकड़ों बातों पर विचार होता था और निर्णय हो चुकने पर उस विषय पर अमल किया जाता था।

महाराज मनु की देह भी बड़ी ही सुसंगठित थी। तपे हुए सोने का-सा गोरा रंग, काले और चमकीले बाल, ललाट प्रशस्त और तेजोव्यंजक---शुकतुण्डसी नासिका, बड़ी-बड़ी रतनार आँखें, स्फूर्ति और कान्ति से चमकती हुई शेर की-सी गर्दन, आजानुलम्बित बाँहें, हाथी की सूंड़-सी भरी हुई छाती गज-भर की चौड़ी और ऊँची, कमर-पेटी का सारा मांस, जैसे खिंचकर ऊपर सीने में चला गया हो, केले के खम्भों की-सी जाँघें। महाराज की देह देखकर बड़े-बड़े पहलवान उनकी तारीफ किया करते थे कि ऐसा जवान हमने और कहीं नहीं देखा। उनका लोगों के प्रति व्यवहार भी बड़ा मधुर और सरल होता था।

महाराज मनु के दो पुत्र हुए, प्रियव्रत और उत्तानपाद। पिता की तरह उत्तानपाद भी बड़े तेजस्वी और पराक्रमी हुए। इनमें क्षत्रियत्व का प्रकाश ज्यादा था। लड़ना-भिड़ना, डण्ड-बैठक करना, तीर चलाना, शिकार खेलना, इन विषयों पर खासतौर से उन्हें प्रेम था। ये घोड़े की सवारी बहुत पसन्द करते थे। सौन्दर्य और सुकुमारता में ये पिता से भी बढ़कर थे। बाल्यकाल में सम्पूर्ण शिक्षा प्राप्त कर यौवन की तरुणता में पदार्पण करते ही उत्तानपाद की प्रतिभा बहुत चमकी। प्रजाजनों में इनकी बड़ी तारीफ होने लगी। जिस तरह प्राचीन वृक्ष के रहते हुए भी, नवीन पल्लवोंवाले पौधे के नीचे बैठकर ही बागवान को सन्तोष अधिक होता है, उसी तरह उत्तानपाद की छाया में रहकर प्रजाजन महाराज मनु को भूलने-से लगे थे। मनु को भी पुत्र की सर्वप्रियता पर परम सन्तोष हुआ। वे भी यही चाहते थे। उत्तानपाद को राज्यकार्य की शिक्षा में अपने रहते हुए ही पारदर्शी कर देने के

लिए उन्होंने युवराज के पद पर अभिषिक्त कर दिया। राज्य की परिचालना में पिता को उत्तानपाद ने अपनी काफी योग्यता का परिचय दिया। मनु को भरोसा हो गया कि पुत्र की शक्ति में सन्देह करने की कोई जगह नहीं है। अब भविष्य के लिए प्रजा और राज्य निष्कण्टक हो गये। महाराज मनु को अपनी अनुपस्थिति से प्रजा के दुःखों की जो शंका हो रही थी, वह जाती रही। वे निश्चिन्त होकर ईश-भजन करने लगे। धीरे-धीरे राज्य के तथा पुत्र के साथ और अपनी प्यारी प्रजा के साथ ी उन्होंने चिरकाल के लिए सम्बन्ध परित्याग कर दिया। अपना सम्पूर्ण समय ईश्वरोपासना में बिताने की लालसा से राजधानी छोड़कर वे अगम अरण्य के अधिवासी हो गये।

पिता के वाणप्रस्थ ग्रहण कर लेने पर पहले-पहल उत्तानपाद को असुविधा-सी हुई। बहुत दिनों तक तो उनका चित्त पिता के लिए उदास रहा करता था। इसके पश्चात् एकाएक सिर पर राज्य का तमाम भार आ जाने के कारण जी ऊबने और घबराने लगा था। परन्तु धीरे-धीरे ये अड़चनें टल गयीं। अभ्यास हो गया। पिता का वियोग भी विस्मरण के अथाह सागर में डूबकर चिरकालिक श्रद्धा के रूप में स्थित हो गया। प्रजा-रञ्जन के उत्तरदायित्व को वे समझते थे। इसलिए चिन्ताग्रस्त रहते हुए भी उन्हें प्रजा की भलाई के लिए हरएक प्रबन्ध पर देखभाल करनी पड़ती थी। किसी तरह उन्हें मन्त्रियों के मण्डल से मुक्ति नहीं मिलती थी। रोज एक-न-एक आवश्यकता उनके पीछे पड़ी ही रहती थी। यौवन का उत्साह था, हृदय में धर्म की रुचि भी थी, अपना कर्तव्य भी वे समझते थे। इसलिए वे कार्य में कभी शिथिलता नहीं आने देते थे।

उनमें व्यसन कुछ न था। शिकार खेलने के सिवा दिल-बहलाव के लिए क्षत्रियोचित कर्म की पुष्टि करनेवाला कोई और साधन उनके पास न था। नृत्य-गीत आदि राजाओं-महाराजाओं के अपरिहार्य व्यसनों में उनकी रुचि न थी। मनोरंजन जो कुछ उनके पास था, वह उनकी सती पत्नी रानी सुनीति देवी थीं। उन्हें वे बहुत प्यार करते थे। उन्हें प्यार करने के उनमें गुण भी यथेष्ट थे। उनका स्वभाव जैसा मधुर था, रूप भी उनका वैसा ही सराहनीय था। अंग-अंग से मानो चाँदनी बरस रही थी। मुख पर मुस्कराहट बनी रहती थी। उसमें पति के प्रति उनका प्रेम, उनकी श्रद्धा और अटल विश्वास की रेखा अंकित हो जाती थी। उस समय तरुणता की वे प्रथम अभिनेत्री हो रही थीं। तात्पर्य यह कि उनकी रूप-सुधा का अगाध समुद्र उत्ताल तरंगें ले रहा था, परन्तु सुनीति के भोलेपन को इसकी खबर न थी. उनकी शिशुता की चपलता बहुत दिन पहले ही उन्हें छोड़कर विदा हो गयी थी, परन्तु इन्हें इसका ज्ञान न था। एक स्वर्गीय स्थैर्य उन पर धीरे-धीरे अधिकार फैला रहा था, परन्तु उन्हें इसका कुछ भी आभास नहीं मिला। वे अपने जीवन की नदी में निराधार बहती हुई केवल अपने पति की बाँह को पकड़े हुए थीं। यह इतनी ही उनके ज्ञान की सीमा थी, इतनी ही उन्हें खबर थी। अपने सौन्दर्य की अक्षय विभूति पर उनका मन न रमता था, रमे भी कैसे, वह जानता न था कि

उसके अन्दर इतनी शोभा छिपी हुई है। ज्ञान, ध्यान, चिन्ता, प्रेम, स्पर्श, स्वर्त्न सबकुछ उनके लिए पति हो रहे थे।

रानी की भावना पर महाराज उत्तानपाद भी मुग्ध थे। सम्पूर्ण श्रम रानी की प्यार-भरी उमड़ती हुई दोनों आँखों को देखते ही मिट जाता था। उन आँखों से जो अमृत महाराज के चिन्ताक्लिष्ट हृदय पर निकलकर झरता था, उससे उनकी सारी ज्वाला शीतल हो जाती थी। उस अमृत का पान, उनके हृदय से इन्द्र-पद की प्राप्ति की आशा भी हटा लेता था, वे अपने उसी सुख पर तृप्त रहते थे। लालसा की लगाम ढीली तो थी, पर मन की चंचलता मर गयी थी। हृदय में वैराग्य की आग तो नहीं जलती थी, पर रानी के दुर्ग में दूसरी वासना का प्रवेश न हो पाता था। महाराज उत्तानपाद की सम्पूर्ण आशाएँ, सारी वृत्तियाँ, तरङ्गों की तरह, उस एक ही समुद्र में समा रही थीं। वहाँ से चित्त को हटाते हुए उन्हें कष्ट होता था। प्रवाह को फेरने की शक्ति उनमें न थी, स्वभावतः उनका एकाग्र प्रेम रानी के प्रेम-पयोधि की परिधि में गिर रहा था। रेणुओं की तरह अगणित वासनाएँ उस एक फूल के अन्दर समा रही थीं। महाराज को उस एक ही वीणा से अगणित राग-रागिनियाँ सुनायी दे रही थीं।

तरुणता का प्रथम-परिचय समाप्त हो गया। यौवन की सजी फुलवाड़ी में स्वच्छन्द विहार होने लगा। इस उद्यान में यौवन का पार्ट दोनों बड़ी खूबी से अदा कर रहे थे। वही दोनों अभिनेता भी थे और श्रोता भी। कई पर्द उठे और गिरे। दीर्घकाल तक यह अभिनय होता रहा। समाप्ति तक मानो कोई नहीं पहुँचना चाहता, न अधूरा खेल छोड़ने की किसी की इच्छा ही थी। फिर भी दोनों के अज्ञात भाव ने दोनों को उस अवस्था पर लाकर खड़ा कर दिया, जहाँ से एक बार मनुष्य अपने अतीत और भविष्य जीवन पर ज़रा देर के लिए दृष्टिपात करता है। महाराज ने भी अपना अतीत जीवन देखा, उसकी समालोचना की, फिर भविष्य की ओर देखा तो कुछ शङ्कित हो गये, कुछ चिन्ता-सी हुई। वह चिन्ता उनके मन में स्थायी हो गयी। जब-तब उन्हें अन्यमनस्क कर देने लगी। वे एक दूर भविष्य को देखकर उदास हो जाते, चेहरा गिर जाता, प्रेम की भरी हुई प्याली एक ओर रक्खी रहती, चित्त की चाह हट जाती। रानी को पहले इसकी विशेष फिक्र न होती थी, परन्तु महाराज की उदासीनता का कारण वे एकान्त में मन-ही-मन तलाश करने लगीं, तो उन्हें अपनी आत्मा में ही उसका बीज मिल गया। परन्तु पहले-पहल उन्होंने अपने भाव को पति से छिपाया। पति की आकांक्षा पूरी करने की चेष्टा की, परन्तु एक दूसरे उपाय से, शायद यह स्त्री जाति की स्वाभाविक प्रवृत्ति है।

एक दिन सन्ध्या से कुछ पहले महाराज उत्तानपाद अपनी प्रेयसी रानी सुनीति देवी को साथ लेकर जनाना-बाग में टहल रहे थे। धीमी मधुर वायु बह रही थी। डालियाँ डोलती हुई सखियों की तरह बड़ी श्रद्धा से दोनों प्रेमियों का स्वागत कर रही थीं। चिड़ियाँ पेड़ पर से स्वागत की रागिनी अलाप रही थीं।

पलास के पल्लव तालियाँ दे रहे थे। हेमन्त की स्वर्ण-सन्ध्या भी आकर मिलने के लिए उतावली हो रही थी। सूर्य-किरणों की बची हुई प्रखरता, गुलाबी जाड़े में बड़ी कोमल मालूम पड़ रही थी। बड़े स्नेह से दोनों के मुख पर चिर-परिचय की चारुता अधिक से अधिकतर खिलती जा रही थी। महाराज रानी के साथ वार्त्ता-लाप करते हुए भी कुछ चिन्तित से हो रहे थे। उसी समय प्यार से पति का हाथ अपने हाथ में ले रानी ने कहा, "महाराज, मुझे एक अभिलाषा हो रही है। तुम्हारी आज्ञा हो तो तुम्हें सुना दूँ।"

उसी तरह चिन्तामग्न से हुए महाराज उत्तानपाद ने कहा, "अभिलाषा का होना विचित्र क्या है? नयी-नयी वासनाएँ तो आया ही करती हैं। कहो, मैं यथा-शक्ति तुम्हारी अभिलाषा अवश्य पूरी करूँगा।"

रानी, "महाराज, आप उदास रहा करते हैं। मैं आज कई दिनों से देख रही हूँ, आपकी यह उदासी दिनोंदिन बढ़ती ही जा रही है। मेरी इच्छा है कि आप एक दूसरा विवाह कर लें। मेरा मन कह रहा है कि आप विवाह करेंगे, तो आपकी चिन्ताएँ अवश्य मिट जायँगी।"

राजा, "नहीं तो—मैं विवाह के लिए तो कभी भी उदास नहीं रहा करता। मेरी उदासी की दवा विवाह है, यह भी तुमने खूब कहा! परन्तु मैं एक बात कहूँगा, तुम्हें धक्का लगेगा, तुम्हें चोट आयेगी।"

रानी, "नहीं, मैं सच कहती हूँ, तुम्हें एतबार न होगा, मुझे बिलकुल धक्का न लगेगा। मैं सुखी हूँगी। सच कहती हूँ, मैं सुखी ही हूँगी। तुम्हें अगर उससे सुख होगा, तो मुझे बिलकुल दुःख नहीं। क्या बात है वह?"

उत्तानपाद कुछ देर मौन रह गये। कहा, "अच्छा, मैं दूसरा विवाह कर लूँगा तो क्या तुम्हें कष्ट न होगा?"

रानी चुपचाप जमीन ताकने लगीं।

राजा, "चुप हो रही? मेरी भी इच्छा नहीं है कि मैं दूसरा विवाह करूँ। मुझे विश्वास नहीं कि दूसरा विवाह करूँगा तो मेरा मनोरथ सफल होगा।"

रानी, "मुझे भी विश्वास नहीं कि दूसरा विवाह करके तुम मुझे भूल जाओगे। अगर तुम मुझे याद रक्खो तो बस, मैं और कुछ नहीं चाहती। तुम विश्वास करो, मुझे और कुछ नहीं चाहिए।"

राजा, "मैं जानता हूँ तुम क्यों मुझे विवाह करने के लिए इतना कह रही हो, परन्तु लड़का नहीं होता तो इस पर हमारा-तुम्हारा भला क्या बस है? ईश्वर की ऐसी ही इच्छा है, तो कोई क्या करे?"

रानी, "परन्तु अपनी-भर तो लोग करते ही हैं। सब बोझ ईश्वर पर ही लादा जायगा, तो कैसे काम चलेगा? देखो—मेरी भी बड़ी लालसा है कि बच्चे को गोद में लूँ, खिलाऊँ और उसके साथ खेलूँ। मेरी लालसा क्या तुम पूरी न करोगे?"

महाराज उत्तानपाद हँसते हुए रानी के साथ सन्ध्या हो जाने पर अपने महल को चले आये।

द्वितीय परिच्छेद

सुनीति का निर्वासन

रानी की इच्छा पूरी हुई। वासना की लहलहाती लता पर एक वार मधुर-वासन्ती वायु का झोंका लगा। ताप का दुःख मिट गया। एक वार फिर हरियाली की तरह पात-पात पर फैली हुई लहालोट होने लगी। भविष्य की आशा, तरह-तरह के रंगीन दिल को वहलाकर कुछ देर के लिए उलझा रखनेवाले चित्र, आँखों के सामने ला-लाकर मुग्ध करने लगे। उसी भावना में रानी अपने सुख की भावी इमारत की इच्छानुसार नींव डालने लगी। कितनी ही बातें एकसाथ बुलबुले की तरह उठने और एक दूसरी सुखकर उद्भावना के धक्के से फूटने लगीं। रानी का यह स्वप्न दूर न हुआ, जब तक आँखों के सामने से यह मोह का पर्दा हट नहीं गया।

रानी की इच्छा थी, दूसरे राजगद्दी के लिए महाराज भी चिन्तित रहा करते थे। पुत्र की कामना से विवाह करना निश्चय हो गया। महाराज के मन्त्रियों ने और सभासदों ने भी समझाया कि दूसरा विवाह कर लेना उनके लिए बहुत आवश्यक और धर्म में दाखिल है। दबाव बहुत ज्यादा पड़ा, महाराज के दिल में भी बात धँस गयी कि विवाह करना बहुत आवश्यक है।

फिर क्या था ? राजा के विवाह में न कभी देर हुई, न होती है। उधर महाराज उत्तानपाद कुल में, धन में, रूप-गुण में, सब तरह से लायक थे। बड़े-बड़े इज्जतदार उनसे अपनी लड़की को ब्याहने के लिए लालायित थे। लेकिन लड़की के लिए जितने लक्षण रानी ने गिनाये थे, उनमें से किसी-किसी की कमी हरएक में निकल आती थी। सबसे बड़ी बात तो यह थी कि लड़की सर्वाङ्गसुन्दर, रानी से अधिक रूपवती हो, यह आज्ञा खास तौर से रानी की ओर से दी गयी थी। बड़ी छान-बीन और खोज-तलाश के बाद एक लड़की मिली। देखुए लड़की को देखकर प्रसन्न हो गये। उसका मुख क्या था, खिला हुआ गुलाब का फूल था। लड़की का नाम सुरुचि था। विवाह हो गया।

शुभ लग्न में महाराज उत्तानपाद सुरुचि देवी का पाणिग्रहण कर उसे अपने रनवास में ले आये। महारानी सुनीति ने अपनी छोटी सौत का बड़ा आदर-स्वागत किया। उसकी बड़ी खातिरदारी करती रहीं। उसे तरह-तरह के वस्त्राभूषण, कभी-कभी अपने ही हाथों से फूलों का गजरा गूँथकर पहनातीं। उसे अपनी छोटी बहन से ज्यादा मानने लगीं। सुरुचि भी रानी के प्यार पर रीझ गयी। मायके का वियोग उसे बहुत जल्दी भूल गया। वह सुनीति के त्याग पर चकित हो गयी। उसके मायके में सौत से जिस तरह होशियार रहने के लिए सिखलाया गया था, यहाँ उसकी बिलकुल प्रतिकूलता देखकर उसके हृदय की कलुषित भावना तिरोहित हो गयी। द्वेष का भाव भरने के बदले सुनीति को वह भी प्यार करने लगी। कभी-

कभी महाराज से सुनीति की खातिरदारी और प्रीति की चर्चा भी चलाती थी। सुनीति की प्रशंसा महाराज भी किया करते और इस विवाह की जड़ में सुनीति की ही आज्ञा है, यह भी कभी-कभी खुले हृदय से कह डालते थे। सुरुचि को सुनीति पर सन्देह न था।

धीरे-धीरे काल व्यतीत होने लगा। महाराज उत्तानपाद की आँखें स्वर्गसुख का सुहावना स्वप्न देख रही थीं। अब के वे रूप-सरोवर पर एक दूसरे ढंग से तैर रहे थे। सुनीति के साथ जब तैरे थे, तब प्रतिद्वन्दिता न थी, प्रेम था,—जैसे दोनों एक अजानी इच्छा के वश तैर रहे हों—जैसे किसी खास कारण से न तैरते हों—मानो एक-दूसरे से कोई जोड़ नहीं है—तैरकर जैसे दोनों एक खिलवाड़ कर रहे हों। परन्तु अब के वह भाव न था। अब नसों में उत्तेजना थी। आँखों में मादकता थी। हृदय में विजय की बाजी मारने की प्रवृत्ति चक्कर काट रही थी। मस्तिष्क में स्पर्द्धापूर्वक हुनर दिखलाने की तजबीजें पैदा हो रही थीं। उस वार हाथ में अमृत का प्याला था, अब के तीखी शराब थी। उस वार आनन्द था, अब के था नशा। उस वार प्रेम था, अब के था—रूप का मोह!

लेकिन महाराज को इस भेद का ज्ञान नहीं रहा। उन्हें यह शराब अमृत से भी बढ़कर जान पड़ने लगी। यही नशा उन्हें जीवन का सबसे श्रेष्ठ सुख जँचने लगा। यह सत्य और वह भ्रम हो गया। इसी पर वे निछावर हो गये। इसे ही उन्होंने अपनाया। यही उनके मन्दिर की ध्यान-मूर्त्ति बन गयी। महाराज की बाढ़ का पानी अभी घटा नहीं था। वीर्य की विजय, तेज की तीव्रता, यौवन की माया आँखों से हटी नहीं थी, कमजोर पड़ने का कोई लक्षण भी न आया था। सब उन्हें पूर्ववत् ही जान पड़ता था। रूप, रस-रंग, यौवन सबकुछ पहले ही का-सा था। सिर्फ स्वभाव कुछ और हो गया था, जिसे वे समझ नहीं सके। न कोशिश की, न तुलना की, एकसाथ मन के सामने न कभी दोनों को रखकर देखा, न समझे। मन को मंजूर हुआ बस डूब गये, फिर उभरने की याद भी जाती रही। आनन्द मिला। भूल गये। इच्छा वहीं धँसी रही। फिर मौका नहीं मिला। क्या करते? लाचार थे। जिस चाँद के लिए कभी स्वप्न देखा था कि हाथ आया, वह सचमुच हाथ आया, इतना आनन्द हुआ। उस आनन्द में विवश हो अपने को बहा दिया। महाराज सुरुचि के हो गये। सुरुचि महाराज की। कौल-करार भूल गया—सुनीति का मुखड़ा जैसे एक धुँधला-सा कुछ हो गया। उस प्रवाह में भी कुछ दिन सुनीति का चेहरा नवीन सुरुचि के साथ बहता रहा।

समय बदला, भावना भी बदल गयी, साथ ही कार्य भी बदलने पर तोले जाने लगे। बात यह हुई कि सुरुचि के साथ उसके मैके से एक राक्षसी-दासी आयी थी, उसका स्वभाव कुटिल था। सुनीति इसकी आँख की किरकिरी थी। वह अपनी मालकिन की सौत का बड़प्पन एक क्षणभर भी न सह सकती थी। पहले-पहल जब आयी थी विरोध करने की हिम्मत न पड़ती थी। जी डरता था कि कहीं काम उल्टा न समझा जाय। धीरे-धीरे महाराज पर सुरुचि का प्रभाव देखा, ओट-झोट

से महाराज के कमजोर दिल पर सुरुचि के रूप का सिक्का जमा हुआ देखा तो एतबार हुआ, दिल में मजबूती आयी। अपना जाल बिछाने लगी। एक दिन सुरुचि को उसने बहुत डाँटा। भविष्य के लिए चेतावनी दी। दो-चार उदाहरण दिये। गोया सप्रमाण सिद्ध कर दिया कि अब ज्यादा दिनों तक अपनी खाला सौत के साथ रहोगी, तो समझ लो कि महल में बैठने की भी जगह न रहेगी। जमीन पहले ही से तैयार थी! सिर्फ कुछ दिनों के लिए पटाकर डाल रक्खी गयी थी। दासी ने मौका देख खूब जोतकर बीज वो दिया।

सुरुचि को विश्वास हो गया कि दासी का कहना बहुत ठीक है। बचपन से वह उसी दासी की गोद में पलकर बड़ी हुई थी, मन सदा के लिए उससे दब गया था। उसका अदब मानती थी। वह दासी भी थी और उसकी आचार्या भी। उसकी बात पर सन्देह करना सुरुचि ने कभी सीखा न था, उसे आदत ही न थी, न वह अब तक साथ रहकर भी अपनी दासी से सुनीति को किसी हद में बड़ी देख सकी थी। सुनीति को मानती थी, चाहती थी, यह सबकुछ तो था, पर अपनी दासी से ज्यादा अदब वह सुनीति का नहीं कर सकी थी, न इस पर वह उसका हक ही समझती थी।

सुरुचि की दासी को उसके गुणों के अनुसार हम कुटिला कह सकते हैं। पहले तो कुछ दिनों तक वह कुटिला सुरुचि के कान भरती रही। जब चेली तैयार हो गयी, तब गुरु-मन्त्र दिया जाने लगा। कभी-कभी उसकी दृढ़ता की परीक्षा भी ली जाने लगी। एक दिन कुटिला ने बहुत दूर की सुझायी, कहा कि फन्दा बनाकर मैंने तुम्हें दे दिया, अब दुश्मन के गले में डालना तुम्हारा काम है! खूब होशियार रहना। अपने वार पर चूक गयी, तो फिर सदा के लिए पछताना होगा। वार वह जो अचूक बैठे। तुम क्या जानो अभी कि सौतिया डाह किसे कहते हैं। तुम तो चुपचाप बैठी रहती हो और तुम्हारी सौत तुम्हें मिलाकर मारना चाहती है। मीठी-मीठी बातों पर न आओ, जहर इन्हीं बातों में रहता है। कहा भी तो है कि,—ठाढा तिलक औ मधुरी बानी, दगाबाज की यही निसानी।—सुनो, राजा अब तुम्हारी मुट्ठी में है। समय रहते ही अपना काँटा निकाल लो। कहो कि सुनीति कुराह पर चल रही है। वह व्यभिचार करती है। इसका बहुत जल्द प्रतिकार होना चाहिए। नहीं तो नाक कट जायेगी। तुम बारूद लगा दो, धड़ाका होगा ही।

जादू असर कर गया। महाराज को छोटी रानी के मुख से बड़ी रानी के व्यभिचार की बातें सुनकर, विश्वास हो गया। आज महाराज उत्तानपाद अपने जीवन की उस सीढ़ी पर थे, जहाँ से नीचे खड़ी हुई बेचारी सुनीति पर उनकी नजर न पड़ती थी, न इतने नीचे की बात उनके कानों तक पहुँचती थी। उन्हें सुनीति के शीतल सरोवर की आवश्यकता न थी। वे एक दूसरे ही दीपक के पतंग हो चुके थे। उस दीपक की ज्योति ने उनकी बुद्धि, विद्या, ज्ञान और विवेक सबकुछ हर लिया था। मोह की क्षणिक रेखा ही उन्हें सत्य की झलक-सी मालूम होने लगी थी। महारानी सुनीति के विरोध से रानी सुरुचि को खड़ी होते देखकर एक

बार के लिए भी उनके मन में किसी प्रकार का सन्देह, किसी प्रकार की जिज्ञासा पैदा नहीं हुई। जब वह सुनीति पर अभियोग लगा रही थी, उस समय सुरुचि की चारुता, अभियोग लगाते समय की मुखच्छटा, अंग विकास में तरह-तरह की सौन्दर्य की रश्मियों का रानी पर पड़ना, अंग भंगियों में नारी-सौन्दर्य की पराकाष्ठा, यही सब देख रहे थे। अभियोग की ओर ज़रा भी मन न था। वे निश्चल नेत्रों से रूप-मद पी रहे थे, और रानी की विरोधिनी बातें समाप्त हो जाने पर चुपचाप उन पर विश्वास कर रहे थे। महाराज के मन को सुरुचि को छोड़कर सुनीति की ओर ताकना भाता ही न था। उन्होंने सुनीति पर विचार भी न किया। सुरुचि की बातों में कभी असत्य की छाया रह सकती है, उन्हें इतना बड़ा विश्वास न हो सका। वे सुरुचि को दोषी नहीं देख सके और देखना चाहते भी न थे। सुरुचि का अभियोग सुनकर महाराज ने कहा, "मुझे विश्वास न था कि स्त्री-चरित्र का जादू इस दर्जे तक पहुँच सकता है! ख़ैर, अब उसे क्या सज़ा दी जाय, आज ही इसका निश्चय भी हो जाना चाहिए।"

भौएँ सिकोड़, आँखों में सुनीति के प्रति वैराग्य का भाव भरकर सुरुचि ने कहा, "वाह! सज़ा भला मैं क्या जानूँ? जो कुछ तुम चाहो करो—भला मुझे क्यों लपेटते हो? मेरा तो दूर से देखकर ही जी निकल रहा है। हिम्मत की हद है और क्या कहूँ। न लाज रही, न इज्जत। अरे कुछ तो विचार करती। उसने दोनों कुलों को धो दिया!"

सुरुचि के उपदेश-भरे आश्चर्य पर महाराज का रहा-सहा सन्देह भी दूर हो गया। बात उनके दिल में जम गयी। सुनीति को व्यभिचारिणी जानकर तत्काल ही उसके दण्ड की आज्ञा उन्होंने सुना दी। चिरकाल के लिए गहन जंगल में कुटी बनाकर रहना, जन-स्थानों में कभी मुख न दिखलाना, यह महारानी सुनीति के पाप का दण्ड हुआ। मन्त्री को दण्ड की आज्ञा सुनाकर महाराज उत्तानपाद फिर रानी सुरुचि के महल में चले गये। आज्ञा सुना देने के बाद दण्डित और दण्ड दोनों का ध्यान महाराज के चित्त से उतर गया। वे अपने प्रेम की लहरों में छाया की तरह फिर वही सजीवता का स्वाँग करने लगे।

खबर रानी के पास भी पहुँची। सुबह की शिशिर से धुली, शान्ति की गोद में जीवन की निरपराध घड़ियाँ काटनेवाली मालती का चिरकालिक आधार टूट गया। आज्ञा के सुनते ही महारानी सुनीति बेहोश होकर गिर गयीं। दासियाँ उनकी सेवा करने लगीं। कोई मुख पर ठण्डे पानी के छींटे देने लगी, कोई पंखा झलने लगी। बड़ी देर के बाद उन्हें होश आया। उठकर बैठ गयीं। अपराध कहीं कुछ था ही नहीं, उसके सम्बन्ध में मन में सोचती ही क्या? उसकी गति अतीत की ओर हुई। एकसाथ बहुत-सी बातें अतीत के अन्धकार से किरणों की तरह आँखों के सामने आकर फैल गयीं। उनमें बड़ी चमक-दमक थी। पर वह प्रकाश रानी के लिए नहीं था। याद आयी—विवाह के बाद राजमहल के अन्दर की पहली रात, याद आयीं—समय-समय पर की गयी महाराज उत्तानपाद की

अगणित प्रतिज्ञाएँ, याद आयी—महाराज की सरलता, प्रीति और प्रिया के प्रति उनकी अगाध अनुरक्ति। कुछ देर के लिए दण्डाज्ञा पर उन्हें अविश्वास हो गया। एक ओर महाराज की पहली मूर्ति थी और दूसरी ओर उन्हीं की दी हुई कठोर दण्डाज्ञा! सुनीति के हृदय ने साफ इन्कार कर दिया, कहा,—"जिसकी आँखों में इतनी भावुकता है, जिसकी चितवन में इतना अपनाव है, वह कभी इतना कठोर नहीं हो सकता। जिसके हृदय में पुत्र के बिना भी पत्नी को हताश करने की आकांक्षा कभी नहीं पैदा हुई, जिसने सुनीति के आग्रह से ही विवाह किया है, वह कभी इतना कठोर नहीं हो सकता।"

महारानी सुनीति के हृदय से सन्देह का भाव जाता रहा। महाराज पर वे अविश्वास न कर सकीं। खबर उन्हें झूठी मालूम हुई। उनकी मनोभावना उस समय कुछ ऐसी हो रही थी कि दासियों को उनसे कुछ बोलने का साहस नहीं पड़ता था। कुछ स्वस्थ होकर उनकी इच्छा हुई कि चलकर महाराज से ही पूछना चाहिए कि क्या मामला है, वे उठीं। जिस मकान में उत्तानपाद कैद रहते थे, वह मकान उनका न जाना हुआ न था। अतीत का कौल आज याद है या नहीं, इतना ही वे महाराज से जानना चाहती थीं।

परन्तु ईश्वर ने बाधा दी। कदम उठाया तो हाथ जोड़कर सामने मन्त्री खड़ा हुआ दिखायी दिया। रानी रुक गयीं। उनके मुख पर उदासी की घटा उमड़ रही थी। होंठ काँप रहे थे। शंकित होकर रानी चुपचाप खड़ी रहीं। मन्त्री ने कहा, "देवी, क्षमा कीजिएगा, महाराज ने आपके लिए जो निर्दय आज्ञा दी है, उसका पालन-भार मुझे सौंपा गया है। महाराज की आज्ञा है, आप राजमहल को आज ही खाली कर दें! जङ्गल में आपको रहने के लिए आदेश हुआ है। मैं आपको जङ्गल में छोड़ने के लिए आया हूँ। बाहर रथ तैयार है। चलिए। दास को क्षमा कीजिएगा। दास तो आज्ञा का पालन मात्र कर रहा है।"

तृतीय परिच्छेद

पुर्नमिलन

घोर जंगल के एक किनारे रथ लाकर खड़ा किया गया। मन्त्री उतर पड़े। फिर महारानी सुनीति देवी से उतरने की प्रार्थना की। रानी भी काठ की पुतली की तरह मन्त्री की प्रार्थना पर रथ से उतर आयीं। उनकी एक प्यारी दासी भी उनके साथ चली आयी थी। अपनी रानी का अपमान उससे नहीं सहा गया। उसने निश्चय कर लिया था कि सुख में जिनके साथ इतने दिनों तक रही, अब दुःख के समय में

उन्हें छोड़ देना किसी प्रकार भी धर्म को सह्य न होगा। जङ्गल में रह कर ही अब अपनी मालकिन की सेवा किया करूँगी, यही मेरा धर्म है और इसी में मेरा कल्याण भी है।

मन्त्री हाथ जोड़कर खड़े हो गये। रानी के मुख पर दुःख के भीतर से जो स्वर्गीय ज्योति फूट रही थी, उसे देखकर उनका अन्तरात्मा उन्हें रानी के निर्दोष होने की वार-वार गवाही दे रहा था। अन्तरात्मा का इशारा मन्त्री को सत्य जान पड़ा। वे घुटने टेककर विनीत स्वर में बोले, "देवी, आप पर जैसा कलङ्क लगाया गया है, मुझे किसी तरह भी विश्वास नहीं होता, कि आप ऐसा कभी स्वप्न में भी कर सकती हैं। परन्तु दैव को क्या कहूँ। उसकी स्वेच्छाचारिता जब निरपराध लोगों को दण्ड देती है, तब हृदय से सत्य का विश्वास अन्तर्हित हो जाता है। आपको अधिक उपदेश देने की शक्ति मुझमें नहीं है। प्रार्थना है कि आप अपने इस पुत्र के अपराधों को क्षमा करें।"

रथ लेकर मन्त्री विदा हो गये। रानी का हृदय चूर-चूर हो गया। दिल की लगन में आज तक जो रागिनी बजती आ रही थी, उसका नशा उतर गया। जिस फल की इच्छा ने तपती हुई बालू पर भृंगी की तरह उन्हें भटकाया था, उसका असली रूप उनकी आँखों के सामने आ गया। अतीत के साथ वर्तमान का जो अन्तर हुआ, उसने महारानी की आँखों में पड़ा हुआ मुद्दतों का पर्दा एकबारगी ही हटा दिया। उन्हें अपनी सच्ची स्थिति का अनुभव हो गया। गहरी नींद से मानो एकाएक आँख खुल गयी। स्वप्न की सारी सजीवता बालू के करार की तरह तरङ्ग के एक ही थपेड़े से ढह गयी। गाँठ का धन जङ्गल में खो गया। अपना गला अपने ही फन्दे में फँसा। पहले के कुल कौल-इकरारों का खून हो गया। समस्त आशाएँ चकनाचूर हो गयीं। काम बना सौत का, जिसकी फुलवाड़ी उन्हीं की लगायी हुई थी। होम करते हुए हाथ जल गया। रानी आँसू पीकर रह गयीं। कोई उपाय न था, कोई चारा न था, इस दुःख में दासी के सिवा और कोई अपना सहारा न था। चारों ओर संसार पिशाचों के नग्न-ताण्डव से भरा हुआ अपनी-अपनी धुन में मस्त, अपने-अपने स्वार्थ की कुंजी लिये नरक के द्वार की ओर बढ़ता हुआ बड़ा भयानक जान पड़ने लगा। जी की धड़कन दूनी हो गयी। कुछ देर के लिए कलेजे पर अविश्वास का साँप लोटने लगा। नस-नस में उसका जहर फैल गया। अपने किये पर पछतावा होने लगा। समझ में आ गया कि अपनी जड़ मैंने खुद काटी है।

रानी का धैर्य उस समय चला गया था। सन्ध्या के आते ही हृदय की गति, हवा से चञ्चल हुई। तालाब की लहरों की तरह से क्षुब्ध हो उठी। बाँदी को रानी की मन की व्याकुलता मालूम हो गयी। इस अवस्था का भयङ्कर परिणाम भी वह समझ गयी। उसने नम्र होकर कहा, "रानीजी, मुझे ऐसा जान पड़ता है कि आपके चित्त में जैसे कोई अस्थिरता आ गयी हो। क्या अपने हाल पर तुम्हें बहुत दुःख हो रहा है?"

सुनीति—"देख, मुझे दुःख अपने लिए नहीं हो रहा है, मुझे महाराजपर बड़ा

विश्वास था, क्यों री, क्या राजा को मेरे व्यभिचारिणी होने का सन्देह एक बार ही हो गया होगा ?"

दासी—"सन्देह कौन करता है। उसको सन्देह करने की फुरसत भी हो! रानीजी, दुनियाँ में सब धोखा है। जिनके लिए तुम मरमिटीं, तुम न होतीं तो किसी कङ्गाल के घर की चक्की पीसतीं, तुम्हारी सौत—जूठे बरतन धोतीं, तुम्हारी ही बदौलत रानी बनी हैं, पर तुम्हें कैसा बदला दिया है और तुम उनकी खिदमत में लगी रहती थीं। बस यही स्वभाव सबका जानो। राजा को कुछ भी माया-ममता होती तो कभी यह दशा न करते!"

रानी—"यह मनुष्यों की कैसी प्रकृति है कि जिसके लिए कभी अपने सर्वस्व तक के दान कर देने का वचन देते हैं, उसे ही वे कुछ दिनों में भूल जाते हैं! क्या यही प्रेम का परिणाम है? लेकिन मुझे तो महाराज की उस दृष्टि की—उस भाव की जब याद आती है, तब हृदय अब भी एक ही बात, जैसी पहले कहा करता था, कहता है कि इन आँखों मे सच्चा प्रेम है, इस भाव में छल-कपट का जहर नहीं मिला। दाँव-पेंच करनेवाले, दम-दिलासा देकर अपना मतलब गाँठनेवाले दूसरी तरह के होते हैं। क्या महाराज…"

दासी—"रानीजी, एक पेड़ की छाया में जिसे कभी सुख मिला हो, क्या तुम सोचती हो कि किसी दूसरे पेड़ की छाया में वह न बैठेगा। राह चलनेवाले थककर किसी छाया में अपना ताप शीतल करते हैं, परन्तु जब उसे छोड़कर अपने गन्तव्य स्थान की ओर चलते हैं और फिर उन्हें गरमी से कष्ट होता है, तब वे लौटकर कभी उसी छाया में अपना दाह मिटाने के लिए नहीं आते, तब दूसरी ही छाया की खोज करते हैं, जो उन्हें उनके मार्ग में ही मिल जाय। वे कभी लौटते नहीं, चाहे पीछे कितना ही सुख उन्हें क्यों न मिला हो, बल्कि भविष्य-सुख की आशा उनका अतीत सुख भुला देती है।"

रानी—"हे ईश्वर! स्त्री और पुरुष के भावों में यह आकाश-पाताल का अन्तर! स्त्री—पुरुष को अपने परलोक का देवता समझती है और पुरुष इस लोक में ही उसकी यह दशा कर सकता है! मुझे अपने कष्टों के लिए चिन्ता नहीं है। परन्तु यदि यह आज्ञा प्रेमवश दी गयी होती, तो सुरुचि को सुखी करने के लिए मैं आनन्दपूर्वक जङ्गल में आकर रह सकती थी। परन्तु सच्चाई के भीतर यह क्या छिपा हुआ था!"

दासी—"रानीजी, महाराज रूप के मायाजाल में फँस गये हैं। अब पहले की भावना उनमें नहीं रही। अब उन्हें अपने मतलब से मतलब रह गया है। अब वे तुम्हारी पुरानी बातें भूल गये हैं, 'आँख ओट पहाड़ ओट।' जिस दिन तुमने उनके हाथ में उनकी लालसा का प्याला खुद लेकर रक्खा, उन्होंने पिया, नशा चढ़ा की तुम्हें भूले! अब न तो उनका वह नशा उतर सकता है और न पिछली बातों कि उन्हें याद आ सकती है। जिसने आँखें फोड़ लीं, अब वह फिर आँख उठाकर न देखेगा। बिना किसी अपराध के जिसने घर से निकालकर बाहर कर दिया, चलते

समय एक वार आकर दो बातें भी नहीं पूछीं, उसके ईमान का सौदा वहीं समाप्त हो चुका !"

रानी—"लेकिन दूसरे का अगर ईमान डिगता है, तो क्या मुझे भी अपने धर्म से हाथ धो लेने चाहिए ? कसौटी पर सब सोना खरा नहीं उतरता। काँटों में उलझने के डर से कभी राह का चलना कोई नहीं छोड़ देता। हम स्त्रियों के लिए एकमात्र देवता—पति हैं। उनकी पूजा से पति, विमुख होकर भी मुझे निवृत्त नहीं कर सकते। यह सब ठीक तो है, परन्तु जब स्मरण हो आता है कि महाराज क्या थे और क्या हो गये, तब क्या कहूँ कि मेरी कैसी दशा हो जाती है। यह बिलकुल वैसी ही बात है जैसे कोई आकर कहे कि गुलाब में सुगन्ध नहीं, अथवा कमल जमीन पर खिलते हैं।"

रानी की विक्षिप्त अवस्था में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। दासी अपनी मालकिन के दुःख को हृदय में रख उनकी सेवा के लिए तैयार हो गयी। जङ्गल से घास-फूस लाकर एक जगह उसने एक छोटी-सी कुटिया बनायी। इधर-उधर वहाँ कुछ ऋषियों के आश्रम भी थे। रहते-रहते रानी के साथ ऋषि-पत्नियों का परिचय हो गया। उनके प्रेम में रहकर रानी का बहुत कुछ कष्ट दूर हो गया। उन्हें ज्ञान हुआ, वे समझीं कि संसार क्या है, यहाँ किस तरह रहना चाहिए और परलोक के लिए सांसारिक फन्दों से छुटकारा प्राप्त कर किस तरह तैयार रहना आवश्यक है। रानी सुनीति के हृदय का क्षोभ, दुःख, परिताप, अपमान, स्मरण-विस्मरण की ज्वाला, सब मिट गयी। ऋषियों के उपदेश से आत्मा की विमल ज्योति दिन-पर-दिन उज्ज्वलतर होकर निखरने लगी। पति के प्रेम का यथार्थ तत्त्व उनकी समझ में आ गया। पति के अन्दर परमात्मा का स्वरूप है, उस पर चित्त रमने लगा। तब ऐसा भाव पैदा हुआ कि पति चाहे सैकड़ों स्त्रियों के बीच में रहे, चाहे अपनी अनुगामिनी सती पत्नी का कितना ही निरादर क्यों न करे, पर वह सब समय, सब अवस्थाओं में स्त्री के लिए ईश्वर-कल्प और परम पूज्य है। ज्यों-ज्यों रानी का सत्य दृढ़ होता गया, त्यों-त्यों विकारों के समूह जो उनके शरीर में आश्रय पा रहे थे, नष्ट होते गये। रानी सत्य के ज्योति-लोक में रहने लगीं। उनकी सेवा करती हुई दासी की अन्तर्दृष्टि भी निर्मल होने लगी।

कालचक्र की गति बड़ी विचित्र है। कब क्या हो जाता है, कब क्या होनेवाला है, इसका निर्धारण मनुष्य नहीं कर सकता। इसी नियम की परिवर्तनशीलता से सिद्ध होता है कि सबके दिन एक-से नहीं रहते। कभी महाराज को रास्ते का फकीर होना पड़ता है और कभी रास्ते के भिक्षुक को स्वर्ण-सिंहासन पर बैठे हुए देखा जाता है। जिसमें कभी चलने की शक्ति नहीं रहती, उसे लोग कदम उठाकर राह तै करते हुए देखते हैं और जिसमें सब प्रकार की शक्तियों का भण्डार भरा रहता है, वह कभी अचल और मृत अवस्था में नजर आता है। जिस परमात्मा की इच्छा से संसार में दुःखी के हृदय में सुख की किरणें फूटतीं और सुखी की आत्मा में निराशा का रंग चढ़ता रहता है, उसने एक बड़ा विचित्र संघटन संघटित कर

रखा है।

महाराज उत्तानपाद को शिकार का जबरदस्त शौक था। एक दिन कुछ सेना साथ लेकर जङ्गल में वे शिकार खेलने के लिए गये। जङ्गल का कोना-कोना खोज डाला, पर कहीं भी कुछ न मिला। उन्होंने साथियों का संग छोड़ दिया। उनके गोल से निकलकर, जिधर जङ्गल घना था, शिकार की लालसा से उधर ही अपना घोड़ा बढ़ाया। उधर दिन बहुत थोड़ा रह गया था। जङ्गल में शिकार की तलाश करते-ही-करते शाम हो गयी। उनके साथी जङ्गल से बाहर निकलकर महाराज को तलाश करने लगे, परन्तु महाराज को बाहर निकलने की राह मालूम न थी, वे कुछ दूर घने जङ्गल में बढ़ गये थे। अब वे अपने साथियों से आकर न मिल सके। चारों ओर जङ्गल में भटकने लगे। आसमान पर सन्ध्या का अन्धकार गहरा हो गया था। इक्के-दुक्के तारों को छोड़ और कही कोई प्रकाश नजर न आता था। बड़े परेशान हुए। घोड़ा भी थक गया था। भटकते-फिरते जङ्गल में एक ओर पेड़ो के बीच से दीपक की रोशनी आती हुई दिखायी पड़ी। महाराज को भरोसा हुआ। जी में जी आया। उधर ही लक्ष्य करके धीरे-धीरे घोड़ा बढ़ाया।

दरवाजे पर पहुँचे। आवाज दी, दासी ने आकर फूस की टट्टी खोल दी। महाराज को भीतर ले गयी। घोड़ा द्वार पर एक पेड़ की डाली से बाँधकर महाराज दासी के साथ उस कुटिया के भीतर गये। उस समय भारतवर्ष में अतिथि की देवताओं के तुल्य समझकर पूजा की जाती थी। अतिथि के लिए गृहस्थ अपने प्राणों तक को उत्सर्ग कर देते थे। दासी ने महाराज को बैठाया। पैर धोने के लिए पानी ले आयी। वह महाराज को देखते ही पहचान गयी थी।

महाराज के आसन ग्रहण करने पर रानी सुनीति भी अतिथि देवता का स्वागत करने के लिए आयीं। देखते ही दृष्टि थक गयी। जिस झरने का प्रवाह ग्रीष्म के कठोर ताप से कुछ मन्द पड़ गया था, जिस मन्द धारा में पहाड़ी के हृदय का कलुषित क्लेद न था, किन्तु केवल निर्मल स्वच्छ सलिल ही बहा करता था, आज एकाएक वर्षा के बादल आकर घिर गये, फिर उस झरने का प्रवाह तेज, पहाड़ी की अन्तरात्मा के अन्दर पुञ्जीकृत न जाने कितने क्लेद को बहाने के लिए प्रबल हो गया।

महाराज ने देखा, रानी भी देखती रहीं, परिचय की प्रतीक्षा किसी के अन्दर न थी। दोनों के मौन में परिचय देने की यथेष्ट भाषा थी। प्राचीन जीर्ण गौरव के किनारे चुपचाप दोनों बड़ी देर तक एक-दूसरे को देखते रहे। याद आयी प्राचीन की स्मृति, उसकी महत्ता, उसका ऐश्वर्य, उसकी विभूति, उसकी प्रभुता और साथ ही उसका पराभव भी। अन्त में उसका लांछन, उसका अपमान, उसका निर्यातन और उसकी विनाशोन्मुखी स्थिति को आँखों ने प्रत्यक्ष कर लिया। जिस गौरव को कभी महाराज उत्तानपाद अपना गौरव समझते थे, जिस ऐश्वर्य को वे अपनी सम्पत्ति समझते, जिस वाटिका के विहार करनेवाले वही नायक थे, जिस सौन्दर्य की सृष्टि केवल उनके लिए ही हुई थी, आज यह उसी की दीनता आँखों के सामने

मौजूद है ! इसकी उजड़ी हालत के लिए उत्तरदायी वही हैं। इसके साथ अब उनकी कितनी सहानुभूति रह गयी है ?

महाराज उत्तानपाद की आँखों में आँसू आ गये। उनकी क्रूरता से उजड़ी हुई देवी की मूर्ति आँखों के सामने थी। उदाहरण के साथ ही प्रमाण भी मौजूद। चुपचाप महाराज ने आँसू पोंछ लिये। उधर रानी को काठ-सा मार गया। हाथ-पैर और सर्वाङ्ग की क्रियाशीलता शिथिल पड़ गयी। महाराज को देखकर उनका अतीत और वर्तमान सब एकाकार हो गया। स्मरण ने जवाब दे दिया। बुद्धि भी विदा हो गयी। जिस तरह वे आकर खड़ी हुई थीं, उसी तरह खड़ी रह गयीं। आँखें महाराज को देख रही थीं पर पलक नहीं गिर रहे थे।

रानी जितनी ही अचञ्चल हो रही थीं, नष्ट-सौन्दर्य की रेखा की तरह मौन महाराज के हृदय में उतनी ही तरंगें अनेक भावों से उठ-उठकर उन्हें व्याकुल कर रही थीं। एक ही दिन में, थोड़ी देर के अन्दर इतनी बड़ी सज़ा प्रकृति ने दी कि उनका सम्पूर्ण दोष प्रक्षालित कर दिया—अनुताप के आँसुओं से धो दिया। इससे महाराज के चित्त की विकलता का कुछ अनुमान लग सकता है। उन्हें ज्ञान भी हो आया। रानी के मौन का प्रभाव प्राकृतिक था। उसमें भाव थे, भाषा थी, छन्द और गीत थे। इतने ही से बस नहीं, उसमें शक्ति थी महाराज की बुद्धि को मार्जित कर उन्हें पूर्व स्वरूप से परिचित कराने की। महाराज ने अपने भूले हुए स्वरूप को देखा, वह कितना निर्लिप्त था, उदार और स्वच्छन्द था, महाराज को अपने परिवर्त्तन पर दुःख हुआ—समझ गये कि वे देवता से राक्षस हो गये थे ! उन्हें देवारण्य के साथ ही रानी की फूल-सी कोमल देवी-मूर्ति की याद भी आ गयी, जैसे एक के परिचय के लिए दूसरे की आवश्यकता हो, जैसे बिना दूसरे के किसी एक की कोई हस्ती ही न हो। महाराज चकित हो गये। जिसे वे अपराधी समझते थे, आज पुण्य लोक में, मानस-नेत्र उसे ही प्रत्यक्ष कर रहे थे ! यहाँ सुरुचि की पैठ न थी, न हो सकती थी, न महाराज को उसकी बात एक बार के लिए याद ही आयी। स्वर्गराज्य का भूला हुआ सुख, उसकी भूली हुई बातें एक-एक करके याद आने लगीं। अब उन्हें अपने परिवर्त्तन पर आश्चर्य होने लगा कि कैसे मैं अपने इस सुख को भूला हुआ था ! आश्चर्य के साथ विश्वास भी दृढ़ होता गया कि सत्य यही है। अन्त में नस-नस से खून के हरएक बूँद से सार्वन्त:करण में आवाज उठने लगी कि रानी निर्दोष है, तुमने एक असहाय अबला के साथ घोर अन्याय किया है, तुम शक्तिवाले राजा हो, अपनी शक्ति का नितान्त अनुचित प्रयोग किया है। सत्य की मर्यादा को नष्ट करने की कोई कसर उठा नहीं रखी, तुम महापापी हो, सती को तुमने कलङ्क लगाया है।

महाराज के होश उड़ गये। उनकी आत्मा के भीतर यह कौन इतनी निर्भीकता से प्रचार कर रहा था, उनकी समझ में न आया। वे जितना ही अपने को संयत करने की चेष्टा कर रहे थे, उतनी ही प्रबल शक्ति उनकी आत्मा में उनके दुष्कृत्यों का विरोध करती हुई दीख पड़ती थी। महाराज बहुत घबराये। पाप से निस्तार

पाने के लिए जी व्याकुल हो उठा। हृदय से आप-ही-आप उन्होंने प्रश्न किया कि अब उपाय क्या है, उन्हें उत्तर भी मिला --जिसे तुमने दण्ड दिया है, उसकी कृपा, उसकी क्षमा तुम्हें मुक्त कर सकती है।

हृदय की आज्ञा सुनकर महाराज बाहर निकले---सामने वही मूर्ति, जिसे दण्ड की आज्ञा दी थी, जिस पर व्यभिचार का कलङ्क मढ़ा गया था, चुपचाप पत्थर की मूर्ति की तरह खड़ी हुई उन्हें देख रही थी। महाराज पैरों पर गिर पड़े। कुछ कह नहीं सके। रानी की निश्चलता भी महाराज को पैरों पड़ते देख औचित्य के अनुष्ठान के लिए रानी को छोड़कर चली गयी। रानी ने महाराज को उठा लिया। कहा, "नाथ, मेरे भाग्य ही ऐसे हैं, तुम्हारा क्या दोष है।"

राजा —"प्रिये, मेरी आँखों पर मोह का पर्दा पड़ गया था। मैं तुम्हें भूल गया था। मुझे तुम्हारी याद नहीं थी, पर तुमने मेरी याद रक्खी। मैंने तुम्हारे लिए काँटे बिछाये, पर तुम मेरे लिए फूलों की शय्या की रचना करती रहीं। मुझे सुपथ पर लाने का श्रेय तुम्हें ही प्राप्त है। अब ऐसी भूल कभी न होगी। मुझे क्षमा करो!"

रानी —"महाराज, दैव से सबको दुःख मिलता है, मुझे भी मिला। तुम बिलकुल निरपराध हो। मैं तुम्हारे अपराध की बात सुन नहीं सकती—मुझे कष्ट होता है। अब ऐसी बातें न कहो। मुझ पर दया करो। ईश्वर की जो इच्छा थी, वह पूरी हो गयी। मुझे एक यही दुःख था कि इस निरपराधिनी को तुमने बिलकुल बिसार दिया! महाराज, मेरे व्यभिचार पर तुम्हें विश्वास कैसे हो गया था? मुझे आश्चर्य बस इतना ही हुआ करता था।"

दासी पर धोने के लिए पात्र में जल ले आयी। रानी महाराज के पैर धोने लगीं। धोकर आँचल से अच्छी तरह पोंछ दिये। जङ्गल में फल-फूलों के सिवा और रहता ही क्या? उन्हीं से उस रात को अतिथि-सत्कार की व्यवस्था की गयी। महाराज ने तृप्तिपूर्वक भोजन किया। तृण का बिछौना था, उस रात को उसी पर आराम से सोये। रानी पैर दबाती रहीं। उस रात को महाराज की आँख नहीं लगी। बातों-ही-बातों में तमाम रात कट गयी। सुबह को रानी को बहुत तरह धैर्य्य देकर घोड़े पर सवार हो वे अपनी राजधानी को चले गये।

चतुर्थ परिच्छेद

ध्रुव का जन्म और बाल्य-काल

भूल मनुष्यों के स्वभाव की सबसे बड़ी त्रुटि है, कमजोरी भी है। इसके कारण ही मनुष्यों को देवता की पदवी प्राप्त करते, बड़ी-बड़ी साधनाएँ करनी पड़ती हैं।

महाराज उत्तानपाद अपनी राजधानी में आते ही अपनी बड़ी रानी को भूल गये। छोटी रानी का जादू उन पर इतना असरदार हो चुका था कि उसका प्रभाव वे किसी तरह हटा नहीं सके। उसे अप्रसन्न करके बड़ी रानी को वे महल में न रख सकते थे। उधर बड़ी रानी के लिए जब से दोबारा उसका अतिथि-सत्कार स्वीकार कर आये थे, रह-रहकर जी में एक प्रकार का उद्वेग, एक प्रकार की दया हृदय को उसकी ओर खींच ले जाती थी। परन्तु बस न चलता था। महाराज अपनी इस कमजोरी को अब कुछ-कुछ समझने लगे थे। परन्तु समझकर ही रह जाते थे। उनका कोई प्रतिकार नहीं कर सके। बड़ी रानी के दिन जिस तरह कटते थे, उसी तरह कटते रहे। इधर छोटी रानी के साथ महाराज की लालसा भी उदासीनता का रूप धारण करने लगी थी। वे जबान खोलकर तो छोटी रानी से कुछ न कहते थे, पर हृदय में कुछ दु:ख का भाव जरूर आ गया था।

इधर महाराज के साथ एक रात के सहवास के पश्चात् महारानी सुनीति गर्भवती हो गयीं। दासी को यह जानकर बड़ी प्रसन्नता हुई। वह जी लगाकर महारानी की सेवा करने लगी। उसके हृदय में बड़ी-बड़ी आशाएँ तरंगें मारने लगीं। समय पर फल-फूल संग्रह करके महारानी के खान-पान के सम्बन्ध में वह सदा सतर्क रहने लगी। ईश्वर की इच्छा से दसवें महीने में महारानी के गर्भ से एक परम रूपवान पुत्र पैदा हुआ। ऋषियों ने उसका जन्म-चक्र तैयार कर उसे बड़ा प्रतापशाली और होनहार बतलाया और उसका नाम ध्रुव रक्खा तथा कहा कि इससे संसार को बहुत बड़ी शिक्षा मिलेगी। यह संसार में अपनी अमरकीर्ति रख जायगा। इस पर परमात्मा की बड़ी कृपा होगी।

धीरे-धीरे अपनी माता के लालन-पालन में ध्रुव बड़े होने लगे। फूस की कुटिया के चारों ओर घुटनों के बल सरककर हरी-भरी लताओं में चिड़ियों की चहक सुनकर मारे प्रसन्नता के बालक लहालोट हो जाता। रंग-बिरंगे फूलों को देखकर अस्फुट भाषा में उनसे न जाने कौन-सी बातचीत किया करता, ऋषि-पत्नियों की गोद न जाने किस अमृत की चाह से उसे सदा ही प्यासा बनाये रहती थी कि वह उन्हें देखते ही उनकी बाँहों में खेलने के लिए दोनों हाथ फैलाकर लपक पड़ता था। महर्षि-कन्याओं से न जाने उसकी कहाँ की पहचान थी, ऐसी मित्रता थी कि उनके साथ रहकर वह अपनी माता की सुध भी न लिया करता था। दासी उसकी रखवाली के लिए सदा उसके साथ लगी रहती थी। वह उसे बड़ा प्यार करती थी, जैसे वह उसका अपना लड़का हो।

इस तरह स्नेह में पलकर ध्रुव कुछ बड़े हुए। अपने पैरों पर कुछ दूर तक चल लेने की शक्ति उनमें आ गयी। ठुमकते हुए ऋषि-बालकों के साथ एक आश्रम से दूसरे आश्रम में, इसी तरह सब ऋषियों के दर्शन करने के लिए जाया करते। उनकी सोती हुई स्वर्गीय-ज्योति महर्षियों से छिपी न थी। वे ध्रुव को हृदय से लगा अपने पूजन का समय भी ध्रुव से खेलते हुए भूल जाते थे। तपोवन-वासियों पर ध्रुव का एकछत्र अधिकार हो गया। साधुओं के साथ रहने के कारण ध्रुव में

कभी बाल्य-चंचलता नहीं आ सकी। रोना तो जानते ही न थे। माता का दूध और पके हुए जंगलों के फल, यही उनका भोजन था। इसका प्रभाव स्वास्थ्य पर ऐसा पड़ा कि कभी एक दिन के लिए भी कोई पीड़ा न हुई। चेहरे पर शान्ति का राज्य था। प्रसन्नता की मुस्कराहट ध्रुव के होंठों पर बनी ही रहती थी। नन्हें-नन्हें भरे हुए हाथ, छोटा-सा गोरा-गोरा मुखड़ा, बड़ी-बड़ी आँखों में सरलता की अजीब आभा जो कोई देखता, वही मुग्ध हो जाता था। अब ध्रुव अच्छे बड़े हो गये थे।

एक दिन बालकों के साथ ध्रुव खेल रहे थे। एक ने कहा, "चलो, आज राजा के यहाँ चला जाय। ज़रा चलकर देखना चाहिए कि राजा की राजधानी कैसी है। उसमें किस तरह से राजा रहते हैं। राजा के साथ वहाँ कौन रहता है। राजा का घर-द्वार कैसा है। यहाँ राजा की बड़ी तारीफ हुआ करती है कि वे बड़े धर्मात्मा हैं। अतिथियों-अभ्यागतों की बड़ी खातिरदारी किया करते हैं। बड़े मधुर-भाषी हैं। अच्छा बताओ भाई, किसकी-किसकी इच्छा है चलने की?" सब बालक तैयार हो गये। ध्रुव ने कहा, "भाई, ज़रा माता की आज्ञा ले लूं। तुम ज़रा देर यहीं ठहरो। मुझे विश्वास है कि माता मुझे आज्ञा दे देंगी।"

ध्रुव माता के पास गये। अपनी इच्छा भी प्रकट की। साथ बहुत-से लड़के जा रहे हैं, यह भी कहा। माता कुछ देर तक सोचती रहीं। अन्त में जाने की आज्ञा दे दी। ध्रुव अपने साथियों से आ मिले। राजा के यहाँ चलने के लिए मुकाम कूच कर दिया गया।

आपस में हँसते-खेलते सब लड़के महाराज उत्तानपाद की राजधानी में आ पहुँचे। चारों तरफ कोट था। गहरी खाई गढ़ के चारों ओर थी। खाई में पानी भरा हुआ था। एक फाटक से सब लड़के भीतर घुसे। फाटक बहुत ऊँचा था। उसके ऊपर भी रहने की जगह थी। वहाँ सिपाही रहा करते थे। कुछ सिपाही अस्त्र-शस्त्र लिये फाटक में पहरे पर खड़े हुए थे। बालकों को यह जानकर कि ये ऋषियों के लड़के हैं, सन्तरियों ने रास्ता छोड़ दिया। फाटक से होकर वे लड़के गढ़ के भीतर चले गये। रास्ते की बनावट, रास्ते के दोनों ओर सुगन्धित फूलों की क्यारियाँ, अच्छे-अच्छे फलों के पेड़ देखकर आपस में वे राजा के ऐश्वर्य की समालोचना भी करते जाते थे। बड़े-बड़े तालाब भी उन्हें राह पर मिले। तालाब चौकोर दुरुस्त थे। बड़े सुहावने मालूम देते थे। चारों ओर से नीचे उतरने की पक्की सीढ़ियाँ बनी हुई थीं। एक ओर देवमन्दिर भी था। वहाँ ब्राह्मण बैठे हुए पूजा-पाठ कर रहे थे। कहीं अखाडों से पहलवानों को लड़कर लौटते देखा। उनके बदन में मिट्टी चढ़ी हुई थी। कहीं छोटी-सी चारदीवारी से घिरी फुलवाड़ी देखी। कहीं पर झुण्ड-के-झुण्ड हाथी बँधे हुए झूम रहे थे। कहीं कतार-की-कतार घोड़ों की देखी। सब जगह चहल-पहल थी। बालकों को देखकर बड़ी प्रसन्नता हो रही थी। कई फाटक पार करके वे राजा के महल के पास आये। महल की भव्यता, उसकी ऊँचाई, उसकी कारीगरी और उसकी सफाई देखकर बालकों को बड़ा आश्चर्य हुआ। इतनी बड़ी इमारत उन्होंने कभी न देखी थी। सब-के-सब चक्कर

में आ गये। परन्तु ऋषियों के साथ रहने के कारण उनमें साहस भी गजब का था। वे महल के ऊपर चढ़ गये। सामने का हिस्सा महाराज का मन्त्रणा-भवन था। दरबार-भवन इस प्रासाद से कुछ दूर पर था। सब बालक मन्त्रणा-भवन में बेधड़क चले गये। महाराज उत्तानपाद उस समय वहीं पर थे। बालकों को देखकर राजा को बड़ी प्रसन्नता हुई। ऋषियों के बालक राजमहल में पधारे, इससे बढ़-कर सौभाग्य की बात राजा के लिए और क्या होगी। मन्त्रियों के साथ बालकों का परिचय लेने लगे। सबने अपने-अपने पिता-माता का नाम बतलाया। अपने आश्रम का पता भी सबने बता दिया। रह गये ध्रुव। ध्रुव कुछ न बोले। अपने एक दूसरे साथी की ओर ताकने लगे। ध्रुव को हिम्मत बँधाते हुए उसने कहा, "ध्रुव, महाराज को अपना परिचय क्यों नहीं देते हो?"

ध्रुव—"महाराज, मेरा परिचय क्या पूछते हैं? उस वन में एक अनाथिनी रहती है, मैं उसी की गोद में पला हूँ, वही मेरी माता है। उसे लोग सुनीति कह-कर पुकारते हैं और कुछ नहीं जानता।"

महाराज को अगर कोई आसमान में फूल खिलने की खबर देता, तो भी उन्हें इतना आश्चर्य शायद न होता। बड़े गौर से वे बालक के मुख की ओर ताकने लगे। उनके मुख पर सुनीति की पूरी छाया पड़ी हुई थी। महाराज के हृदय में खलबली मच गयी। सुनीति के दुःख की याद करके उनकी आँखों में आँसू भर आये। सुनीति का नाम सुनते ही आदरपूर्वक मन्त्रियों ने ध्रुव को गोद में उठा लिया। महाराज के मुख से मन्त्रियों को सुनीति के निरपराध होने का समाचार उनके मृगया से लौटने के पश्चात् मालूम हो चुका था। अपने हृदय की ज्वाला शान्त करने के लिए महाराज ने मन्त्रियों की गोद से ध्रुव को अपनी गोद में बिठा लिया। पिता के साथ ध्रुव राज-सिंहासन पर बैठा हुआ था। ध्रुव को बार-बार गले से लगाकर महाराज सुनीति के वियोग से उत्पन्न हुई ज्वाला शान्त कर रहे थे। सुनीति के दुःखों को दूर करने का विचार कर रहे थे तथा मन्त्रियों से सुनीति की दिनचर्या की बातचीत कर रहे थे। उस समय महाराज का दूसरा पुत्र, सुरुचि के गर्भ से पैदा हुआ—उत्तम, राजसी पोशाक से सजा-बजा उनके पास ही सिंहासन के नीचे खड़ा टकीटकी लगाये ध्रुव को देख रहा था। यह एक अनजान बालक कैसे यहाँ आकर उसके पिता की गोद में बैठ गया, वह इसी विचार में डूबा हुआ था। इसी समय भीतर से रानी सुरुचि भी अपने पुत्र को खोजती हुई वहाँ आ पहुँची। अपने पुत्र को नीचे और एक अजाने दूसरे बालक को महाराज की गोद में बैठा हुआ देख आग-बबूला हो गयी। महाराज से पूछा, "यह बालक कौन है? प्यार से इसे गोद में बैठाये हुए हो।" रानी को देखते ही राजा के देवता कूच कर गये। एड़ी से चोटी तक के रोएँ खड़े हो गये। इतना भय हुआ कि उनसे कुछ कहा ही नहीं गया। वे अपराधी की तरह रानी की ओर ताकने लगे। राजा को असमंजस में देखकर एक मन्त्री ने रानी के प्रश्न का उत्तर दिया। कहा, "देवी, बालक आप ही का है। रानी सुनीतिजी के गर्भ से पैदा हुआ है।"

बस, सुनते ही रानी का चेहरा तमतमा उठा। कुछ बोली नहीं, बाँह खींचकर ध्रुव को गोद से उतार दिया। राजा की गोद में उत्तम को बैठा दिया। राजा, रानी का मुँह ताकने लगे। मन्त्रियों ने चुपचाप सिर झुका लिया। ध्रुव के साथियों ने ध्रुव को अपनी गोद में ले लिया। फिर अकड़कर सब-के-सब रानी की ओर ताकने लगे। किसी-किसी मुँह-फट लड़के ने गरमागरम कुछ सुना भी दिया।

रानी दबनेवाली न थी। भौं मटकाकर मुँह बिगाड़ ध्रुव की ओर ताकती हुई बोली, "राजा की गोद में तुम्हारे जैसे अभागे बैठते हैं! राजा की गोद में बैठना था तो सुनीति के पेट से क्यों निकले थे?"

बात ध्रुव को चोट कर गयी। कलेजा दो-टूक हो गया। आँखें छलछला आयीं। ऋषिकुमारों ने वहाँ और ठहरना उचित नहीं समझा। ध्रुव को लेकर सब बाहर निकल आये। दो-एक उनमें ऐसे भी थे जो चलते-चलते पीछे की ओर घूमकर एक बार रानी को चुभीली नजर से ताकते जाते थे। सब लड़के फाटक से बाहर निकल गये। वहाँ सबने ध्रुव को बहुत समझाया। राज्य में उसका आधा है, यह जता दिया। और यह भी कहा कि ऋषियों की मदद से अपने राज्य पर तुम्हें अधिकार करना चाहिए। रास्ते-भर खूब गरमागरम बातें होती गयीं। ध्रुव चुपचाप सुन रहे थे। उन्हें भी अपमान असह्य हो गया था। उनका रोम-रोम इसका बदला लेने के लिए तुला हुआ था। उपाय कुछ न था, उनमें बल-पौरुष भी अभी न आया था। लाचार थे। पर क्षमा का लेशमात्र भी उनके हृदय में न था। घाव इतना गहरा हो गया था कि उसका दर्द ध्रुव को तब तक नहीं भूला, जब तक वे अपने उद्देश्य की सिद्धि तक नहीं पहुँचे।

आपस में बहस-मुबाहसा करते हुए सब लड़के तपोवन में आये। ध्रुव को उनकी माता के पास छोड़कर सब अपने-अपने घर चले गये। जाते समय कह गये, "इनसे सब हाल वहाँ का कह देना, तब तक हम घर से लौटकर अभी आते हैं। फिर देख लेंगे, कैसा वह बीवी का गुलाम राजा है और कैसी वह सिर-चढ़ी रानी!"

सब लड़के अपने-अपने घर चले गये। ध्रुव माता की गोद में बैठकर रोने लगे। ध्रुव को रोते हुए देखकर माता का मुख सूख गया। उस बेचारी दुखिया का आधार एकमात्र वह पुत्र ही था, अन्धे की लकुटिया और उसके जीवन का एकमात्र सहारा। रानी ने बड़े आग्रह से बच्चे के बालों को सुधारते हुए मधुर शब्दों में पूछा, "बेटा, क्यों रोते हो? क्या वहाँ तुम्हें किसी ने कुछ कहा है?—या किसी ने तुम्हारा निरादर किया? बेटा!—मेरे लाल!"

ध्रुव के आँसू पोंछकर करुणा-भरी दृष्टि से पुत्र को देखती हुई अपने उभड़ते हुए दरिद्रता के दुःख को दबाकर रानी मन-ही-मन परमात्मा को याद करने लगी। ध्रुव बोले, "माता, मैं राजा के यहाँ गया था। वहाँ का राज-ठाट-बाट देखता रहा, साथियों के साथ चारों ओर राजधानी की सजावट देखता फिरा। फिर सब लड़कों की सलाह हुई कि अब चलकर राजा का महल भी देखना चाहिए। उनके

साथ मैं भी महल में चला गया। सामने एक बड़ा-सा कमरा है। राजा वहीं बैठे थे। उनको घेरकर और भी बहुत-से आदमी अच्छे-अच्छे कपड़े पहने हुए वहाँ बैठे हुए थे। राजा को हम सब बालकों को देखकर बड़ी प्रसन्नता हुई। वे एक-एक करके सबके पिता और माता का नाम पूछने लगे। सबसे पीछे मेरी बारी भी आयी। मैंने तुम्हारा नाम बताया। तुम्हारा नाम सुनते ही राजा के पास और जो लोग खड़े थे, उनमें से एक लम्बी दाढ़ीवाले ने मुझे अपनी गोद में उठा लिया। फिर महाराज ने सिंहासन पर बैठे हुए मुझे अपनी जाँघ पर बैठा लिया। सब लोग मेरा आदर करने लगे। एक लड़का मेरे समान राजा के सिंहासन के नीचे बड़े अच्छे-अच्छे कपड़े पहने हुए खड़ा था। वह एक नजर से मुझे देख रहा था। फिर एक स्त्री आयी। माँ, उसकी धोती बड़ी अच्छी थी, चमचमाती थी। उसने मेरी ओर ऐसी कड़ी निगाह से देखा कि मैं डर गया। उसने राजा से पूछा, 'यह कौन है?' पास बैठे लोगों ने तुम्हारा नाम लिया और कहा कि यह उन्हीं का लड़का है। तब तो वह और भी अंगारा हो गयी। मेरी बाँह पकड़ और घसीटकर मुझे राजा की गोद से उतार दिया। और जो लड़का नीचे खड़ा था, उसे उठाकर राजा की गोद में बैठा दिया। कहा कि प्यार करना है तो इसे क्यों नहीं करते? क्या यह लड़का नहीं? राजा, रानी का मुख देखने लगे। और मन्त्रियों ने सिर झुका लिया। मेरे साथी मुझे लेकर चले आये। क्यों अम्मा! वह कौन थी, क्या तू जानती है?"

रानी, "बेटा! वह रानी थी।"

ध्रुव, "और वह लड़का?"

रानी, "वह राजा का लड़का था। रानी उसकी माँ थी।"

ध्रुव, "तो मुझे उसने गोद से उतार क्यों दिया? क्या मैं उसकी दौलत छीनने गया था?"

रानी, "तुम उसकी दौलत छीनने तो गये ही थे।"

ध्रुव, "यह कैसे?"

रानी, "बेटा, तुम भी राजा के लड़के हो।"

ध्रुव, "तो हमारी यह हालत क्यों है? वह रानी तो राजमहलों में रहे और तुम भूखों मरो, ऐसा क्यों?"

रानी, "बेटा! यह हमारे पूर्वजन्म के कर्म हैं।"

ध्रुव, "पूर्वजन्म के कर्म क्या किसी तरह मिट नहीं सकते?"

रानी, "हाँ, मिट क्यों नहीं सकते। परमात्मा की इच्छा होती है, तो हजारों जन्म के पाप मिट जाते हैं।"

ध्रुव, "क्या हमारा राज्य हमें मिल सकता है?"

रानी, "हाँ, वे चाहें तो तुम्हारे राज्य से भी बड़ा कोई दूसरा राज्य तुम्हें दे सकते हैं।"

ध्रुव, "वे कहाँ रहते हैं अम्मा?"

रानी, "बेटा, वे सब जगह रहते हैं, उनके पाने के लिए तपस्या करनी पड़ती है। जब वे प्रसन्न होते हैं, तब अपने भक्त को आकर दर्शन भी देते हैं।"

ध्रुव, "तो क्या परमात्मा के सिवा हमारी पुकार का सुननेवाला और कोई नहीं है?"

रानी, "नहीं बेटा! गरीबों की पुकार का सुननेवाला परमात्मा ही है।"

पंचम परिच्छेद

भक्ति-पथ के पथिक ध्रुव

घोर स्तब्धता दशों दिशाओं में फैली हुई थी। हवा भी धीरे-धीरे बहुत डरी हुई-सी पृथ्वी के वक्षस्थल पर प्रवाहित हो रही थी। उसे शांति-भंग की आशंका थी। तारे इस मौन राज्य के सन्तरियों की तरह आकाश में सजग रहकर पहरा दे रहे थे। दानवाकार जंगल के बड़े-बड़े पेड़ रात्रि के शासन-भय से मानो चुपचाप एक दूसरे से अनेक कर्त्तव्य का निर्णय करा रहे थे। रह-रहकर निशाचर-जीवों की आवाज उनके हृदय को कुछ साहस दे रही थी। जुगनुओं के क्षणिक प्रकाश में परिचित हो जाने के भय से वे मानो अन्धकार के हृदय में और छिप जाते थे। दूर से जब-तब आती हुई पपीहे की पुकार, स्वर की सीमा तक निस्तब्धता को कुछ चंचल करके उसे और शान्त कर देती थी। इसके स्वर का विराम शान्ति के अगाध समुद्र में डूब जाता था। दिन-भर के थके हुए जीव जीवन के स्वप्न-लोक में अपनी अधूरी लालसाएँ चरितार्थ कर रहे थे। सुखी मनुष्य, शान्ति के स्वागत के लिए अपने सर्वस्व को त्यागकर धन-जन-गृह ऐश्वर्य सबकुछ छोड़कर, सर्वस्व भूलकर निद्रा के अन्धकारमय-दुर्ग में प्रवेश कर चुके थे। इन्द्रिय-सुख जिस प्यारी देह की बदौलत उन्हें मिला करता था, शान्ति के लालच ने उनसे उसका भी त्याग करा दिया था। वह देह-बिस्तर पर शिथिल वस्त्र की तरह पड़ी हुई थी। दिन-भर के चंचल संसार में, शान्ति-साधना में बाधाएँ झेलते हुए रात को अवसर पा एकाग्र चित्त से योगी शान्ति की सच्चिदानन्द-मूर्ति का ध्यान कर रहा था। निशाचर जीव, चोर-डाकू, जुआड़ी और लम्पट इस निस्तब्धता में अपनी पैशाचिक-कीर्ति फैला रहे थे। आसव प्रमत्तांगिनी वारांगनाएँ विभ्रम भाव से शय्या पर पड़ी हुई नैश अत्याचार का प्रत्यक्ष उदाहरण दे रही थीं। बड़े-बड़े नगरों और जनपदों में मनुष्य-रूपी पिशाचों का अत्याचार था और अरण्यों में हिंसक जन्तु अपनी जिघांसा-वृत्ति चरितार्थ कर रहे थे। परन्तु यह इतना भी अत्याचार शान्तिमयी रात्रि के उदार हृदय को चंचल नहीं कर रहा था। यह उसके अंग में, चन्द्रमा में कलंक की तरह था, इससे उसकी

शोभा ही बढ़ती थी।

गहन अरण्य के एक ओर चिन्ता में डूबा हुआ एक बालक मन-ही-मन अपने भविष्य की चिन्ता कर रहा है। वह मनुष्य है, मनुष्य का हक लेकर पैदा हुआ है, मनुष्य से मनुष्योचित व्यवहार की आशा रखता है, मनुष्यों की सम्पूर्ण वृत्तियाँ उसके अन्दर भी विराजमान हैं। चाहे उनका रूप बहुत क्षुद्र ही क्यों न हो— चाहे अनुकूल अवस्था के अभाव से अब तक उनकी अंकुरित दशा भी विपरीत ही क्यों न हो—वे बीज-रूप में ही क्यों न हों। तिरस्कार, घृणा, अपमान, अत्याचार, निर्यातन इन पाशविक प्रवृत्तियों के विरोध के लिए आज उसके खून का हरएक बूंद तीव्र गति से उसे कार्य्यतत्पर कर रहा है। बालक सोच रहा है इस अत्याचार का उपाय। चिरकाल से मनुष्य जाति, मनुष्य जाति पर जो अत्याचार करती चली आ रही है—इसका कारण, साथ ही इसका प्रतिशोध भी। वह अत्याचार सहने के लिए नहीं आया, राजा को ऐश्वर्य के साथ परम सुन्दर सुसंगठित स्वरूप देते हुए विधाता को जितनी चित्रण-कुशलता दिखानी पड़ती है, उतनी ही दरिद्र को दीन-हीन और निराश्रय करके चित्रण करते हुए भी। सौन्दर्य, ऐश्वर्य, विभूति, पूर्णता एक उच्च वंश में, एक सम्राट् में जितनी है उतना ही ऐश्वर्य, उतनी ही विभूति, उतना ही सौन्दर्य और उतनी ही पूर्णता एक भिक्षुक में भी है। दोनों के रूप भी वस्तुत: एक ही ठहरेंगे। सम्राट् के लिए प्राप्ति की पूर्णता का भाव सौन्दर्य है, तो भिक्षुक के भीतर कुछ नहीं की पूर्णता और अभाव का सौन्दर्य है। दोनों भरे-पूरे हैं अपने-अपने सौन्दर्य की सृष्टि से, अपने-अपने विलास की कमनीयता से। फिर एक दूसरे का इतना अनादर क्यों करता है? एक दूसरे के खून का प्यासा क्यों बना रहता है?—एक दूसरे की लाश पर अपनी विभूति क्यों दिखलाना चाहता है? बालक यही सोच रहा है। उसके हृदय में तीव्र जिज्ञासा जगी हुई है, और वह इसी दर्द की दवा के लिए व्याकुल हो रहा है। उपाय उसकी माता ने बतलाया तो, पर उस ईश्वर का पता क्या है? कहाँ जाया जाय तो उससे मुलाकात हो और सृष्टि की इस नृ:शंसलीला पर वह प्रश्न करे?

ध्रुव के हृदय में जहाँ अत्याचारी संसार का घोर विरोध भरा हुआ था, वहाँ मनुष्यों के प्रति सहानुभूति का महासागर उमड़ रहा था। ज़रा-सा बालक भाव की प्रशस्त ऊर्मियों पर तिनके की तरह बह रहा था। प्रतिकार के लिए उसने निश्चय कर लिया कि मैं उस ईश्वर को अवश्य खोजूंगा, उससे अवश्य मिलूंगा और इस नरक से भी बढ़े हुए संसार के आगे, आज तक रहते हुए भी जिस प्रश्न की मीमांसा नहीं हो सकी, उसे हल करके दिखलाऊँगा। परन्तु घर पर, माता की स्नेह-गोद में अगर सुख के चुम्बनों में भूल रहा तो समय मेरे संकल्प को अवश्य भुला देगा। माता की ममता मेरी दृढ़ता को परास्त कर देगी। एक वार सहकर, दो वार सहकर सहने की मुझे आदत पड़ जायगी। सम्भव है कि फिर इस अन्वेषण से मन हट जाय। ऐसा हरगिज न होगा। मुझे आज ही और इसी समय से अपने प्रश्न के उत्तर के लिए तैयार हो जाना चाहिए।

ध्रुव ने मकान छोड़ दिया। माता की गोद का लाल, चिरदु:खिनी के अंचल का हीरा, उसे स्वप्न-राज्य में कुछ देर के लिए अपना दु:ख भूली हुई देख, अपना प्रकाश लेकर वहाँ से चल दिया, माता को एक दूसरा मधुरतर प्रकाश देने का दृढ़ संकल्प करके अरण्य-भूमि की नैश-निस्तब्धता के भीतर से अपने विचारों का दृढ़-बालक ध्रुव परमात्मा की खोज के लिए चल दिया ! न शंका है, न विपेक्ष। देह की कोई सुध नहीं। चित्त परमात्मा में लगा हुआ, हृदय आशा से भरा हुआ है, मन संकल्प की दृढ़ता से अविचल। जंगल से बाहर निकलने की कुल पगडण्डियों से बाल्य-क्रीड़ा करते हुए ध्रुव के चंचल-चरण परिचित हो चुके थे। बालक चुपचाप तपोवन पार कर गया। सामने दूर तक फैला हुआ मैदान मिला। एक पगडण्डी उसके बीच से गयी थी। ध्रुव चलने लगे। उनका प्रश्न दुरूह और महान् था। उधर परमात्मा भी असीम, अनन्य और महान् थे। ध्रुव का धैर्य और साहस भी असीम और महान् था, इधर मार्ग भी अज्ञात दूर तक फैला हुआ असीम और महान् हो रहा था। क्षुद्र थी केवल उनकी देह। परन्तु उस बूंद में सागर भरा हुआ था।

ध्रुव अपनी धुन में रास्ता पार करते जा रहे थे। आज तक तपोवन की सीमा तक ही उनका परिचित संसार था। कभी दूर तक चले न थे। चलने की उम्र भी न थी। जंगल से बाहर निकलकर खुले मैदान में कुछ दूर जाते ही जाते ऊषा की ललाई पूर्व के आकाश में फैलने लगी। धीरे-धीरे उसकी गोद में सूर्य भी दिखायी पड़े। रात के विश्राम का अन्त हो गया। जीवों की आँख खुल गयी। जीवन में नयी स्फूर्ति का संचार होने लगा। उधर पर्णकुटीर में रानी सुनीति भी जगीं। उनकी चिर-सहचरी दासी मधुमती उनसे कुछ पहले ही उठी थी। रानी ने फूस की सथरी पर ध्रुव को न देखा तो चित्त एकाएक चंचल हो उठा। दासी से पूछा, वह ध्रुव का हाल न बता सकी। धैर्य का बाँध टूट गया। पिछले दिन ध्रुव से जैसी बात-चीत हुई थी, उससे माता के हृदय में बच्चे के लिए तरह-तरह की शंकाएँ उठने लगीं। दासी के भी होश उड़ गये। दोनों दौड़ी हुई ऋषि-पत्नियों के पास गयीं। उनसे ध्रुव का पता पूछा। परन्तु वहाँ ध्रुव गये ही न थे, कोई क्या कहती। तपोवन भर में खलबली मच गयी। सबको मालूम हो गया कि कल रात से ध्रुव गायब हैं। ध्रुव के साथी बालकों ने जंगल-भर की खाक छान डाली। पर कहीं पता न चला। रानी सुनीति सिर पीटकर रोने लगीं। मुनि-पत्नियाँ भी ध्रुव के लिए विलाप करने लगीं। दासी दौड़ी हुई राजधानी में महाराज को खबर देने चली गयी। बालक चारों ओर तलाश कर हार गये। रानी का इकलौता लाल गोद से उठ गया, उसके सिर पर दु:ख का पहाड़ टूट पड़ा ! रोती हुई अपने भाग्य को कोसने लगीं।

"हे परमात्मा ! यह क्या तुम घाव पर घाव कर रहे हो ? मेरा लाल, मेरी गोदी का खिलौना, मेरी आँख की पुतली, मुझ अनाथ दु:खिनी का सहारा कहाँ चला गया ? भगवन्, तुम बड़े दयालु हो, दया के सागर। संसार तुम्हारे गुण गाता है। बड़े-बड़े मनीषी तुम्हारी कृपा का प्रचार करते हैं। परन्तु आज मेरे ऊपर तुम्हारी कृपा क्यों नहीं होती ? भगवन्, क्या तुम भी गरीबों को ही मारते हो ?

क्या पिसे हुओं पर तुम भी पत्थर फेंकते हो ? क्या कुचले हुए को तुम भी रौंदते हो ? मुझ दु खिनी को तुम्हीं ने वह भीख दी थी—भगवन् ! देखकर क्या तुम भी लौटा लेते हो ? नहीं, तुम इतने निष्ठुर कदापि न होगे, इतने निर्दय कभी न होगे। तो दे दो, मेरा लाल जहाँ हो, मुझे ला दो। मेरी गोद सूनी न करो प्रभो ! मेरा दुःख तुम जानते हो—खूब जानते हो—तुम अन्तर्यामी जो हो तो फिर क्यों मुझे रुला रहे हो ? तुम्हें दया नहीं आती ? भगवन् ! अबला को मारकर तुम वीर न कहलाओगे—नन्हें से बच्चे को छीनकर तुम शूर न हो जाओगे। ला दो कहाँ है मेरा लाल ? अरे ! तुम इतने निर्दय हो ! मैं महारानी थी—मुझे तुमने भिखारिन बना दिया—क्या मैंने कोई कसूर किया था—क्या तुम्हारी पूजा में कभी कोई त्रुटि हो गयी थी ? फिर तुम क्षमा-निधान कैसे हो ? सच कहती हूँ, अगर मेरा लाल मुझे न मिला, तो मैं तुम्हें शाप दूँगी ! क्या तुम शाप से नहीं डरते ? नहीं, डरना होगा, बड़ा कठोर शाप दूँगी—चैन न पाओगे, नहीं तो मेरा लाल मुझे फेर दो ! फेर दो ! फेर दो ! कहाँ गया वह ? कोई उठा तो नहीं ले गया ? किसी ने मार तो नहीं डाला ? आह ! तुम ले आओ, वह जहाँ हो वहाँ से ले आओ। यमलोक ! क्या वहाँ तुम्हारी पैठ नहीं है ? मेरे साथ छल-कपट न करो—वह भी तो तुम्हारा ही बनाया हुआ है। लाओ—वहाँ से भी ले आओ, हाय लाल ! कहाँ चले गये तुम ? मुझे अकेली छोड़कर चले गये ! अरे ! अम्मा की याद न आयी तुम्हें ?"

रानी बिलकुल पगली-सी हो गयीं ! पुत्र को ही देखकर वे जीती थीं। दुःख के महासागर में वही उनका अवलम्ब था। उसे देखकर ही अपने दुःख को भूली हुई थीं। मुनि-पत्नियाँ भी ध्रुव को जी से प्यार करती थीं। उनके हृदय में भी ध्रुव के लिए करुणा की धारा बह रही थी। परन्तु उस समय उन्होंने अपने को सँभाला। रानी को धैर्य देने लगीं। ध्रुव के लिए उन्हें बहुत समझाया कि हताश न हो वह कहीं न जायगा। उसके लिए भय क्या है ? ऋषियों की बात टल नहीं सकती। ध्रुव को वे बडी उच्च-दृष्टि से देखते हैं। ध्रुव को संसार में परमात्मा की महान् कीर्ति फैलाने के लिए आया हुआ महापुरुष वतलाते हैं। उनकी बात पर विश्वास करो। इतनी अधीरता दुर्बलता की सूचक है। ध्रुव के लिए सब तरह के भय को हृदय से दूर कर दो। वह जहाँ होगा, आनन्द से ही होगा।

उधर दासी मधुमती के मुख से ध्रुव के गायब हो जाने की खबर महाराज उत्तानपाद को मिली। आग की तरह खबर तमाम राजधानी में फैल गयी। महाराज तो कलेजा थामकर ही रह गये। पुत्र के अदर्शन का शोक उनके लिए असह्य हो गया। उधर मन्त्रियों ने भी समाचार सुना। उन लोगों ने अनुमान लगाया कि यहाँ से रानी के द्वारा तिरस्कार किये जाने के कारण सम्भव है कि ध्रुव को आत्मग्लानि हुई हो और इसलिए वे अपनी कुटिया छोड़कर कहीं चले गये हों। इस अनुमान पर मन्त्रियों को विश्वास हो गया। उन्होंने समागत दासी से पूछा तो मालूम हुआ कि यहाँ के तिरस्कार और रानी के द्वारा किये गये अपमान की बातें अपनी माता से

उन्होंने कही थीं। माता ने इसके उत्तर में कहा था कि परमात्मा के हाथ इसका प्रतिकार है, वे चाहें तो इससे बड़ा कोई राज्य तुम्हें दे सकते हैं। दासी के मुख से ध्रुव के सम्बन्ध की ये बातें सुनकर मन्त्रियों को अपने अनुमान पर विश्वास हो गया। वे राजा के पास इसके प्रतिकार के लिए गये। राजा अगर ध्रुव की कुछ सहायता करें, यदि उनकी माता के भोजन-वस्त्र का दुःख दूर करें, तो सम्भव है कि ध्रुव का पता लग जाने पर उन्हें मना लिया जाय। मन्त्रिमण्डल महाराज के पास पहुँचा। राजा उदास भाव से बैठे हुए थे। मन्त्रियों ने प्रणाम किया। राजा चुपचाप बैठे ही रहे, प्रणाम करने पर भी मन्त्रियों से कोई बातचीत न की। मन्त्रियों को महाराज के मन की अवस्था मालूम हो गयी।

विनयपूर्वक महाराज से मन्त्रियों ने कहा, "राजन्, ध्रुव का पता लगाया जाय तो लग सकता है। क्योंकि दासी के मुख से उनके जहाँ तक समाचार विदित हो सके हैं, उनसे मालूम होता है कि वे यहाँ अपमानित होने के कारण ही क्षोभ में आकर कहीं चले गये होंगे। अगर उनके और महारानी सुनीतिजी के लिए भोजन-वस्त्र का कोई उत्तम प्रबन्ध कर दिया जाय, तो आशा है कि वे लौट आवें।"

महाराज को मन्त्रियों का प्रस्ताव बहुत पसन्द आया। उन्होंने कहा, "ठीक है, दोनों वक्त दो सेर आटा और वस्त्र उनको मिलता रहेगा। वे नाराज होकर कहीं चले गये हों, तो उन्हें बुलवा लीजिए।"

मन्त्रिमण्डल ने महाराज को प्रणाम कर ध्रुव की खोज करने के लिए चारों ओर दूत भेजे। बात-की-बात में सारे राज्य में खबर फैल गयी। दूत भी बड़ी चौकसी से ध्रुव को खोज रहे थे। बहुत शीघ्र ही ध्रुव का पता लग गया। दूतों ने राह में उनसे प्रार्थना की कि अब रुक जायँ, जब तक महाराज के पास से कोई खबर न आ जाय। दूत की बात सुनकर ध्रुव वहीं रुक गये। एक आदमी उनके पास बैठा रहा। और लोग राजधानी को खबर देने के लिए लौट आये। पहले मन्त्री को समाचार दिया गया। ध्रुव के मिल जाने के संवाद से वे बहुत प्रसन्न हुए। दूतों को बड़ा इनाम दिया। फिर वे अपने सहायक मन्त्रियों को साथ लेकर राजा के पास गये। ध्रुव के मिल जाने का संवाद पा महाराज के तो आनन्द का ठिकाना ही न रहा। उन्होंने कहा. अच्छा हुआ, रानी सुनीति को ध्रुव के बिना बड़ा दुःख हो रहा होगा। जिस तरह हो ध्रुव को मनाकर सुनीति के पास छोड़ आइए।

मन्त्री प्रणाम कर लौट आये। दूतों को बुलाकर कहा कि ध्रुव से जाकर कहो, महाराज ने तुमको दो सेर आटा और वस्त्र देना मंजूर किया है, आप अपनी माता के पास लौट जायँ।

राजा की आज्ञा ध्रुव के पास पहुँचकर दूतों ने सुनायी। नम्रतापूर्वक ध्रुव ने कहा, "भाई, महाराज से मेरा प्रणाम कहना। मुझे अब उनकी कृपा की आवश्यकता नहीं है। मुझे कृपा के आगार परमात्मा की ही कृपा चाहिए। वे मुझ पर दयाभाव रक्खें और मेरी माता पर उनकी जैसी कृपा है, वह मैं प्रत्यक्ष देख चुका हूँ। मुझे अब किसी दूसरे का भरोसा नहीं रहा।"

दूत लौट आये। मन्त्री से ध्रुव का सब हाल कहा। ध्रुव की बातें सुनकर मन्त्री के तो होश उड़ गये। इतनी दृढ़ बात उन्होंने कभी न सुनी थी। महाराज के पास जाकर उन्होंने ध्रुव की बातें सुनायीं। महाराज भी दङ्ग रह गये। बालक आज परमात्मा के पास अपनी फरियाद लेकर जा रहा है, सोचते ही बदन काँपा—अङ्ग-अङ्ग में भय समा गया, जैसे ध्रुव के साथ उन्होंने कोई बड़ा अन्याय किया हो। उनकी अन्तरात्मा बड़े ऊँचे शब्दों में उनके अन्दर पुकार-पुकारकर कहने लगी, 'तुम दोषी हो, परमात्मा तुम्हें दण्ड देंगे। तुमने बालक के साथ, उसकी माता के साथ, करोड़ों मनुष्यों के नायक राजा होकर घोर अन्याय किया है—उनके प्रति घोर अविचार किया गया है। परमात्मा तुम्हें इसके बदले अवश्य दण्ड देंगे।' राजा का चेहरा उतर गया। उन्हें विश्वास हो गया कि वे दोषी हैं। उन्होंने मन्त्री से कहा, "ध्रुव को अवश्य लौटा लाओ—कहो, उसका हिस्सा, आधा राज्य उसे दिया जायगा, वह लौट आयें।"

मन्त्री ने फिर दूत भेजा। आधा राज्य देने के कौल पर ध्रुव को लौटा लाने के लिए कह दिया। दूत को जैसा कहने के लिए कहा था, ध्रुव के पास जाकर उसने उसी तरह आधा राज्य देने का समाचार सुना दिया। ध्रुव बड़े चकित हुए। सोचा—परमात्मा की कृपा तो यहीं प्रत्यक्ष हो गयी। अभी परमात्मा के दर्शन भी नहीं हुए और आधा राज्य मिलने लगा! उनके दर्शन से न जाने मुझे कितना बड़ा लाभ हो। मुझे यह अवसर कभी न चूकना चाहिए। दूत को पास बुला, बड़े मधुर शब्दों में उसे समझाते हुए ध्रुव ने कहा, "दूत, महाराज की उदारता के लिए मैं उनका चिर-कृतज्ञ रहूँगा। पर उनसे कहना कि यह सब मैं परमात्मा की ही कृपा समझता हूँ। जिनका नाम लेकर बाहर निकलने के साथ मुझे आधा राज्य मिलने लगा, उनसे साक्षात्कार होने पर अवश्य ही मुझे इससे बढ़कर लाभ होगा। इसलिए मैं अब परमात्मा से मिलकर ही अपने भाग्य की परीक्षा करूँगा। मेरी दुःखिनी माता से मेरा प्रणाम कहना और कहना कि ध्रुव तुम्हारी ही आज्ञा से परमात्मा से मिलने जा रहा है, उसके लिए कोई चिन्ता न करो, परमात्मा सदा उसकी रक्षा करेंगे।"

इतना कहकर सिर झुका मन-ही-मन परमेश्वर की कृपा पर विचार करते हुए ध्रुव आगे बढ़े। दूत लाचार होकर लौट आये। मन्त्री को खबर दी। सब समाचार सुनाया। मन्त्री दङ्ग रह गये। त्याग की महत्ता के सामने आप-ही-आप उनका मस्तक अवनत हो गया। मन-ही-मन ध्रुव को उन्होंने प्रणाम किया। फिर महाराज के पास गये। ध्रुव के आधा राज्य पाने पर भी न लौटने का समाचार सुन महाराज को बड़ा आश्चर्य हुआ। इतना बड़ा त्याग अपने जीवन में उन्होंने कभी न देखा था। ध्रुव के त्याग से उनकी बुद्धि भी ठिकाने आ गयी। वे सँभल गये। परलोक की याद आयी। बुरी लतें छूटने लगीं। भोग से चित्त हट गया। कर्म की प्रवृत्ति बढ़ने लगी। राज्य का प्रबन्ध अच्छी तरह होने लगा। प्रजा भी पहले से सुखी रहने लगी।

यह खबर महारानी सुनीति के पास भी पहुँची। पुत्र के त्याग का आदर्श देखकर स्नेह के कारण पैदा हुआ उनका मोह जाता रहा। त्याग के प्रभाव ने उनमें ज्ञान की ज्योति फैला दी। उन्हें नश्वर और अविनश्वर का बोध हो गया। जितने कष्टों का सामना अब तक वे करती आयी थीं, वे सब पुत्र के आदर्श से उन्हें बहुत ही तुच्छ जँचने लगे। भोग-वासना की रही-सही इच्छा को भी हृदय से निकाल देने का आग्रह बढ़ा। मन तपश्चर्या की ओर झुका। पुत्र को परमात्मा के चरणों में समर्पित करने का एक अज्ञात गर्व-सा होने लगा। सबसे बड़े कार्य को पूर्णतया सफल कर सकने के कारण माता के अन्तरात्मा में एक प्रकार की शक्ति आने लगी। सब विकार दूर हो गये। मन में पूजा-पाठ, साधना-भजन और सत्सङ्ग की इच्छा प्रबल हो उठी। तपोवन में मुनि-पत्नियों के साथ वे सुखपूर्वक रहने लगीं।

षष्ठ परिच्छेद

नारदजी का उपदेश

ध्रुव चले गये। स्नेह की मूर्ति माता, साथ के खेलनेवाले मुनियों के बालक, प्रकृति की प्यारी मुस्कान पर इतराती हुई—हरी-भरी, कितने ही प्रकार के सुगन्धित फूलों से लहलहाती लताओं और कोमल पल्लवोंवाली अरण्य भूमि, प्रभात की किरणों से नहाई हुई, सर्वस्व समर्पित करने के लिए पुष्पाञ्जलि लेकर, परमात्मा को नित्य ही अर्घ्य देनेवाली वह विभूति, पीछे पड़ी रह गयी। उस ओर से बालक ध्रुव के हृदय में तीव्र वैराग्य की उत्पत्ति हो गयी। वह उससे भी बढ़कर एक दूसरे सत्य की खोज के लिए व्याकुल हो रहा है। आज अपने परिमित सुख की सीमा में बँधा रह-कर संसार के सामने एक बहुत बड़े रहस्य पर पर्दा नहीं पड़ा रहने देना चाहता। वह चाहता है, चिर-काल के लिए दुख, अपमान, निरादर, असन्तोष, राक्षसी-वृत्ति और निर्दयता के तत्त्व—क्रूरता से बचने का उपाय मनुष्यों को मालूम हो जाय। वह चोट सहकर चुपचाप रह जानेवाली प्रकृति को लेकर नहीं पैदा हुआ।

सिर झुकाये अपनी भावना में मस्त, बालक सामने के अगणित अद्भुत दृश्यों को देखता हुआ चला जा रहा है। कितने ही प्रान्त, शस्य-श्यामल कितने ही खेत, कितने ही समृद्धिशाली प्रसिद्ध नगर, कितनी ही वरसि-विक्षुब्ध नदियाँ, कितने ही विशाल सरोवर छूट गये, वे बालक का ध्यान अपनी सुहावनी सृष्टि की ओर आकर्षित न कर सके। प्रभात की स्वर्ण-किरणों की चपल बाल-लीला, दुपहर की उग्र मूर्ति की कराल विभीषिका, अस्तगामी सूर्य का अन्तिम अभिवादन, सब समाप्त हो गया, पर बालक की वृत्ति ज्यों-की-त्यों सुमेरु की तरह से अटल,

समुद्र-सी गम्भीर, रात्रि-सी गहन और धरित्री-सी धीर बनी रही। लगन में कोई बाधा उसे पराजित न कर सकी। लक्ष्य से कोई प्रलोभन उसे च्युत नहीं कर सका।

मार्ग में सप्तर्षि मिले। ऋषियों को बालक की मनोहर, शान्तमूर्ति पर दया आयी। उसमें ऐसा ही अपनाव था। ऋषियों का सत्त्वगुण, बालक के महासत्त्व की ओर आप-ही-आप खिंच गया। ऋषियों का मौन ध्यान ईश्वर से हटकर बालक की ओर चला गया। संसार को भूले हुए ऋषियों ने संसार की एक अनमोल रचना प्रत्यक्ष देखी। खड़े हो गये। पूछा, "बेटा, तू कौन है ? कहाँ जा रहा है ?"

ध्रुव ने भी नजर उठायी। सामने ऋषियों की मूर्तियाँ देखकर भूमिष्ठ हो उन्हें प्रणाम किया। ऋषियों को परम प्रसन्नता हुई। आशीर्वाद दिया। ध्रुव बोले, "भगवन्, मैं महाराज उत्तानपाद का पुत्र हूँ। मेरा नाम ध्रुव है। मेरी माता को, मेरी विमाता जब आयी, पिताजी ने निर्वासित कर दिया है। वहीं—जङ्गल में मेरी उत्पत्ति हुई। ऋषियों की कृपा से वहीं मैं पला भी। एक दिन मैं पिता के यहाँ, अपने साथी मुनि-कुमारों के साथ गया। पिताजी ने मुझे अपनी गोद में बैठा लिया। यह देखकर मेरी विमाता से नहीं रहा गया। उसने मेरी बाँह पकड़ और घसीटकर मुझे पिताजी की गोद से नीचे उतार दिया। भगवन्, तब से मेरे हृदय को बड़ा दुःख हुआ है। क्यों मनुष्यों को इतना लांछन सहना पड़ता है ? मैंने अपनी माता से पूछा तो उन्होंने मुझे ईश्वर से इसके कारण का प्रश्न करने के लिए कहा। मैं अब ईश्वर की खोज के लिए जा रहा हूँ।"

इतना कहकर ध्रुव चुप हो गये। आँखें नीची कर लीं। सातों ऋषि एक-दूसरे की ओर देखकर मुस्कराये। ध्रुव को आशीर्वाद दिया। कहा, "बेटा, तुमसे संसार को बहुत बड़ा लाभ होगा। तुम संसार के सामने अविनश्वर आदर्श की स्थापना करने के लिए आये हो। तुम्हें भेजकर परमात्मा अपने एक बहुत बड़े उद्देश्य की सिद्धि करना चाहते हैं। हमें दृढ़ विश्वास है, तुम भी दृढ़ रहो, तुम्हारा मनोरथ पूरा होगा।"

आशीर्वाद देकर सातों ऋषि चले गये। ध्रुव का विश्वास और दृढ़ हो गया। दुर्बलता पर विजय पाने की एक अज्ञात शक्ति उनके अन्दर उमड़ आयी। चलते-चलते परम रमणीय प्राकृतिक दृश्य के एक अपूर्व नन्दन-वन में ध्रुव पहुँचे। चारों ओर से स्वर्गीय-स्वप्न की मनोमोहिनी माया में चिरकाल के लिए जीवों को लुभा रखने की शक्ति उस वन के पल्लव-पल्लव पर क्रीड़ा कर रही थी। ध्रुव को वह स्थान बड़ा ही हृदयग्राही जान पड़ा। इधर-उधर छोटी-छोटी पहाड़ियाँ वनदेवी की शोभा पर गौरव-किरीट-सा धारण किये हुए थीं। छोटे-छोटे झरने, हृदय के बहते हुए आनन्दोच्छ्वास हो रहे थे। चिड़ियों की चहक आनन्द की स्वागत-रागिनी थी। उस सजीवता को आँख खोलकर तृप्ति के साथ बड़ी देर तक ध्रुव देखते रहे। दिन-भर की थकावट क्षण-भर की शान्ति से जाती रही। निराशा की अलस-अँगड़ाइयाँ दूर हो गयीं। उस सजीवता से हृदय में भी सजीवता आ गयी।

ध्रुव एक छोटी-सी चिकनी शिला पर बैठ गये। अपने भविष्य को कल्पना के सहारे देखने लगे। ईश्वर के प्रत्यक्ष करने का उपाय सोचने लगे।

विश्राम लेने के लिए दिन-भर के थके हुए सूर्य अस्ताचल की ओर धीरे-धीरे प्रस्थान कर रहे थे। कनक-किरणों के साथ ही सब जीवों की सजीवता भी संसार की गोद से मिटती जा रही थी। निद्रा के रङ्गमहल में थके-माँदे लोगों के शरीर आराम करने के लिए शिथिल पड़ते जा रहे थे। सुख और आलस्य के सामान भी विधाता की कृपा से उचित समय पर ही मिलते हैं।

सूर्य अस्त हो गये। किरणों का राज्य उठ गया। संसार पर शिथिलता का जादू चलने लगा। जीवों ने विश्राम की शरण ली। परन्तु ध्रुव उसी वन में चुप-चाप अपने भविष्य की चिन्ता में डूबे हुए विचार कर रहे हैं। इतनी दूर तो वे चले आये, पर अब क्या करें। चारों ओर से न जाने कितनी दूर तक मार्गों का प्रसार बढ़ता ही चला गया है। क्या वे चिरकाल तक मार्ग पार करते हुए अपने उद्देश्य की सिद्धि तक पहुँच सकेंगे ? अन्तरात्मा इससे इन्कार कर रहा था। परन्तु उपाय भी दूसरा न सूझ रहा था। कहाँ जायँ ? किस तरह पुकारें ? कैसे ईश्वर की कृपा उन पर हो ?

सोचते-ही-सोचते हृदय की विकलता सीमा को पार कर गयी। क्षण-भर के लिए एक दुर्बलता सामने आकर खड़ी हो गयी। साहस का बाँध टूट गया। आँखों पर निराशा की घटा उमड़ आयी। शिथिलता के बूँद टपकने लगे। ध्रुव का सर्वाङ्ग धो गया—ढीला पड़ गया, हाथ हिलाने की ताक़त भी जाती रही। कुछ देर के लिए मूर्छा-सी आ गयी। बालक अपना प्रण, अपना अपमान, अपना वर और अपनी स्नेह की मूर्ति माता को भी भूल गया। मूर्च्छा के अन्धकार में उसे पहर-भर तक अपनी देह दशा की भी खबर न रही।

जङ्गल में चारों ओर हिंस्र-जन्तुओं का राज्य था। अपने-अपने शिकार की तलाश में सब फेरी लगा रहे थे। मूर्च्छित-बालक के पास भी आये। पर सूँघकर ही लौट गये। हिंस्र-जन्तुओं की हिंसावृत्ति को बालक के अन्दर अपना विरोधी-भाव नहीं मिला। हिंसाकार्य में इसलिए उन्हें सफलता नहीं हुई।

ध्रुव की आँख खुली। देखा, चारों ओर सन्नाटा था। पेड़ों की पत्तियाँ भी नहीं हिलती थीं। जमीन और आसमान पर अन्धकार का राज्य था। ध्रुव को माता की आज्ञा याद आयी। सप्तर्षियों का बँधाया हुआ साहस याद आया। हृदय में एक बार फिर जोश की तरंगें उठने लगीं। फिर निश्चय हुआ कि जीवन में मृत्यु का सामना एक ही बार तो करना है, फिर क्यों न मैं इस महान् प्रश्न को सामने रखकर मृत्यु के लिए तैयार रहूँ। अगर मनोरथ सिद्ध न हुआ, अगर घर लौटना पड़ा तो उस जीवन से तो विफल-मृत्यु ही मेरे लिये गौरवप्रद होगी। इतना सोचने के साथ ही हृदय में वैसी ही नवीन स्फूर्ति उमड़ आयी। आत्मा को कर्तव्य-मार्ग पर अटल रहने का आदेश करने लगी। ध्रुव एक यन्त्र की तरह आशा और निराशा का घनघोर संग्राम देखते रहे। शक्ति को प्रलयङ्करी तरङ्गों पर

बुदबुदा-सा बैठा हुआ बालक उसकी विश्वग्रासिनी लीला प्रत्यक्ष करने लगा।

धीरे-धीरे उत्थान और पतन के भीतर से, तमाम रात पार हो गयी। रोज की तरह फिर पूर्व के आकाश में ऊषा की अरुण आभा संसार की सुप्ति को अपनी प्रस्फुट मुस्कान में मिला लेने के लिए आ गयी। जागरण के तप्त-चुम्बन-स्वरूप सूर्य भी धीरे-धीरे निकल आये। प्रभाती की स्वरहिलोर फिर पृथ्वी के एक प्रान्त से दूसरे प्रान्त तक धावा मारने लगी। ध्रुव के मन में इस दैनिक-दृश्य से भी वैराग्य हो गया। उदासीनता असफल शरीर के अणु-परमाणु से सूचित हो रही थी, मानो शरीर तक का त्याग कर ध्रुव अपने लक्ष्य पर पहुँचने के लिए तैयार हो रहे थे।

बालक की तीव्रता ने गुरु को आकर्षित किया। गुरु-रूपी आइने में ही परमात्मा का प्रतिबिम्ब पड़ता है—गुरु और परमात्मा अभेद हैं, शास्त्रों की यह उक्ति सप्रमाण सिद्ध हो गयी। ध्रुव की विकलता ज्यों-ज्यों बढ़ती जा रही थी, त्यों-त्यों उनके गुरु नारद भी समीपवर्ती होते जा रहे थे। यथासमय पर गुरु की भावी-दृष्टि शिष्य पर पड़ी। उन्होंने ईश्वराराधनरूपी महाभाव के धारण करने-वाले अधिकारी को पहचाना। सामने आकर खड़े हो गये। पूछा, "बेटा, तू कौन है ? इस एकान्त स्थान में तू कैसे आया ?"

रात-भर की चिन्ता के बाद ध्रुव ने निश्चय कर लिया था कि उस देह से कोई फल नहीं है, जिससे परमात्मा के दर्शन न हों। शरीर त्याग के इस महा-सङ्कल्प के पश्चात् उन्हें सृष्टि की सभी वस्तुओं में चेतन की सत्ता दिखलायी पड़ने लगी थी। परन्तु उस समय भी ये जड़ से चेतन को अलग नहीं कर सके थे। जड़ का लगाव उनमें तब तक बना रहा था। जो कुछ देखते थे, उसमें एक साथ ही जड़ और चेतन दोनों उन्हें दिखलायी पड़ते थे। ईश्वर की चिन्ता करते-करते ईश्वर केसिवा और कुछ उनके मुख से न निकलता था। सुबह को सृष्टि की जितनी रचनाएँ देखीं, उन पर ईश्वर का भ्रम होने लगा था—वे उन्हें ईश्वर कहकर पुकारते थे। यह भ्रम गुरु के आने पर भी उन्हें हुआ।

ध्रुव बोले, "क्या तुम मेरे ईश्वर हो, भला तुम्हें इतनी देर करके आना था ? —देखो तो मेरी क्या दशा हो रही है। अब तक तुम कहाँ थे ? मेरी माता ने कहा था कि तुम सब जगह हो। रात-भर मुझे यहाँ कितनी तकलीफ मिली, क्या तुम नहीं जानते ?"

नारद—"बेटा, अपनी प्रकृति को शान्त करो। तुम्हारी आँखें कह रही हैं, रात को तुम्हें नींद नहीं आयी। क्या तुम रात-भर से यहीं पड़े हुए हो ? बेटा, मैं ईश्वर नहीं। मैं उनका दास हूँ। परन्तु तुम चिन्ता न करो। ईश्वर तुम पर प्रसन्न हैं। हृदय को धैर्य दो। बेटा, ईश्वर के लिए करोड़ों जन्म तक की साधना और धर्म चाहिए। इतना अधीर होना ठीक नहीं। बुद्धि को स्थिर करो। अभी तो तुम यह बताओ कि तुम कहाँ रहते हो ? तुम्हारे पिता-माता कौन हैं ? इस थोड़ी उम्र में कैसे तुम उनकी गोद को छोड़कर चले आये ?"

ध्रुव—"आपकी ऐसी ही आज्ञा है तो सुनिए। मेरा नाम ध्रुव है। मेरे पिता महाराज उत्तानपाद हैं। मेरी माता का नाम सुनीति है। मेरे पिता ने अपना दूसरा विवाह कर लिया और मेरी माता को निकालकर जङ्गल में रहने की आज्ञा दी। मेरी माता को इस आज्ञा से राजभवन छोड़कर जङ्गल में आकर रहना पड़ा। वहीं मैं भूमिष्ठ हुआ। एक दिन मैं पिता के दर्शन के लिए गया था, तब तक मुझे मालूम न था कि मेरे पिता कौन हैं। मेरे साथियों से मेरी माता का नाम सुनकर मेरे पिता ने मुझे अपनी गोद में बैठा लिया। पिता के पास उनके कुछ मन्त्री भी खड़े थे। उन्होंने मेरा बड़ा आदर किया। तब तक मेरी विमाता भी वहाँ आ गयीं। उन्होंने मेरी बाँह पकड़ मुझे नीचे उतार दिया। मेरे हृदय को इससे बड़ा दुःख हुआ। मैंने अपनी माता से पूछा तो उन्होंने मुझे अपमान का कारण ईश्वर से पूछने की आज्ञा दी। भगवन्, आप कौन हैं ? आप उनके दास हैं तो मुझे भी ईश्वर का दास कर लीजिए। मुझे उनसे मिला दीजिए। आप तो ईश्वर का पता जानते होंगे ?"

नारद—"बेटा, ईश्वर के दर्शन सहज ही में नहीं होते। ईश्वर के लिए अनेक जन्मों तक धैर्य रखना पड़ता है। वह बड़ा कठिन मार्ग है बेटा, इसमें बड़े-बड़े विघ्न हैं। अभी तुम्हारी उम्र बहुत थोड़ी है। इस उम्र में तुम इतना बड़ा साहस न करो। विमाता के किये हुए अपमान पर इतना क्षोभ क्यों करते हो ? मेरी बात मानो, घर लौट जाओ। तुम्हारी माता तुम्हारे बिना रोती होंगी। क्या तुम्हें अपनी माता की याद नहीं आती ? बड़े होकर अपनी माता की सेवा करो। उनको सुखी कर सकोगे तो तुम पर सब देवता आप ही प्रसन्न होंगे। यह मार्ग बड़ा कठिन है बेटा, बड़ा कठिन है।"

ध्रुव—"तो आप मुझे डराने आये हैं ? आप अपने को ईश्वर का दास भी बतलाते हैं और दूसरे उस मार्ग से रोकते भी हैं ! आप मुझे फेर न सकेंगे। मैं ईश्वर के नाम पर यहीं मर जाऊँगा पर अब घर नहीं लौटूंगा। भगवन्, मुझे विमाता के अपमान का बदला नहीं लेना है, न मुझे अपनी दुःखिनी माता के लिए ही चिन्ता है—क्या ईश्वर उनकी रक्षा न करेंगे ? वे बतलाती थीं—वहाँ के मुनि और मुनियों की पत्नियाँ भी कहती थीं कि एकमात्र ईश्वर ही सब लोगों की रक्षा करते हैं, उनकी कृपा से ही लोग साँस ले सकते हैं। भगवन्, क्या यह सब सत्य नहीं है ? मुझे अब भुलावे में न डालिये—बतलाइये, मैं आपको अब न छोड़ूंगा, बतलाइये, ईश्वर को मैं किस मार्ग से चलकर पा सकूँगा।"

ध्रुव की विकलता देखकर नारद को दया आ गयी। उन्होंने अपने शिष्य को पहचाना। उसके महान् भविष्य की याद करके उनके हृदय में आनन्द की लहरें उठने लगीं। ध्रुव की ओर स्नेह-भरी दृष्टि फेरते हुए कहा, "बेटा, तू मेरी बात न मानेगा ?"

ध्रुव ने अपनी कोमल बाँहों से महर्षि नारद के पैर पकड़ लिये। साथ ही बड़ी देर के रुके हुए वेदना के आँसू अनर्गल झरने की तरह बह-बहकर नारद के पैरों की

धूलि धोने लगे। करुण-कण्ठ से बालक ने कहा, "भगवन्, दया कर मुझे परमात्मा की राह बताइये, नहीं तो आपकी भी राह रुकी है। अन्धे को आँख दीजिए—प्रकाश में लाइये, उद्धार कीजिए!"

नारद—"ध्रुव, उठो! ईश्वर तुम पर प्रसन्न हैं। अपनी कठोर साधना से संसार को शिक्षा दो। मैं भी अपना कर्तव्य पूरा करता हूँ। बेटा, तुम्हारा मन्त्र यह है। (महर्षि ने ध्रुव को मन्त्र सुना दिया।) इसको जय-सिद्धि के समय तक न भूलना। सावधान—ध्रुव! माया के बहुत बड़े-बड़े प्रलोभन तुम्हारे सामने आवेंगे। स्वीकार न करना यदि इन्द्रत्व भी तुम्हें मिले तो वह भगद्दर्शन के मुकाबिले में तृण-तुल्य है—उस पर रीझ न जाना। बड़ी-बड़ी बाधाओं, बड़ी-बड़ी आपदाओं का सामना करना होगा। अपना धैर्य न छोड़ना। मैं सब समय तुम्हारे साथ ही रहूँगा। चिन्ता न करना। समय के आने पर मैं तुम्हें परमात्मा से परिचित करा दूँगा। परन्तु साधना के समय आठों सिद्धियाँ तुम्हें लालच में डालकर गिरा देने की भरसक चेष्टा करेंगी, उनसे सावधान, स्वीकार करोगे तो उससे बचाने की शक्ति मुझमें नहीं है, उनका भोग तुम्हें करना ही होगा। मैं ज्ञान के द्वारा तुम्हारी मदद करता रहूँगा, तुम किसी प्रलोभन में न पड़कर मेरी मदद से काम करना। जाओ बेटा! मैं हृदय से आशीर्वाद देता हूँ, तुम्हारा मनोरथ पूर्ण हो।"

ध्रुव ने भूमिष्ठ हो गुरु को प्रणाम किया। चरण-रज लेकर सिर पर धारण कर लिया। नारद ने फिर से आशीर्वाद दिया। शिष्य ने गुरु को पहचाना और शिष्य के भविष्य पर गुरु को भी गर्व होने लगा। चलते समय महर्षि नारद ने ध्रुव को एक और उपदेश दिया। कहा, "बेटा, यहाँ तुम्हारी साधना सफल न होगी, यह स्थान भी साधना के योग्य नहीं है। तुम यहाँ से यमुना-नदी के तट पर मधुवन में जाकर साधना करो। वहाँ स्थान की पवित्रता से तुम्हारा उपकार होगा।"

ध्रुव मधुवन चलने के लिए तैयार हुए, उधर नारदजी भी अपनी वीणा ले भक्ति-रस से भरे मधुर संगीत गाते हुए चल दिये।

सप्तम परिच्छेद

राजा उत्तानपाद का पश्चात्ताप

ध्रुव चले गये। नारद की इच्छा हुई कि चलकर उत्तानपाद से मिलें। ध्रुव पर उनकी निगाह कैसी है देखें, उनकी थाह लें, उधर रानी सुनीति को भी धैर्य दें, उनके पुत्र की खबर दें। आखिर ऋषि ही ठहरे, दया का स्रोत उमड़ पड़ा। चलें

महाराज उत्तानपाद से मिलने।

ध्रुव को महाराज उत्तानपाद उत्तम से कम प्यार न करते थे। उत्तम हमेशा आँख के सामने रहता है, ध्रुव जंगल में अपनी माता के पास रहते थे। परन्तु इससे प्यार में कोई कमी नहीं हुई थी। बल्कि इस भेद से प्यार और बढ़ गया था। उस प्यार के साथ एक सहानुभूति भी थी। मन की धारा भी कुछ ऐसी है कि वह दीनता को ज्यादा प्यार करती है, अकड़ से हटी रहती है। उत्तम जानता था, कि मैं राजा का लड़का हूँ, भविष्य में राजा होऊँगा। ध्रुव सोचते, कि मैं दुःखिनी माता की गोद का बालक हूँ। यह भेद महाराज उत्तानपाद के मन को अविदित न था। यही कारण था, दुःख की ओर निरपेक्ष मन का झुकाव ज्यादा था। परन्तु रानी के आगे उस मन की न चलती थी। वहाँ वह जैसे चिरकाल के लिए हार खा चुका हो। चिरकाल के लिए झुक गया हो। इसका कारण महाराज की समझ में न आया। वे नहीं समझ सके कि रूप का प्यार कैसे गुलाम बना लेता है, वह प्यार प्यार नहीं, बल्कि मोह है। मोह स्वभावतः निम्नाकांक्षी होता है, जिस पर सवार होता है, उसकी अधोगति हो जाती है। महाराज उत्तानपाद की वही दशा हुई। मन मुट्ठी से अलग होकर गुलाम बन गया था। उसकी चेतना जाती रही थी। हृदय में किसी तरह का भी वह बल नहीं रहा था, जिससे छोटी रानी को दबा सकते। किन्तु ध्रुव के चले जाने के बाद, आधा राज्य ईश्वर के नाम पर निछावर कर देने के बाद, त्याग का वह आदर्श महाराज के लिए बड़ा ही लाभप्रद हुआ। उनके हृदय के नेत्र उन्मीलित हो गये। अपने स्वरूप को वे पहचान सके। मोह से बचने का उपाय भी सूझा। छोटी रानी से चित्त भी हट गया। ध्रुव के वैराग्य की हवा महाराज को भी लगी। उसके झोंके से सजग हो गये।

एक दिन अपने अतीत की उदास भाव से समालोचना करते हुए महाराज उत्तानपाद सुख और दुःख के अनेक आवर्तों में चक्कर काट रहे थे। सुख की मात्रा बहुत थोड़ी थी, अधिकता दुःख की ही थी। चारों ओर से उन्हें घेरकर उनके सभासद और मन्त्री भी बैठे हुए थे। महाराज के मौन से उन्हें भी लाचार होकर मौन धारण करना पड़ा। कोई-कोई चुपचाप कानों में बतला रहे थे, कोई जँभाई ले रहे थे, कोई महाराज को उदास देखकर अपना भी चेहरा मुहर्रमी बना रहा था। इस तरह के असाध्य साधन करनेवालों की संख्या ज्यादा थी। गम्भीर प्रकृति के मन्त्रियों को चिन्ता हो रही थी। जब से राज्य छोड़कर ध्रुव परमात्मा की खोज के लिए बाहर चले गये थे, तब से महाराज की उदासी बढ़ रही थी। इसका परिणाम उनके अपने लिए तो अच्छा हो रहा था, परन्तु राज्य के हक में बुरा था। रानी से तो जी हटता जा रहा था, परन्तु प्रजापालन की ओर भी रुचि नहीं बढ़ रही थी। राजा को अन्यमनस्क देखकर प्रायः सभी मन्त्रियों को चुपचाप लौट जाना पड़ता था। वे स्वयं सब काम सँभाल लेते थे, पर बिना राजा के परामर्श के उन्हें भविष्य-कार्य के लिए चिन्ता हो रही थी। आज भी सभा में आते ही महाराज अन्यमनस्क हो बैठ गये। यह भाव मन्त्रियों को कई दिनों से खटक रहा था।

आपस में सलाह करके वे कोई निश्चय भी नहीं कर सके थे। स्वामी-सेवक, राज्य के सच्चे हितैषी, कार्य-कुशल मन्त्रियों को कोई उपाय न सूझा, तो मन-ही-मन ईश्वर से सहायता की प्रार्थना करने लगे। दयानिधान भगवान् ने उनकी मदद की। उस दिन घूमते-फिरते सभा में देवर्षि नारद का शुभागमन हुआ।

महाराज को पुकारकर मन्त्रियों ने महर्षि के आने की खबर दी। चौंककर महाराज ने आँखें खोलीं। सामने ऋषिवर को खड़ा हुआ देखकर भूमिष्ठ हो प्रणाम किया। उनके बैठने के लिए अपना सिंहासन खाली कर दिया। दरबार के सब लोगों ने महर्षि के आते ही उठकर उनका अभिवादन किया। उनके आसन ग्रहण करने के पश्चात् भूमिष्ठ होकर सब लोग नम्बरवार प्रणाम करते गये। नारद ने पास ही महाराज को भी बैठने के लिए आज्ञा दी। महाराज बैठ गये। महाराज के बैठने के पश्चात् मन्त्रियों ने भी आसन ग्रहण किया और सभासद भी बैठे।

नारद कुछ मुस्कराये। सबकी ओर स्नेह-भरी दृष्टि से कुछ देर तक देखते रहे। फिर महाराज से पूछा, "क्यों महाराज, कुशल तो है ? राज्य में कोई नयी खबर तो नहीं है ?"

राजा—"भगवन्, स्वास्थ्य अच्छा नहीं है, चिन्ताग्रस्त रहा करता हूँ। राज्य की देख-रेख और रक्षा आदि का प्रबन्ध इस समय प्रधान-मन्त्री स्वयं करते हैं। मानसिक क्लेश के कारण मैं कुछ कर नहीं सकता।"

नारद—"क्यों महाराज, आपके क्लेश का क्या कारण है ?अगर बस की बात होगी तो यथासाध्य मैं उसे दूर करने की चेष्टा करूँगा। आप बतलाइये, आपको क्या क्लेश है ?"

महाराज ने बड़े दीनभाव से देवर्षि की ओर देखा। उनके भाव में विवशता झलक रही थी। मुख पर उदासी छा रही थी। जैसे अपने बचाव के लिए वह कोई मजबूत सहारा चाहती हो। नारद की दिव्यदृष्टि को महाराज की वेदना का कारण मालूम हो गया। परन्तु वे स्वयं कुछ भी न बोले। महाराज के दुःख का कारण सभा में सबके सामने प्रकट करा देना चाहते थे। इसलिए समझकर भी मौन धारण किये चुपचाप बैठे रहे।

महाराज ने एक लम्बी साँस छोड़ी। चिन्तित भाव से कहा, "भगवन्, जिस धागे को रेशम की डोर समझकर मैंने गले लगाया था, वह अब मेरे गले की फाँसी हो गया है, जिस फूल को बड़े चाव से मैंने सूंघा था, उसकी सुगन्धि तो क्षण-भर के बाद ही जाती रही और सूंघने के साथ ही जो कीट मस्तिष्क के भीतर समा गया था, अब उसका दंश मुझे बेहद विकल कर रहा है, जिस घटा को देखकर मेरे मन को मलार की रागिनी सूझी थी, अब उसकी प्रलय की वर्षा में मेरा जीवन-सर्वस्व बहा जा रहा है, जिस प्याले में मैंने अमृत की जीवनी-शक्ति देखी थी, उसमें जहर घुला हुआ मिला, जिसमें स्वर्ग समझता था, वह मेरे लिए नरक से भी भयानक हो गया है, वह मादक स्पर्श, मैं अब समझा, मेरा कितना घोर

मोह था—मेरा सर्वस्व डुबा देनेवाला, अपनी माया में मेरी जीवित सत्ता को ले डूबनेवाला, मुझे पश्चात्ताप की ज्वाला में अनन्त काल तक के लिए दग्ध करनेवाला निकला—भगवन्, शायद अब मेरा उद्धार न होगा !"

नारद—"महाराज, आपकी बातों से जान पड़ता है, आपको बहुत कड़ी चोट लगी है। परन्तु इस तरह यथार्थ सत्य लोग कैसे समझेंगे। इतना तो समझ में आ गया कि आपको बहुत बड़ा मानसिक क्लेश हो रहा है। परन्तु साधारण रीति से आप अपने क्लेश का कारण तो बतलाइये। महाराज, दर्द ही नहीं मालूम तो फिर दवा कैसे हो ?"

राजा—"देवर्षि, क्या मेरा घाव भर जायगा ? मैं बिलकुल निराश हो चुका हूँ—मेरी निराशा उत्तरोत्तर बढ़ती ही जा रही है। शायद अब मेरे रोग का कोई प्रतिकार···"

नारद—"नहीं-नहीं, प्रतिकार अवश्य होगा। महाराज, आप तो बिलकुल बच्चों की तरह से बातें कर रहे हैं। प्रतिकार जिसका न हो, ऐसा कुछ संसार में है ही नहीं। विधाता ने सर्प की सृष्टि करने के साथ ही उसके दंश से बचने की औषधि की भी सृष्टि की है। आप जानते हैं विष के साथ ही अमृत की भी सृष्टि हुई है। महाराज, इतना घबराते क्यों हैं ? आप वीर हैं—इस तरह हिम्मत हारना आपका धर्म नहीं है। आप जब तक अपने अपराध को यत्नपूर्वक हृदय में धारण किये रहेंगे, तब तक उसकी ज्वाला से अन्तरात्मा अवश्य दग्ध होती रहेगी, और यदि आप उसे प्रकट कर देंगे तो वह आपको छोड़कर अन्तर्हित भी हो जायगी। फिर उसका प्रवेश किसी तरह भी आपके अन्दर न हो सकेगा। महाराज, सुकर्म और दुष्कर्मों का यही रहस्य है। सुकर्मों को छिपाना चाहिए और दुष्कर्मों को प्रकट कर देना चाहिए। दुष्कर्म, प्रकृति की आसुरी माया के प्रभाव से होते हैं। मनुष्य मात्र के लिए भ्रम होना स्वाभाविक है। महाराज, आप अपने हृदय का हाल कहिए, विश्वास कीजिए, आपको शक्ति मिलेगी।"

राजा—"भगवन्, बात यह हुई कि बड़ी रानी सुनीति के सहवास में दीर्घकाल बीत जाने के पश्चात् भी जब उनके कोई लड़का न हुआ, तब राज्य की भविष्य-चिन्ता से मैं कुछ उदास रहने लगा। मेरी उदासी का कारण बुद्धिमती रानी को मालूम हो गया। उन्होंने मुझे दूसरा विवाह कर लेने के लिए कहा, बार-बार इसके लिए आग्रह करती रहीं। मेरी इच्छा नहीं थी कि मैं दुबारा विवाह करूँ। मैं सुनीति को बहुत ही प्यार करता था। सुनीति के रहते दूसरा विवाह करना मेरे हृदय को दुःखप्रद हो रहा था। परन्तु भाग्यवश उनके कहने पर, मैंने दूसरा विवाह कर लिया। छोटी रानी सुरुचि के आने पर सुनीति ने मेरा सङ्ग छोड़ दिया। सुरुचि की सखी की तरह रहने लगीं। सुरुचि का शृङ्गार प्रायः वह स्वयं ही किया करती थीं। पहले दोनों सौतों में कोई विरोधीभाव नहीं पैदा हुआ। इधर मैं सुरुचि के रूप पर तन-मन से निछावर हो गया। अपना सर्वस्व मैंने उसे दे दिया। मुझे अपने वश में जानकर मुझ पर वह अपने अव्यर्थ वाणों का

प्रहार करने लगी। रोज तरह-तरह की शिकायतें सुनीति के विरुद्ध किया करती थी। मैं उसकी माया में इस तरह भूला हुआ था कि उस समय विचार करने की शक्ति भी मुझमें नहीं रह गयी थी। मैं उसकी बातों पर आ गया। रानी सुनीति को उसके कहने के अनुसार व्यभिचारिणी समझकर राजमहल से उसे बाहर निकाल दिया। वह जंगल में रहने लगीं। सुनीति के चले जाने पर मैं छोटी रानी को लेकर उसके प्रेम में अपना राजधर्म भी कुछ दिनों के लिए बिलकुल भूल गया। इसी बीच में एक दिन शिकार खेलने की इच्छा हुई। मैं अपने कुछ साथियों को लेकर जंगल में शिकार की तलाश में चला गया। बहुत खोजा शिकार न मिला। शाम भी हो गयी थी। घोड़ा घने जंगल के भीतर बढ़ता चला गया। सूरज भी छिप गया। राह नहीं सूझी। मैं भटक गया। मेरे साथी बाहर ही मेरी खोज करते रह गये। मैं भीतर-ही-भीतर घोड़ा बढ़ाता हुआ, एक दीपक की ज्योति का लक्ष्य करके एक कुटिया के सामने जा पहुँचा। घोड़े को पेड़ की डाल से बाँध दिया। कुटिया के भीतर गया तो उसकी तपस्विनी ने मुझे देखते ही मेरा बड़ा स्वागत किया, मेरे पैर धोने के लिए आयी, पर विवश हो गयी, रोने लगी। उसकी सूरत बहुत दिनों से न देखने के कारण मैं एक तरह से भूल ही गया था। पीछे से मैंने भी उसे पहचाना। वह वनवासिनी मेरी बड़ी रानी वही सुनीति देवी थी। उस रात को मैंने बड़ी रानी का आतिथ्य स्वीकार किया और उस दिन, रात-भर वहीं रहा। सुबह को रानी को धैर्य देकर अपनी राजधानी चला आया। दसवें महीने रानी सुनीति के गर्भ से ध्रुव की उत्पत्ति हुई। इसके बाद जो हुआ आपको मालूम ही है। ध्रुव कैसे यहाँ से तिरस्कृत होकर बन में जा बैठा।"

इतना कहते ही कहते महाराज की आँखों से आँसुओं की धारा बह चली। धैर्य का बाँध टूट गया। कातर दृष्टि से महाराज नारदजी की ओर देखने लगे। उनकी व्याकुलता देखकर देवर्षि नारदजी को दया आ गयी। पश्चात्ताप की बढ़ती हुई ज्वाला में महाराज को दग्ध होते देखकर नारदजी को विश्वास हो गया कि परिणाम अवश्य ही सुखकर होगा। उन्होंने कहा, "महाराज, इस संसार में मनुष्य-मात्र को भ्रम हुआ करता है। वे बड़े ही पुण्यात्मा हैं, अपने जीवनकाल में जिन्हें अपने भ्रम का ज्ञान हो जाय। महाराज, आप ध्रुव के लिए चिन्ता न कीजिए। ध्रुव का अनिष्ट करे, ऐसी शक्ति संसार में नहीं है। उसके पिता होकर आप भी कीर्ति के अधिकारी होंगे, उसके साथ आपका नाम भी संसार में अमर हो जायगा। आप ध्रुव को साधारण एक बालक मात्र न समझिये। वह परमात्मा की विभूति लेकर पैदा हुआ है। उस पर प्रतिक्षण परमात्मा की शुभ-दृष्टि रहती है। प्रतिक्षण वे उसकी रक्षा कर रहे हैं। आप अब निश्चिन्त हो जाइए। यथासाध्य अपना सुधार कीजिए। ध्रुव तपस्या कर रहा है। मैं उससे मिलकर अभी आ रहा हूँ। परमात्मा का साक्षात्कार प्राप्त किये बिना वह घर न लौटेगा। अपने हठ पर वह अचल है। मैंने उसे घर भेजने का भरसक प्रयत्न किया था, परन्तु मुझे सफलता नहीं हो सकी। उसके लिए आपको किसी प्रकार की चिन्ता भी न होनी चाहिए।

वह किसी वैर-भाव से परमात्मा की शरण में नहीं गया है। उसका उद्देश्य बहुत ही महान् है। वह एक बहुत बड़े प्रश्न को हल करके, चिरकाल के लिए एक सच्चा आदर्श संसार के सामने रखना चाहता है।"

राजा—"महर्षिवर, क्या आपसे उसने मेरी कोई चर्चा नहीं की ?"

नारद—"नहीं महाराज, आपकी और कोई चर्चा उसने नहीं की। सिर्फ आपका परिचय मात्र उसने दिया था। इतना उसे विवश होकर कहना पड़ा था, क्योंकि मैंने उससे एक ऐसा ही प्रश्न किया था। मैं उसके पिता और माता का नाम जानना चाहता था। महाराज, ईश्वर के सिवा और किसी मनुष्य या वस्तु पर उसका ध्यान नहीं है। वह और कुछ भी नहीं चाहता। वह बस अपनी ही लगन में लगा हुआ है।"

राजा—"भगवन्, आप उससे कहाँ मिले थे ?"

नारद—"महाराज, एक घोर जंगल में सुबह को भगवद्-भजन करता हुआ मैं चला आ रहा था, रातभर का जगा हुआ बालक परमात्मा के दर्शनों के लिए विकल हो रहा था। उसी समय उसकी उसी अवस्था में मैं उससे मिला था। आप कोई चिन्ता न कीजिए। मैं उसे यमुना-नदी के तट पर, मधुवन नामक स्थान में तपस्या करने के लिए भेजकर आपके यहाँ आ रहा हूँ।"

राजा देवर्षि के चरणों पर गिरे, प्रणाम किया। साथ ही सभा के लोगों ने भी भूमिष्ठ होकर नारदजी को प्रणाम किया। ध्रुव के त्याग से राज्य के सब लोग ध्रुव की तरफ हो गये थे। सब प्रजा मन से ध्रुव को आशीर्वाद दे रही थी। ध्रुव की खबर पा सबके मन में प्रसन्नता हुई। सब लोग ध्रुव की सफलता के लिए ईश्वर से प्रार्थना करने लगे।

देवर्षि नारद महाराज को सन्तोष देकर वहाँ से विदा हुए। मधुर कण्ठ से भगवद्-गुणानुवाद गाते हुए नारद उस वन की ओर चले, जहाँ ध्रुव की माता सती-शिरोमणि सुनीति देवी रहती थीं।

नारद के आने का संवाद बात-की-बात में तपोवन के एक छोर से दूसरे छोर तक फैल गया। वहाँ जितने ऋषि और मुनि, उनकी पत्नियाँ, कन्याएँ और बालक थे, सब-के-सब सुनीति देवी की कुटी के सामने आकर जमा हो गये। देवर्षि नारद के दर्शनों के लिए, उनसे मिलने की सबकी उत्कण्ठा हुई।

देवर्षि बैठे हुए थे। रानी सुनीति ने उन्हें प्रणाम किया। देवर्षि नारद के हृदय में सुनीति को देखकर आनन्द का पारावार न रहा। जिस आधार से ध्रुव जैसे परम धार्मिक शुद्ध-सत्त्व की उत्पत्ति हो सकती है, उसकी मर्यादा देवर्षि खूब समझते थे। उन्होंने रानी सुनीति की देवी-मूर्ति को देखकर उनके अन्दर रहनेवाली विश्वम्भरा भगवती को वारम्वार मन-ही-मन प्रणाम किया। मनुष्य लोक में वैसी मूर्ति, धर्म की वैसी विभूति, निरभिमान सत्ता की वैसी जाग्रत ज्योति उन्होंने कभी नहीं देखी थी। निश्चल नेत्रों से नारद परमात्मा की इस महोच्च सृष्टि को देखते रहे।

पुत्र के वियोग से रोती हुई रानी की आँखें लाल हो रही थीं। उनके मुख पर उदासी छायी हुई थी। संसार में जो एक मात्र अवलम्ब उनका रह गया था, उसके चले जाने पर उनका हृदय जलकर भस्मावशेष-सा हो रहा था।

नारद ने कहा, "देवी, आप अपने पुत्र के लिए चिन्ता न कीजिए। आपका पुत्र परम सुख से है। उसने ईश्वर की शरण ली है, अब उसके लिए चिन्ता या दुःख करना धर्म-विरुद्ध होगा। आप उसकी माता हैं, उसे आपसे ही उपदेश मिला है। आप-जैसी माता संसार में कदाचित् किसी को मिलती है। मैं आपके पुत्र से मिलकर आ रहा हूँ। वह बड़ा भाग्यवान् है। वह जीवों को बहुत बड़ी शिक्षा दे जायेगा। ईश्वर की उस पर सदा ही कृपा रहती है। देवी, आपका पुत्र मधुवन में यमुना-नदी के तट पर अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिए कठोर तपस्या कर रहा है। मैंने उसे घर लौटाने की चेष्टा की थी, पर मैं सफल नहीं हो सका। आप आनन्दपूर्वक रहिए। आपके लिए इससे बढ़कर गौरव की बात और क्या होगी कि आपके साथ रहकर आपकी शिक्षा से, पाँच वर्ष की अवस्था में आपके पुत्र को नित्य और अनित्य का ज्ञान हो गया है। यह सौभाग्य आज तक किसी माता को प्राप्त नहीं हुआ है। यदि आप अपने पुत्र की चिन्ता करेंगी, यदि शोक करेंगी, तो इससे उसकी तपस्या में विघ्न होगा, इसलिए आप उत्साहपूर्वक अपने महाभाग्यवान पुत्र को आशीर्वाद देती रहिए, जिससे उसकी साधना सफल हो।"

रानी सुनीति ने देवर्षि नारद की बात सुनकर उन्हें प्रणाम किया। इस पर वे कुछ बोली नहीं। इसके बाद नारद सबको प्रसन्न करके ऋषियों को ईश्वर के भजन का महात्म्य सुनाकर आनन्दपूर्वक विदा हुए।

अष्टम परिच्छेद

ध्रुव की घोर तपस्या

ध्रुव मधुवन में पहुँच गये। प्रकृति देवी की अवर्णनीय शोभा ने चित्त का चाव चौगुना कर दिया। भाव में दृढ़ता आ गयी। उत्साह का स्रोत उमड़ चला। एक अच्छा-सा स्थान तपस्या के लिए खोजकर वहीं आसन जमा दिया। विश्वास और भक्ति की मात्रा दिन-पर-दिन बढ़ती गयी। अलक्ष्य रीति से गुरु का दिया हुआ आशीर्वाद काम कर रहा था। दिन-पर-दिन ध्रुव की साधना उच्च-से-उच्च सोपानों को पार करने लगी। क्रमशः बालक उस अवस्था को पहुँचा, जिससे ईश्वर का नाम उसके रोम-रोम में व्याप्त हो सकता था।

साधना के प्रभाव से मुख-मण्डल पर स्वर्गीय ज्योति आकर विराजमान हो

यी। वह पहला शरीर ही बदल गया सिद्धि के लक्षण धीरे-धीरे प्रकट होने लगे। परन्तु कभी-कभी निराशा भी अपना प्रभाव दिखा जाती थी। ध्रुव का ध्यान घर की ओर चला जाता था। माता की अवस्था पर विचार करने के साथ ही वह अधीर हो उठता था। पिता के स्वभाव पर दुःख होता था। परन्तु गुरु की शक्ति ध्रुव को इन तुच्छ बातों से खींचकर तत्काल ईश्वराभिमुखी कर देती थी, मन को संसार की कुल बातों से---यहाँ तक कि शरीर से भी हटाकर ईश्वर की ओर लगा देती थी। इस तरह उत्थान और पतन के साथ-ही-साथ ध्रुव साधना की उस उच्च भूमि पर पहुँचे, जहाँ से सिद्धि का द्वार बहुत नजदीक रह जाता है।

इस अवस्था में ध्रुव को शरीर का ज्ञान नहीं रहा। भूख, प्यास, सर्दी, गर्मी, आदि शरीर पर प्रभाव डालनेवाले विषय प्रायः छूट गये। कहीं दो-चार दिन बाद ज़रा देर के लिए शरीर की ओर मन आता था, भूख और प्यास के लक्षण आत्मा पर प्रकट होते थे। यमुना का जल और पेड़ों से पककर गिरे हुए फलों को खा-पीकर तृप्त हो जाते थे। उन्हीं फलों और उसी जल के आधार पर ध्रुव के दिन कटते थे।

इधर ध्रुव की कठोर तपस्या से देवता बहुत घबराये। उन्हें अपने स्थान से च्युत होने का भय हुआ। वे डरे कि अब तो ध्रुव हमारा स्थान लेनेवाले हैं। इसलिए तपस्या में विघ्न डालने के उपाय सोचने लगे। सबसे ज्यादा घबराहट इन्द्र को हुई। मारे भय के रात को उनकी आँख न लगती थी। इन्द्र स्वप्न देखते थे कि जैसे उनका इन्द्रासन छिन गया है। उनके नन्दन-वन और रम्भा, मेनका, उर्वशी आदि अप्सराओं में अब ध्रुव का विहार हो रहा है। मारे चिन्ता के उनका चेहरा उतर गया। दिन-रात वे सोच-विचार में ही पड़े रहते थे। एक दिन उन्हें यह सूझा कि इस तरह सोच में घुल-घुलकर जान देने से तो बेहतर यह है कि ध्रुव की तपस्या भङ्ग करने पर कमर कसकर तैयार हो जाऊँ। समर्थ के लिए साधनों की कमी नहीं। इन्द्र के सहायक हजारों ही थे। हवा, पानी, धूप, सर्दी, ओले, मदन, रति और युवती अप्सराएँ सैकड़ों उसके सहायक थे—बल्कि आज्ञा पालन करनेवाले दास थे। तपस्या में विघ्न डालने का कभी मौका मिल गया तो इनके जैसे देवता प्रसन्न हो गये। उन्हें दिल-बहलाव का एक अवसर मिल जाता है।

इन्द्र की आज्ञा से उनके अनुचरों ने ध्रुव की तपस्या में विघ्न डालना आरम्भ कर दिया। पहले पवनदेव ने जोर मारा। ऐसी आँधी उठी कि मुँह में धूल भर गयी। तिनके और पत्ते उड़कर देह में लगने लगे—तपस्या में विघ्न होने लगा। परन्तु इस उत्पात की ओर ध्रुव ने बिलकुल ध्यान ही नहीं दिया। निश्चल भाव से ईश्वर की चिन्ता में मग्न रहे। पवन के बाद वरुणदेव की बारी आयी। चारों ओर से काली घटा उमड़ आयी। देखते-ही-देखते मूसलाधार वर्षा होने लगी। बड़ी-बड़ी बूंदों की मार शुरू हो गयी। परन्तु इससे भी बालक को असन्तोष नहीं हुआ। वह पहले ही-सा ध्यानावस्थित रहा। धूप-सर्दी, सब तरह के उत्पातों को चुपचाप वह सहता गया।

इसके बाद प्रकृति ने शत्रुता ठानी। उसे कब मंजूर था कि उसके राज्य से उसका शिकार निकल जाय। ईश्वर प्रकृति की सीमा से बाहर हैं। ध्रुव प्रकृति के राज्य को पार कर जाना चाहते थे। यह चंचला प्रकृति को मंजूर कैसे होता? उसने अपना पराक्रम दिखलाना आरम्भ कर दिया, छाया-मूर्ति बनकर आने लगी। एक दिन ध्रुव ध्यान में मग्न हो रहे थे कि उन्हें उनकी माता, सुनीति देवी की आवाज सुन पड़ी। बच्चे के बिना जैसे वे अधीर होकर उसे पुकार रही हों। माता के करुण कण्ठ-स्वर को सुनते ही ध्रुव का ध्यान भङ्ग होने लगा--मन विचलित हो गया। आँखें खोलकर एकाएक माता को देखने की लालसा पैदा हुई, उनके मन में सहानुभूति का संचार होने लगा। परन्तु इसके साथ ही गुरु के उपदेश याद आ गये। जब तक ईश्वर की प्राप्ति न हो, तब तक अपनी तपस्या से न उठना—ध्यान करते समय मन को दूसरी तरफ जाने से रोकना, संसार के लोभ में न फँसना—माया तुम्हारी परीक्षा लेगी--तुम्हें तपस्या से पतित कर देगी— आदि, गुरु के दिये हुए उपदेश याद आ गये। ध्रुव सचेत हो गये। माता की आवाज से मन को हटाकर फिर ईश्वर की ओर ले गये। माया की करामात कारगर न हुई। वह भी हारकर चली गयी।

धीरे-धीरे कितने ही वर्ष बीत गये। परन्तु ईश्वर से साक्षात्कार न हुआ। गुरु की आज्ञा से एक क्षण के लिए भी ध्रुव का मन नहीं हटा। परन्तु कभी-कभी ईश्वर के दयालु कहलाने पर उन्हें दुःख और अभिमान हो आता था। जो दयालु है, क्या वह इतना निर्दय हो सकता है? क्या वह इतने काल तक अपने भक्त को भूलकर रह सकता है? यदि ईश्वर को अपने भक्त पर प्यार होता तो क्या वे मेरी सुध न लेते, क्या मैं उनकी दया का पात्र नहीं? इस तरह की अनेक बातें ध्रुव को कभी-कभी सन्देह के सागर में डाल दिया करती थीं। लेकिन इस सन्देह का भंजन बहुत शीघ्र हो जाता था। अलक्ष्य रीति से महर्षि नारद सदैव अपने प्यारे शिष्य की खबर लेते रहते थे। जब वे उसे हताश देखते थे, तब अपनी शक्ति और विश्वास के बल से ध्रुव की तपस्या के विघ्न-स्वरूप कुल सन्दिग्ध विषयों का निराकरण कर दिया करते थे। ध्रुव को अपने आत्मा में अपने प्रश्नों का साफ उत्तर मिल जाता था। उन्हें मालूम हो जाता था कि ईश्वर न्यायी है, वह किसी पर पक्षपात नहीं करता, वह समय के आने पर ही दया करता है, उसे कोई धोखा नहीं दे सकता, वह अन्तर्य्यामी है, हृदय के अन्दर की कुल बातें वह समझ लेता है, जब वह समझ लेगा कि अब दया करने का समय आ गया है, तब वह अवश्य दया करेगा। इस तरह ध्रुव का विश्वास फिर दृढ़ हो जाता था, मन में एक नयी शक्ति आ जाती थी।

क्रमशः तपस्या के पीछे ध्रुव की भूख-प्यास हट गयी, वे तल्लीन होकर ईश्वर की साधना करने लगे। अब देवताओं को बड़ी घबराहट हुई। अपनी शक्ति-भर तपस्या भङ्ग करने की कोशिश वे पहले ही कर चुके थे, इसलिए अब दुबारा उन्हें शक्ति का भरोसा नहीं हुआ। अब उन्हें ईश्वर से प्रार्थना करने की सूझी।

सब देवता संघबद्ध होकर अपने निस्तार के लिए स्तुति-वंदनाएँ आदि करने

लगे। भगवान् विष्णु उन पर प्रसन्न होकर उनके पास आये और पूछा कि तुम लोग इस तरह क्यों घबराये हुए हो ? देवताओं ने सम-स्वर से कहा, "भगवन्, अब तो हम लोगों के दिन, जान पड़ता है कि पूरे हो गये। हम लोग ध्रुव की कठोर-तपस्या से इतने डर गये हैं कि रात को नींद नहीं आती। सदा ही भय लगा रहता है कि हमारा स्थान अब ध्रुव ने लिया। हमारी रक्षा अब बिना आपके और दूसरा कोई नहीं कर सकता। आप भक्तवत्सल हैं, आप ही की कृपा से अब तक हम लोग बचते आये हैं, अब फिर हमारे उद्धार का मौका आ गया है, इसलिए भगवन् हम लोग आपके शरणागत हैं--आप हमारी रक्षा करें।" देवताओं का भय देखकर विष्णु भगवान् पहले तो हँसे, फिर कहा कि तुम लोग व्यर्थ ही इतना डरे हुए हो, ध्रुव इन्द्रत्व की प्राप्ति के लिए तपस्या नहीं कर रहा है, वह सिर्फ मेरे दर्शनों का प्रार्थी है। तुम लोग चिन्ता दूर कर दो और आनन्दपूर्वक अपने-अपने घरों में रहो। मैं ध्रुव की अभिलाषा पूरी करूँगा।

इधर जब तपस्या करते हुए बहुत काल हो गया और परमात्मा के दर्शन न हुए, तब ध्रुव को बड़ी ग्लानि हुई, सोचा कि इतने दिन व्यर्थ ही चले गये, कठोर-हृदय परमात्मा के हृदय में दया का संचार न हुआ—उन्होंने अपने दास की खबर न ली ! परन्तु अब मैं बहुत दूर चला आया हूँ—संसार छोड़कर इतनी दूर आ गया हूँ कि अब संसार में लौटकर जाना लज्जा की बात होगी—माता को मैं प्रसन्न न कर सकूँगा, मेरी असफलता पर सुरुचि हँसेगी। ऋषियों के बालक मेरी दिल्लगी उड़ायेंगे—मैं लोगों की आँखों से आँखें न मिला सकूँगा। अब तो बेहतर यह है कि जिस उद्देश्य को लेकर मैं निकला हूँ, उसी की साधना में मेरा प्राणान्त हो जाय। ईश्वर के लिए अगर जान चली जायगी, तो बुरा क्या है ? लोग कहेंगे तो कि ध्रुव ईश्वर के दर्शनों के लिए गया था और जङ्गल में वह उन्हें रोता हुआ मर गया। मेरे मरने से ईश्वर पर कलङ्क लगेगा—क्या बुरा है ? जिसने मुझे इतना दुःख दिया—मुझे इस तरह भटकाया, मेरी मृत्यु से उसकी दया और स्नेह का परिचय तो लोगों को हो जायगा—क्या फिर भी ईश्वर के दर्शनों की लालसा किसी को होगी ? क्या फिर कोई घर-द्वार छोड़कर ईश्वर के लिए निकलेगा ? लोगों को इतनी ही शिक्षा मिल जाय, क्या बुरा है।

दुःख और क्षोभ के कारण ध्रुव को अत्यन्त कष्ट हुआ। अब की बार ईश्वर-दर्शन और दूसरी ओर मृत्यु की बाजी लगाकर वे तपस्या करने लगे। भूख-प्यास की बात क्या, शरीर तक के छोड़ने का निश्चय हो गया। एकाग्र-चित्त होकर मन्त्र का जाप करते हुए वे परमात्मा का ध्यान करने लगे।

ध्रुव की तपस्या से भगवान् विष्णु का आसन डोल उठा। उधर अपने शिष्य की कठोरता देखकर देवर्षि नारद बहुत प्रसन्न हुए। वैकुण्ठ में एक दिन ध्रुव की बातें सोचते हुए भगवान् विष्णु कुछ अन्यमनस्क हो रहे थे। लक्ष्मी के किसी प्रश्न का उत्तर देना वे भूल गये। भगवान् को चिन्तामग्न देखकर लक्ष्मीजी ने पूछा कि भगवन्, आज क्या है जो आप मेरे प्रश्नों के उत्तर देने में इतनी देर कर रहे हैं ?

भगवान् विष्णु ने कहा कि प्रिये, क्या बताऊँ, मेरा मन इस समय चंचल हो रहा है। ध्रुव मेरे दर्शनों के लिए ऐसी कठोर तपस्या कर रहा है कि अब बिना दर्शन दिये नहीं रहा जाता।

लक्ष्मी ने कहा, आप बड़े कठोर हो। आपको दयालु नाम रिश्वत के बल से मिला होगा ! अब तक भी आपने उस दुधमुँहे बच्चे की सुध न ली ! उसे कितना सताया। उसकी अनाथिनी माता को दुःख दिया और उसे भी इतने दिनों से रुलाते आये। जाइए महाराज, बहुत जल्द उसे दर्शन दे उसकी इच्छा पूरी कीजिए।

नवम् परिच्छेद

भक्ति की विचित्र महिमा

आज के प्रातःकाल की कुछ और ही छटा है। तमाम प्रकृति जैसे किसी के राज्याभिषेक की शोभा हो। आसमान साफ है। कहीं बादल का एक टुकड़ा भी नहीं नजर आता। सूर्य की सुनहली किरणें प्रकृति के मस्तक पर जैसे सोने का मुकुट रक्खे हुए हों। पक्षियों के कलरव से जैसे स्वागत-समय का संगीत गाया जा रहा हो। फूल और पत्ते बन्दनवार हो रहे हों। उधर यमुना की कुछ और ही शोभा थी। चौड़े विशाल वक्षस्थल पर मानो वे सुख की तरंगें उठ रही थीं।

उधर ध्रुव के हृदय में भी एक अज्ञात प्रसन्नता का भाव छाया हुआ था। प्राणों के समर्पण करने की भावना ज्यों-ज्यों बढ़ रही थी, त्यों-त्यों एक अद्‌भुत आनन्द हृदय को व्याकुल करता जा रहा था। आत्मा को विश्वास हो रहा था कि अब सिद्धि का द्वार बहुत नजदीक आ गया है।

एकाएक आवाज आयी, 'ध्रुव, तुम्हारी साधना पूरी हो गयी। मैं तुम पर प्रसन्न हूँ। तुम वरदान माँगो, कहो, तुम्हें क्या चाहिए ?'

ध्रुव ने आँखें खोलकर देखा, शङ्ख-चक्र-गदा-पद्म-धारी भगवान् विष्णु सामने खड़े हुए थे। देखकर नेत्र थक गये। रूप पर टकटकी बँध गयी। आँखों की राह से रूप-रस का वे जितना ही पान करते जाते थे, उतनी ही पान करने की आकांक्षा बढ़ती जाती थी। हाथ जोड़ गद्‌गद होकर भगवान् की स्तुति करने लगे। क्षणमात्र में सारा दुःख भूल गये। पिता और विमाता का किया हुआ अपमान भूल गये। जिस उद्देश्य को लेकर तपस्या करने आये थे, वह भी भूल गये। इष्टदेवता ने प्रसन्न होकर वर माँगने की आज्ञा दी, यह बात भी भूल गये। केवल उन्हें देखते रहना—उनके रूप-रस का पान करते ही रहना याद रहा। स्तुति-वन्दना समाप्त हो जाने पर कठपुतली की तरह निश्चल भाव से हाथ जोड़े हुए अपने इष्टदेवता के सामने

ध्रुव खड़े रह गये।

भगवान् विष्णु ने फिर कहा कि, "ध्रुव, तुम क्या चाहते हो कहो—तुम्हारी तपस्या पर मैं बहुत प्रसन्न हूँ।"

ध्रुव ने कहा, "भगवन्, मुझे कुछ नहीं चाहिए। तुम्हारे दर्शनों से मुझे सब-कुछ मिल चुका है।।"

विष्णु, "ध्रुव, तुम्हें मेरे लिए बड़ा कष्ट मिला है। लेकिन अपने पिछले कष्टों पर ध्यान न देना। तुम आदर्श हो, इसलिए तुम्हें अधिक कष्ट भोगना पड़ा, जो लोग मेरे दर्शनों की आशा से साधन करेंगे, वे तुम्हें जरूर स्मरण करेंगे। तुम्हारे दुःख और कष्टों का स्मरण कर वे दुःख और कष्टों का सामना कर सकेंगे। अब तुम कहो, मैं तुम्हें क्या दूं ?"

ध्रुव, "भगवन्, मेरी समझ में नहीं आता कि मैं क्या माँगूं। तुम्हें जैसा उचित जान पड़े, वैसा वरदान दीजिए।"

विष्णु, "ध्रुव, पिता और विमाता के किये गये अपमान को स्मरण करके तुमने मेरी शरण ली थी, इसलिए पहले तुम्हें राज्य-भोग करना होगा। तुम्हारी माता को भी इसी से शान्ति मिलेगी। लोगों को भी इससे विश्वास होगा कि ईश्वर में सबकुछ देने की शक्ति है।"

यह कहकर भगवान् विष्णु ने अपनी विभूति प्रदर्शित की। उस एकान्त वन में देखते-ही-देखते, अगणित रथ, घोड़े, हाथी और पैदलों की सेना तैयार हो गयी। करोड़ों रुपये का कोष भी उसके साथ था। ध्रुव को भगवान् विष्णु की कृपा पर बड़ा आनन्द हुआ। माता के सुख का स्मरण कर भगवत्-प्रदत्त इस आनन्द-ऐश्वर्य को ध्रुव ने स्वीकार किया।

भगवान् विष्णु ने फिर कहा, "ध्रुव, यह मैंने केवल तुम्हें भोग करने के लिए दिया है। यह तुम्हारी तपस्या का सम्पूर्ण फल नहीं है। तुमने जैसी तपस्या की है, वैसी आज तक किसी ऋषि और महर्षि ने भी नहीं की। इसलिए तुम्हें फल भी मैं वैसा ही दूंगा। अभी तो जाओ अपनी माता को, अपने पड़ोसियों को सुखी करो। तुम्हारा ऐश्वर्य देखकर महाराज उत्तानपाद को ज्ञान होगा। वह तुम्हारा अधिकार तुम्हें देकर पतन के गर्त में पड़ी हुई अपनी आत्मा का उद्धार करेगा। इसलिए तुम अपने पिता के राज्य के भी अधिकारी होगे। जब तुम्हारा भोग पूरा हो जायगा, जब तुम्हारे स्वर्गारोहण का समय होगा, तब मैं तुमसे मिलूंगा और तुम्हारे रहने के लिए सब लोकों से ऊँचा और कभी चंचल और आवर्तित न होने-वाला जो लोक तुम्हारे लिए मैंने बनाया है, वहाँ तुम्हें ले जाऊँगा। तुम्हें ज्ञान देने का श्रेय तुम्हारी माता को है—वह सती और अत्यन्त धर्मपरायण स्त्री है, इसलिए वह भी तुम्हारे साथ रहेगी, तुम्हारा लोक ध्रुव-लोक के नाम से प्रसिद्ध होगा।"

यह कहकर भगवान् अन्तर्धान हो गये। जो सेना ध्रुव को दे गये थे, उसके सेनापति ने सम्मानपूर्वक ध्रुव को हाथी पर बैठाल लिया और महाराज उत्तानपाद की राजधानी की ओर चलने के लिए अपने अधीन सेनापतियों को इशारा किया।

तमाम वाहिनी राज्य की तरफ चली। साथ जुझाऊ बाजे बजते जाते थे। सुश्रृंखलित होकर सेनापतिगण अपनी-अपनी वाहिनी बढ़ा रहे थे। क्रमशः महाराज उत्तानपाद की राजधानी नजदीक हो आयी। जुझाऊ बाजे का शब्द सुनकर राज्य के लोग बहुत डरे। लड़ाई के सामान पहले से तैयार न थे। महाराज उत्तानपाद को भी बड़ा भय हुआ। चारों ओर खबर उड़ गयी कि राज्य पर कोई दूसरा राजा चढ़ आया है। महाराज ने अपने मन्त्रियों को बुलाया और इस सम्बन्ध में सलाह करने लगे। मन्त्रियों ने सलाह दी कि अब एकाएक लड़ाई की तैयारी नहीं हो सकती है, इसलिए मित्रभाव से मिलना ही ठीक होगा। मन्त्रियों की राय महाराज को उचित जँची।

फिर तो भेंट की तैयारियाँ होने लगीं। अच्छी-अच्छी चीजें नजर के लिए लेकर मन्त्री उस चढ़नेवाले राजा से मिलने के लिए चले। भोज्य, पेय, धन-धान्य, हीरे-जवाहिरात, अच्छी-अच्छी बहुमूल्य अनेक वस्तुएँ थीं। सेना के मुख्य भाग में ध्रुव के सेनापति थे। इधरवालों ने भेंट लेकर मिलने की इच्छा अपने दूत के द्वारा जाहिर की। सेनापति आपस में एक-दूसरे की ओर इशारेबाजियाँ करके मुस्कराने लगे। उन्होंने आपस में सलाह करके भेंट वापस कर दी और कह दिया कि हम राज्य के लोभ से महाराज उत्तानपाद पर चढ़कर नहीं आये। हम महाराज ध्रुव के नौकर हैं। वे अपने पिता और माता के दर्शनों के लिए जा रहे हैं। यहाँ के लोग और महाराज उत्तानपाद किसी प्रकार का सन्देह न करें।

मन्त्रियों को सुनकर बड़ी प्रसन्नता हुई। कुछ लोग तो खबर देने के लिए महाराज के पास चले आये। बात-की-बात में नगर-भर में खबर फैल गयी कि तपस्या के बल से ध्रुव को अमित ऐश्वर्य मिला है। यह खबर ध्रुव की दुःखिनी माता सुनीति देवी के पास भी पहुँची। पुत्र के सकुशल अमित धन-सम्पत्ति का अधिकारी होकर लौटने के संवाद ने उन्हें सुख-विह्वल कर दिया। पुत्र को देखने की लालसा से वे अधीर हो गयीं। उधर सुरुचि को मालूम हुआ कि ध्रुव को परमात्मा ने विशाल ऐश्वर्य का मालिक बनाकर भेजा है। उसके हृदय में इस संवाद से बड़ी ज्वाला उत्पन्न हुई। इसके साथ ही भविष्य के दुःखमय जीवन पर उसका ध्यान गया। उसने सोचा कि अब मेरे पुत्र को तो किसी तरह राजगद्दी मिल ही नहीं सकती, बल्कि मेरी अब वही दुर्दशा होगी, जो बड़ी रानी की मैंने की थी। उसे दुःसह दुःख होने लगा। परन्तु उपाय कुछ न था। किसी के सब दिन बराबर नहीं जाते।

अनन्तर पहले ध्रुव उस वन में गये, जहाँ उनकी दुःखिनी माता सुनीति देवी रहती थीं। अपनी कुटिया के द्वार पर खड़ी हुई वे अपने पुत्र की बाट जोह रही थीं। जब से ध्रुव के आने का हाल उन्हें मिला हुआ था, तब से वे कुटिया के बाहर ही पुत्र की प्रतीक्षा कर रही थीं। दूर से ध्रुव को आते हुए माता ने देखा। प्रेम उमड़ चला। पुत्र की सफलता पर माता की आँखों से प्रेम के आँसू बह चले। तपोवन के पास आकर वह हाथी से उतर पड़े और पैदल ही माता की कुटिया की

ओर बढ़े। ऋषि और उनकी पत्नियाँ और बचपन के साथी ऋषि बालक, सब उनके द्वार पर एकत्र हो रहे थे। पास पहुँचकर ध्रुव ने पहले माता को साष्टाङ्ग प्रणाम किया। फिर सब ऋषियों और ऋषि-पत्नियों की चरण-धूलि धारण की। माता ने बच्चे को बड़े प्यार से छाती से लगा लिया। उनका चिरकाल का दुःख एक क्षण में दूर हो गया। ऋषियों ने ध्रुव को आशीर्वाद दिया, उनकी तपस्या की तारीफ की। तब तक महाराज उत्तानपाद भी बाजे-गाजे के साथ सेना और पालकी लेकर तपोवन में जा पहुँचे। ध्रुव ने पिता को प्रणाम किया। महाराज ने अपने पुत्र की सफलता पर अपने जीवन को धन्य माना। उन्होंने रानी सुनीति देवी से राजधानी में चलने की प्रार्थना की। ध्रुव को भी उन्होंने राजधानी में चलकर रहने के लिए कहा। महाराज की आज्ञा सुनीति ने शिरोधार्य कर ली। वे पालकी पर बैठीं। ध्रुव भी पिता के साथ हो लिये। धूम-धाम से रानी सुनीति और ध्रुव को लेकर महाराज राजधानी में गये। ध्रुव ने सुरुचि को प्रणाम किया और उत्तम को गले से लगाया। सुनीति को प्रणाम कर सुरुचि ने अपने पापों के लिए क्षमा-प्रार्थना की। राज-परिवार आनन्दपूर्वक मिलकर रहने लगा। पहले का वैर-विरोध दूर हो गया।

कुछ दिनों के बाद महाराज उत्तानपाद ने ध्रुव को युवराज के पद पर अभिषिक्त कर देने का विचार किया। मन्त्रियों ने भी सलाह दी। दिन स्थिर किया गया। पुरोहितजी ने उत्तम दिन देखकर बतलाया। उनके अनुशासन के अनुसार अभिषेक की कार्यवाही होने लगी। भारतवर्ष में जितने तीर्थ थे, सब तीर्थों का जल मँगवाया गया। इधर ज्यों-ज्यों अभिषेक के दिन नजदीक होते आ रहे थे, त्यों-त्यों आनन्दोपचार बढ़ते जा रहे थे। निश्चित दिन पर ब्राह्मणों के आशीर्वाद से महाराज उत्तानपाद ने ध्रुव को युवराज के पद पर अभिषिक्त कर दिया और स्वयं वानप्रस्थ ग्रहण कर तपस्या में व्रती हो गये।

पिता के पश्चात् दीर्घकाल तक ध्रुव ने राज्य किया, उनकी शासन-शृंखला बड़ी लोकप्रिय थी। वे अकारण किसी को कष्ट न देते थे। अधिक कर भी कभी किसी से नहीं लिया। उनके राज्यकाल में प्रजाजनों के सुख के अनेक साधन राज्य की ओर से कर दिये गये थे। कोई गरीब न था। बेकार कोई न रहता था। आला से अदना तक की खबर ली जाती थी। सबके सुख और स्वास्थ्य का विचार किया जाता था। भगवान् रामचन्द्र को छोड़कर इतना सुख किसी दूसरे राजा के समय में प्रजाजनों को शायद ही मिला हो।

अन्त में अपने राज्यभोग का समय पूरा करके ध्रुव अपने लोक को चले गये। उनका लोक सप्तर्षि-मण्डल से भी ऊँचा है। सब ग्रह घूमते हैं परन्तु ध्रुव-तारा अचल रहता है। ऋषियों और बड़े-बड़े त्यागी तपस्वियों को भी जो स्थान नहीं मिलता, वही स्थान परमात्मा ने ध्रुव को दिया है।

०००

भक्त प्रह्लाद

भूमिका

प्रह्लाद भक्तों के अग्रगण्य हैं। उनकी ईश्वर-निर्भरता भारत-प्रसिद्ध है। दैत्यों के वंश में जन्म लेकर भी उन्होंने सत्त्वगुणी वृत्ति का आश्रय लिया था। अन्त तक आसुरी भावों पर वे विजयी हुए। ईश्वर-प्रेम, भक्ति, शान्ति, क्षमा, दया, धृति, सरलता आदि जितने सद्गुण हैं, प्रह्लाद में वे सब थे। उनकी दृढ़ता भी हद दर्जे की थी। कठोर-से-कठोर परीक्षाएँ आयीं, परन्तु वे अपने पथ से विचलित नहीं हुए। ऐसे धर्मनिष्ठ, सरल और दृढ़व्रत बालक के चरित्र का प्रचार—स्खलितमति, निर्वीर्य, निरुत्साह और पथभ्रष्ट कर देनेवाली कुशिक्षा से बचाने के लिए देश के बालकों में अवश्य होना चाहिए। प्रह्लाद के चरित्र-चित्रण में यथा-साध्य हमने सरल भाषा का उपयोग किया है। साधना और सिद्धि सम्बन्धी उच्च तत्त्वों के समुद्घाटन की चेष्टा भी की है। इसका अध्ययन बालकों के लिए यदि कुछ भी लाभप्रद होगा तो हम अपना परिश्रम सफल समझेंगे। इतिः।

15-8-30

विनीत
सूर्यकान्त त्रिपाठी

प्रथम परिच्छेद

परिचय

देवताओं और दानवों के पूर्वज भगवान् कश्यप थे। इनके कई पत्नियाँ थीं। अदिति से देवता और दिति से दानव पैदा हुए। देवताओं और दानवों के अलावा नाग-नर, किन्नर और यक्ष-गन्धर्वों के पिता भी यही थे।

इस तरह सृष्टि का चक्र जब से चला, तभी से पुण्य और पाप, अमृत और गरल, भले और बुरे का इतिहास मिलता है। जिस तरह दिन और रात का जोड़ा सृष्टि के प्रथम समय से ही चला आ रहा है, उसी तरह देवता और दानव भी आदिकाल से आपस में लड़ते चले आ रहे हैं।

जिस समय की कथा हम लिख रहे हैं, वह सत्ययुग था। सत्ययुग उसे कहते हैं, जिस समय संसार में सत्य का प्रभाव अधिक रहता है। यानी पुण्य अधिक और पाप कम होता है। सत्य के सुनहले प्रकाश में संसार के जीवों को हर तरह की शान्ति और समृद्धि मिली रहती है। उनमें ईर्ष्या-द्वेष, फूट-कलह, अनाचार-व्यभिचार आदि पापों का फैलाव बहुत कम, नहीं के बराबर रहता है। पृथ्वी मानो सुख की हिलोरों में बहती रहती है। प्रजा को ईति-भीति का कष्ट नहीं रहता। मनुष्यों को अपनी रोटी कमाने के लिए इतना परिश्रम नहीं करना पड़ता, न इस तरह से अकाल संसार को बेहाल किये रहता है।

सृष्टि का क्रम जारी हो चुका था। देवताओं और दानवों का वंश खूब बढ़कर संसार में फैल चुका था। देवताओं में सत्त्वगुण की मात्रा अधिक रहने के कारण, वे स्वभाव से संयमी, सरल, उदार, दयालु, सहिष्णु, परोपकारी और परमात्मा के भक्त हुए, उधर दैत्यों में तमोगुण अधिक था, इसलिए वे दुराचारी, क्रोधी, पराई भलाई न देख सकनेवाले, असंयमी, भले आदमियों से डाह करनेवाले, विष्णु-द्वेषी हुए। वे किसी की कोई अच्छी चीज देखते तो झट उसे हड़प जाने के लिए दिलो-जान से तैयार हो जाते। उन्हें न तो संसार में किसी का डर था और न वे धर्म और परमात्मा को ही कुछ गिनते थे। वे शराब पीते, मांस खाते और हर तरह के अत्याचार करते थे। यही उनका नित्य-कर्म था और इसी में उन्हें आनन्द भी मिलता था। भले आदमी और खासकर देवता तो उनसे बहुत घबराते थे।

इसी दैत्य-वंश में, हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपु, दो भाई बड़े प्रतापवान हुए।

संसार में इनकी धाक बँध गयी। इन दोनों में दुर्जेय शक्ति थी। एक तो यों ही स्वभाव के तमोगुणी, तिस पर पराक्रम की कमी नहीं, इनके उत्पात से तीनों लोक तंग आ गये थे। ये जिधर से निकलते, उधर ही सन्नाटा छा जाता। मारे डर के लोगों की साँस भी रुक जाती, जंगली जीव भी मारे डर के दुम दबाकर चुपचाप एक ओर सरक जाते। जिस तरह हिन्दुस्थान में आजकल प्लेग का आतंक छाया हुआ है, उसी तरह संसार में कभी इन दोनों भाइयों के नाम मशहूर और लोगों के लिए खौफनाक हो रहे थे। देवताओं के लिए तो और आफत थी। इनकी शक्ति से वे इतने दब गये थे कि किसी हालत में भी इनका मुकाबला नहीं करते थे।

हिरण्याक्ष, हिरण्यकशिपु का बड़ा भाई था। वह जब जवान था, उस समय हिरण्यकशिपु बिलकुल बच्चा था। हिरण्याक्ष अपने छोटे भाई को बहुत प्यार करता था। वह उसे अक्सर अपने साथ ही रक्खा करता था। लड़ने-भिड़ने की पेचीदा शिक्षा हिरण्यकशिपु को उसी से मिली थी। दैत्य-वंश में पैदा होने के कारण इन दोनों भाइयों से देव-द्विजों के माननेवाले, इन्हें घृणा की दृष्टि से देखते थे। लोगों का यह भाव हिरण्याक्ष को अपने बचपन में ही मालूम हो गया था, और इसका बदला लेने के लिए वह हृदय से निश्चय कर चुका था कि मैं संसार से धर्म की सत्ता मिटा दूँगा, जिस विष्णु की पूजा करने के कारण देवों और ब्राह्मणों को इतना गर्व है, मैं उस विष्णु की ही संसार से हस्ती मिटा दूँगा। हिरण्याक्ष की उम्र के साथ उसका यह खयाल भी जोर पकड़ता गया। कुछ भी हो, हिरण्याक्ष अपनी जवानी में बड़ा ही सुडौल और शरीर का संगठित निकला। शेर की-सी गर्दन, आँखों में झुलस देनेवाली वीरता की निडर चितवन, हाथ जैसे हाथी की सूँड, छाती गज-भर की चौड़ी, कमर पतली—पेटी का कुल मांस खिंचकर सीने पर चढ़ा हुआ, पैर जैसे किसी रुस्तम-जहान जबरदस्त पहलवान के मुग्दर, और ताकत की तो बात ही क्या—कि शेर भी आये, तो जवान हाथों-हाथ फाड़ डाले और मरोड़-कर उसी वक्त उसकी जान ले ले। हिरण्याक्ष को कुश्ती का शौक भी खूब था। शिकार तो वह रोज खेलता ही था और जब से जवानी की रोशनी आयी, तब से तो शिकार के मांस के बिना उसका पेट ही नहीं भरता था।

इधर कुल-गुरु शुक्राचार्य को इस वीर से बड़ी-बड़ी आशाएँ होने लगीं। वे इसमें तेज, साहस और आत्मिक शक्ति भरने का भरसक प्रयत्न करने लगे। खूब इसका दिल बढ़ाया और तमाम संसार पर विजय प्राप्त करने के लिए खूब उभाड़ा। शुक्राचार्य के उपदेशों का उस पर वही असर पड़ा, जो सफेद कपड़े पर किसी रंग का पड़ता है। आत्मिक शक्ति बढ़ाने के लिए शुक्राचार्य ने उसे शिव का मन्त्र दिया और उसे ही अपने जीवन का आधार बना लेने के लिए बार-बार होशियार कर दिया। कहा, मृत्युंजय के इस मन्त्र से संसार भर में एक दिन तुम्हारी कीर्ति-पताका फहरायेगी। हिरण्याक्ष को गुरु की आज्ञा पर दृढ़ विश्वास हो गया।

हिरण्यकशिपु हिरण्याक्ष के साथ-ही-साथ रहता था। जब तक वह बालक था,

तब तक उसकी माता और हिरण्याक्ष सदा ही डरते रहते थे कि अकेले में पाकर हिरण्यकशिपु को देवता कहीं मार न डालें। इसलिए हिरण्याक्ष अपने छोटे भाई को एक क्षण-भर के लिए भी न छोड़ता था। उसके साथ रहते हुए हिरण्यकशिपु के स्वभाव पर भी वही रंग चढ़ गया। वह भी देवों, ब्राह्मणों और खासतौर से विष्णु से जलने लगा। इधर उसके लड़ने-भिड़ने और दाँव-पेच सिखलाने की ओर हिरण्याक्ष की अचूक दृष्टि रहती थी। घोड़े पर चढ़ना, घोड़े पर सवार रहने की हालत में बल्लम मारना, दौड़ते हुए घोड़े पर से तीर चलाना, उड़ती हुई चिड़िया का निशाना बेधना, शेर का पैदल शिकार करना, दोनों हाथों से तलवार चलाना ढाल की ओझल से शत्रु की तलवार छीन लेना, तीर की नोंक से छोटी-छोटी पत्तियों के डण्ठल काट-गिराना, सब तरह की युद्ध-विद्याओं में हिरण्यकशिपु को धीरे-धीरे वह पारंगत करने लगा। हिरण्यकशिपु भी जी लगाकर अपने भाई की दी हुई विद्या सीखने लगा। हिरण्यकशिपु की एकाग्रता देखकर हिरण्याक्ष के आनन्द का ठिकाना न रहा, हिरण्यकशिपु की अस्त्रकुशलता बड़ी तेजी के साथ बढ़ रही थी। शर-योजना में उसकी दक्षता और स्फूर्ति देखते ही बनती थी। फुर्तीलापन उसमें अपने बड़े भाई से भी कहीं बढ़कर था।

समय धीरे-धीरे पार हो जाता है। एक-से दिन किसी के नहीं रहते। कंगाल कभी मालामाल हो जाता है और बड़े-बड़े प्रजापालक महाराजाओं को द्वार-द्वार के टुकड़ों के लिए हाथ फैलाना पड़ता है। हिरण्यकशिपु का मनोहर बालपन बीत गया। उसकी सीढ़ी से जवानी की छत पर उसने पैर रक्खे। वहाँ से तमाम संसार की हरी-हरी शोभा जहाँ तक उसकी नजर पहुँची, उसने देखी। जी भर गया। हृदय में आनन्द की लहरें उठने लगीं और उन्हीं के साथ वह नदी पर पड़े-खिले फूल की तरह वह चला, अपने सौन्दर्य-बल से संसार पर विजय प्राप्त करने की लालसा से।

हिरण्याक्ष की जवानी भादों की नदी की तरह भरी पूरी थी, अथाह थी। देखनेवालों की आँखों को उसे बार-बार देखकर भी तृप्ति न होती थी। और कभी-कभी उनमें आतंक भी छा जाता था। वह विशाल देह, विपुल बल, सुसंगठित भुजाएँ और गर्व से ऊँची गर्दन देखकर लोगों को कभी-कभी शंका भी हुआ करती थी। हिरण्यकशिपु की जवानी वर्षा की पहली बाढ़ थी, बढ़ती हुई भी बढ़ने के लिए उतावली। जब हिरण्यकशिपु अपनी रक्षा, आप कर लेने में समर्थ हो गया, जब हिरण्याक्ष को छोटे भाई के बल-वीर्य और रण-कुशलता पर पूरा विश्वास हो गया, तब उसने अपनी चिरकाल की आशा-लता को सींचकर पल्लवित, कुसुमित और फलित करने का इरादा पक्का कर लिया।

उसने अपनी किशोर अवस्था में सुना था, विष्णु सब देवताओं में बड़े, संसार में सबसे अधिक शक्तिमान और वीरों में अग्रणी हैं। यह बात उसे तभी से खटक रही थी और विष्ण से लड़ने की बलवती इच्छा दिन-पर-दिन उसके हृदय में जड़ पकड़ती जा रही थी। इसकी इस इच्छा को शंकर-मन्त्र और उसके अमित बल ने

और भी बढ़ा दिया। हिरण्यकशिपु के बचपन पर विचार करके अब तक उसने दिल के हौसले को दिल ही में उमड़कर रह जाने दिया था। अब, इतने दिनों बाद दिल की मुराद पूरी करने का अवसर हाथ आया। हिरण्याक्ष की वह पुरानी इच्छा सैकड़ों धाराओं से फूट निकली। हिरण्यकशिपु ने भाई की पूरी मदद की। उसके हृदय में भी उसी ठेस की आग भभक रही थी। जवानी के जोश ने उस आग में घृताहुति का काम किया।

दोनों भाई सजकर तैयार हो गये। पहला वार हुआ संसार के राजाओं-महाराजाओं पर। पहले-पहल दोनों भाइयों ने संसार में विजय की भेरी बजा विष्णु नाम को देश से निकाल बाहर करना निश्चय किया। इन दोनों के साथ दैत्यों की अजेय वाहिनी थी। उसकी राह रोकनेवाला शक्तिमान राजा कोई न था। फिर भी किसी-किसी ने दैत्यों का सामना किया। परन्तु आँधी में सूखे हुए पत्तों की तरह राजाओं की सेना ज़रा देर भी दैत्यों की फौज के सामने न रुक सकी। सबके पैर उखड़ गये। सबके-सब अपनी-अपनी जान लेकर भागे। दैत्यों ने पीछा किया। किले के भीतर तक उन्हें खदेड़ ले गये। फिर किले का फाटक तोड़कर बेधड़क उसके भीतर घुस गये। एक तरफ से सबकी मुश्कें बाँध लीं। और यह आज्ञा की गयी कि जो कोई विष्णु का नाम लेगा, उसी वक्त धड़ से उसका सिर जुदा कर दिया जायगा। उनमें कायरों की संख्या अधिक थी। राजा भी कायर ही निकला। अधिकांश लोगों ने वीर हिरण्याक्ष की आज्ञा शिरोधार्य कर ली। उन्होंने विष्णु का नाम लेना छोड़ दिया। वहाँ के राजा ने बाकायदा हर साल एक निश्चित रकम मालगुजारी के तौर पर हिरण्याक्ष को देनी मंजूर कर ली। इस तरह उसकी जान बची।

एक-एक करके सम्पूर्ण राज-मण्डल दैत्यों के वश में आ गया। संसार-भर में हिरण्याक्ष की विजय-वैजयन्ती उड़ने लगी। विष्णु नाम और वैष्णव-धर्म भूमण्डल से तिरोहित हो गया। प्राण-भय से लोगों ने विष्णु का नाम लेना तक बन्द कर दिया। शैवों की तूती बोलने लगी।

परन्तु हिरण्याक्ष को इतनी बड़ी विजय प्राप्त करके भी शान्ति नहीं मिली। इसकी लालसा तो विष्णु से लड़ने और परास्त करने की थी। इसलिए एकछत्र राजसिंहासन मिल जाने पर भी उसके हृदय को सुख नहीं हुआ। विष्णु की चिन्ता उत्तरोत्तर बढ़ती ही गयी। कभी-कभी उसे मन-ही-मन बड़ा खेद होता था। जिस विष्णु के देखने और जिससे लड़कर अपनी साध पूरी करने के लिए उसने पृथ्वी-भर की खाक छानी, बड़े-बड़े राज्यों को नष्ट कर डाला, करोड़ों निरपराध मनुष्यों के प्राण लिये, जिस विष्णु को मारकर दैत्यकुल को निष्कण्टक कर देना चाहता था, उससे आज भी मुलाकात नहीं हुई! उसके भक्त सताये गये, मार डाले गये, जीते जला दिये गये, वह अपने भक्तों की दुर्दशा देखकर ही रह गया, उनके दुःख मिटाने के लिए एक बार भी समर-क्षेत्र में न दिखायी पड़ा। इसी सोच-विचार में हिरण्याक्ष का चित्त प्रायः चंचल बना रहता था। एक दिन उसने सुना कि जिस

विष्णु से लड़ने के लिए उसे इतनी अधीरता हो रही है, वह पाताल में वराह-रूप से रहता है। कहनेवाले ने कहने के साथ-ही-साथ कुछ नमक-मिर्च और लगाया। उसने कहा,—वहाँ तुम मत जाना, उस वराह में बल की कमी नहीं है। तुम उससे लड़ोगे तो मारे जाओगे।

हिरण्याक्ष घबरानेवाला वीर न था। पाताल जाने से विष्णु से भेंट होगी, यह सुनकर उसका रोम-रोम पुलकित हो उठा। मुरझायी हुई लता एक बार फिर लहलहा गयी, विष्णु-विजय की तीव्र उत्कण्ठा उसे शीघ्र ही पाताल चलने के लिए विवश करने लगी। हिरण्याक्ष के जी में जी आया। विष्णु को न पाकर उसकी सारी शक्ति थककर कुछ दिनों के लिए सोयी हुई-सी थी, इस बात से एकाएक जगकर उसके शरीर को मथने लगी। नसों में बिजली चक्कर काटने लगी, नसें तर्राकर तन गयीं, भुजाएँ ऐंठने लगीं, वीर अधीर हो गया।

विष्णु की चिन्ता से पहले भी उसका मन राज-पाट में न लगता था। अवसर हाथ आया देख, अपने छोटे भाई को राजा बना, उसी के हाथ राज्य का कुल काम सौंपकर, विष्णु की तलाश में हिरण्याक्ष ने पाताल की राह ली। पाताल-पुरी का एक-एक कण उसने ढूँढ़ा, पर कहीं भी विष्णु उसे दिखायी न दिये। अन्त में उसे एक युक्ति सूझी। उसने सोचा, हो न हो आगे जो यह अथाह सागर उमड़ रहा है, इसमें विष्णु अन्दर मेरे डर से कहीं छिपा बैठा होगा। फिर क्या था सोचने-भर की देर थी, झट उसने लँगोटा कसा, जाँघिया चढ़ाया और खम ठोककर उस अगाध जल में कूद पड़ा! जहाँ-जहाँ गया, तमाम पानी मथ डाला। पर कहीं कोई नहीं मिला। तब उसे बड़ा क्रोध आया। आँखें लाल हो गयीं और विष्णु का नाम ले-लेकर उसने गालियाँ देनी शुरू कर दीं।

एकाएक उसने देखा, उस अपार जल-राशि के एक ओर से एक वराह अजीब ढंग से शोर करता हुआ उसी की ओर चला आ रहा है। उसे समझने में देर न हुई कि यही विष्णु है, जिसके लिए मुझे इतनी मेहनत उठानी पड़ी और इतनी आफतों का सामना करना पड़ा। वराह को देखते ही वह फौरन पैंतरा बदलकर खड़ा हो गया। परन्तु भावी बड़ी प्रबल होती है। वह उसे घसीटकर यहाँ ले आयी थी मौत के सामने। फिर बचाव कहाँ था? वराह के रूप में मौत ही उसके सामने आकर खड़ी हुई थी। देखते-देखते वराह-रूपी विष्णु भगवान् ने बाहरवाले अपने तेज दाँत से उसके दो टुकड़े कर डाले, अन्त समय देख उसने राम-नाम लेकर वहीं प्राण विसर्जन कर दिये।

द्वितीय परिच्छेद

हिरयकशिपु, अत्याचार, तपस्या, लड़ाई

हिरण्यकशिपु को राज्य देकर हिरण्याक्ष पाताल में जब विष्णु से लड़ने के लिए चला गया, तब इधर राज-मद में हिरण्यकशिपु मनमाना काम करने लगा। एक तो स्वभाव का वह तमोगुणी था ही, जिस पर एकछत्र साम्राज्य मिल गया, उधर जवानी का नशा, इसलिए हर तरह के अत्याचार करने की सुविधा मिल गयी। वह दिन-रात शराब के नशे में चूर रहा करता, और पहले से ज्यादा अत्याचार करने पर तुल गया। जब वह सुनता कि अमुक जगह देवताओं की पूजा होती है,—यज्ञ में उन्हें हिस्सा दिया जाता है,—इस तरह यज्ञ भाग खा-खाकर वे मोटे-ताजे हो रहे हैं और धीरे-धीरे अपना बल बढ़ाकर एक दिन दैत्यों की सेना पर आक्रमण करेंगे और उनका नाश करके ही छोड़ेंगे, इस तरह की खबर पाते ही वह उन-उन स्थानों को घेर लेता और सब आदमियों को पकड़कर एक तरफ से सबके लिए प्राण-दण्ड की आज्ञा दे देता। गाँव-के-गाँव उजड़ गये। संसार के देवताओं की पूजा उठ गयी। प्राणभय से भूलकर भी कोई विष्णु का नाम न लेता। जो सच्चे भक्त थे, वे मन-ही-मन भगवान् को पुकारने लगे, परन्तु फूल-पत्तियों और दुर्वा-चन्दन से विष्णु भगवान् की पूजा करना भी उन लोगों ने बन्द कर दिया। क्या करते—बेचारे विवश थे, जिसके राज्य में बसते थे, वही-विष्णु-द्वेषी था, तो फिर पूजा-अर्चा कैसे हो सकती थी ?

शैवों को पूरी स्वतन्त्रता थी। दैत्यगण शैव थे ही, इसलिए उनके राज्य में शैवों की बड़ी प्रतिष्ठा होने लगी। लोग एक तरफ से शैव हो गये। हिरण्यकशिपु ने अपने राज्य में चारों ओर जासूस लगा रक्खे थे। विष्णु-पूजा और विष्णु-मन्दिर का संवाद वही लोग आकर सुनाते थे। इसके लिए उन्हें लम्बी-लम्बी तनख्वाहें मिलती थीं, और विष्णु-मन्दिर या विष्णु-पूजन की नयी खबर सुनाने पर ऊपर से उन्हें पुरस्कार दिया जाता था। हिरण्यकशिपु के राज्य में विष्णु-भक्त और विष्णु-मन्दिर का कहीं नामोनिशान न रहा।

देवताओं को यज्ञ-भाग न मिलने पर वे दिन-दिन दुबले होने लगे। देवताओं का पता लगाने के लिए भी हिरण्यकशिपु ने एक बड़ी संख्या में गुप्तचर नियुक्त कर रखे थे। यह हाल देवताओं को मालूम हो गया था। इसलिए वे बिचारे कन्दराओं में', पहाड़ की दो चोटियों के बीचवाले भू-भाग में, घने जंगलों में, बीहड़ स्थानों में जहाँ मनुष्यों या दैत्यों की पहुँच न हो सकती थी, छिपे फिरते थे। इसी हालत में रहकर वे दैत्यों पर वार करने के लिए मौका देख रहे थे कि इतने में हिरण्याक्ष के मारे जाने की खबर उन्हें मिल गयी।

इधर देवताओं का जब कोई समाचार दूतों से न मिला, तब हिरण्यकशिपु

बेफिक्र होकर राज्य करने लगा। उसे विश्वास हो गया कि देवता डर गये, अब उससे लोहा नहीं ले सकते, और यज्ञ-भाग के बन्द हो जाने के कारण वे बिचारे भूखों मर रहे होंगे, वे अब क्या लड़ेंगे ? इस विचार में पड़कर कुछ दिनों के लिए वह अपने शत्रुओं को भूल गया। इस समय उस पर एक दूसरा रंग चढ़ रहा था। लड़ाई बन्द हो जाने के बाद से उसमें विलासिता आ गयी थी। शराब और कबाब के साथ-साथ नाच-रंग का भी शौक आया। राजाओं-महाराजाओं को शौक होने की ही देर होती है, पूरा तो वह तत्काल कर दिया जाता है। गाने-बजाने का शौक भी हिरण्यकशिपु का तत्काल ही साजो-सामान सहित पूरा कर दिया गया। चारों ओर नौकर दौड़े। जहां कहीं उन्होंने अच्छी-अच्छी गायिकाओं और नर्तकियों को पाया, हिरण्यकशिपु की सभा में बुला लाये। हिरण्यकशिपु की आज्ञा पर 'नहीं, कहने की शक्ति किसी में न थी। बड़े-बड़े शूर-वीर उससे घबराते थे। फिर वे तो बेचारी नाचने-गानेवाली साधारण स्त्रियाँ ही थीं। उनमें इतना दम कहाँ था जो वे उसकी आज्ञा पर नहीं चलतीं। इच्छा न रहते हुए भी उन्हें नृत्य-गीत सुनाने के लिए दैत्यराज के दरबार में आना ही पड़ता।

हिरण्यकशिपु का भोग-विलास भी हद को पार कर गया। एक दिन की बात है कि वह अपने विलास-मन्दिर से निकला और सीधा दरबार की ओर चला गया। मन्त्री, सेनापति, करद-मित्र-राजा, महाराजा-सामन्त वगैरह सब अपने-अपने आसन पर बैठे हुए थे। उसे देख उठकर खड़े हो गये। वह ऊँचे सिंहासन पर जा बैठा। उसके बैठने के बाद सब लोग अपने-अपने आसन पर बैठे और आग्रह-भरी निगाहों से उसकी आज्ञा की प्रतीक्षा करने लगे।

इसी समय एक दूत आया। दैत्यराज को अभिवादन कर हाथ जोड़ एक तरफ खड़ा हो गया। उसे उस हालत में देखकर दैत्यराज हिरण्यकशिपु को मालूम हो गया कि वह कुछ कहना चाहता है। उन दिनों राजा से कुछ अर्ज करने का नियम ऐसा ही था। हिरण्यकशिपु ने उसे कहने की आज्ञा दी। राजा की आज्ञा मिल जाने पर भी दूत की जबान बन्द ही रही, कहने की चेष्टा करके भी वह कुछ न कह सका। इससे हिरण्यकशिपु को क्रोध आ गया। कहने के लिए उसने दूत को डपटकर आज्ञा दी। दूत ने हृदय को बहुत अच्छी तरह सँभाल बिनयपूर्वक कहा, "महाराज, आपके बड़े भाई हिरण्याक्ष अब इस संसार में नहीं हैं, पाताल में वराह-रूपी विष्णु के साथ उनकी लड़ाई हुई थी, उसी में वे मारे गये।"

हिरण्यकशिपु की देह में इस खबर ने आग लगा दी। दूत की बात पर पहले तो उसे विश्वास ही नहीं हुआ। वह अपने भाई की शक्ति खूब जानता था। वह सोचता था कि संसार में ऐसा वीर कोई नहीं है जो हिरण्याक्ष से विजय पा सके, मारने की तो बात ही क्या है। भाई की मृत्यु का उसे किसी तरह विश्वास नहीं हो रहा था। वह दूत को गलत खबर देने की वजह से कोई सख्त सज़ा देना चाहता था। उसकी मुखाकृति से भी उसके हृदय का सन्देह प्रकट हो रहा था। सभासदों में किसी-किसी को यह बात मालूम हो गयी। वे आपस में कानाफूसी करने लगे।

परन्तु हिरण्यकशिपु के डर से खुलकर कुछ कह न सकते थे। जब हिरण्यकशिपु को कुछ निश्चय न हुआ, बल्कि सन्देह उत्तरोत्तर बढ़ता गया, तब उसने अपने एक मन्त्री से पूछा कि यह खबर सच है या नहीं ? उसने कहा कि मेरे भाई से विष्णु में बल अधिक होगा और वह मेरे भाई को मार सकता है, इस पर मुझे बिलकुल विश्वास नहीं हो रहा है। हिरण्यकशिपु को सन्देह भी हो रहा था और भय भी था। उसका मन्त्री बुद्धिमान था। उसने कहा, "महाराज, मैं तो इतना ही कह सकता हूँ कि वे अगर जीते होते तो अब तक यहाँ जरूर आ जाते, क्योंकि घर से निकले बहुत दिन हो गये।" दूसरे मन्त्रियों ने भी इस बात को दुहराया। हिरण्यकशिपु पर भी इसका प्रभाव पड़ गया। देखते-ही-देखते उसका सन्देह अथाह शोक में परिणत हो गया और वह उस दिन के लिए सभा समाप्त करके बड़े दु:खित भाव से अन्त:पुर की ओर चला गया।

धीरे-धीरे उसका शोक भयंकर क्रोध और प्रतिहिंसा में बदल गया। विष्णु की याद क्षण-भर के लिए भी न भूलने लगी। जिस समय विष्णु की याद आती, देखते-ही-देखते तमाम मुखमण्डल मारे क्रोध के लाल पड़ जाता। साँस की गति वेगवती हो जाती, होंठ काँपने लगते। रोम-रोम से प्रतिहिंसा जाग पड़ती। उस समय उसकी ओर कोई नजर उठाकर भी न ताक सकता। जिस विष्णु को प्राप्त करने के लिए करोड़ों मनुष्यों की उसने जान ली, सैकड़ों राज्य नष्ट-भ्रष्ट करके मिट्टी में मिला दिये, यज्ञ बन्द करा दिये, अनेक प्रकार के अत्याचार किये, उसी विष्णु के हाथों उसका प्यारा भाई मारा गया और उससे उसकी मुलाकात भी न हुई ! इसकी याद आते ही हिरण्यकशिपु के हृदय में एकसाथ सैकड़ों शूल चुभ जाते थे।

इस चिन्ता में उसका विलास-रंग बिलकुल ही जाता रहा। नर्तकियों का जमाना गुजर गया। तबलचियों की एक दिन तूती बोलती थी, अब बेचारों को कोई कौड़ी के मोल खरीदनेवाला भी न था। तबले की जोड़ी पर सेरों गर्द जम गयी। बन्द चूहों ने काट दिये। सितार और सुरबहार के तारों को ज़ंग पकड़ गया। उस्तादों, नर्तकियों और तबलचियों को कुछ दिन बाद रसद मिलनी भी बन्द हो गयी। सबके सबने अपनी-अपनी राह ली। दैत्यपुरी में तबले की ठनकार की जगह फिर अस्त्रों की झंकार सुनायी देने लगी। हिरण्यकशिपु के होश ठिकाने आये, जंगी जोश सवार हो गया। अस्त्र-शस्त्रों को गढ़ाने और पिटाने के लिए देश-देश के नामी कारीगर बुलाये गये। दिन रात दैत्यराज का ध्यान बदला चुकाने पर लगा रहता था। उसने फिर लँगोटा कसा। फिर घोड़े पर जीन कसी गयी। तीर-तलवार और बल्लम फिर चमकने लगे। उसके साथ दूसरे दैत्य-वीर भी ऐयाशी में पड़ गये थे, उसके साथ उनके भी होश दुरुस्त हो गये, उनके साथ ही वे भी लड़ाई की तैयारियाँ करने लगे।

इन्हीं दिनों किसी मन्त्री से हिरण्यकशिपु को मालूम हुआ कि विष्णु अमर है। वह कभी मरता ही नहीं, इस विचार से हिरण्यकशिपु का हौसला कुछ पस्त

हो गया। जो मरता ही नहीं, उसे मारने के लिए हठ ही क्या ? कुछ समय के लिए सारा जोश ठण्डा पड़ गया। परन्तु दूसरे ही क्षण यह विचार पैदा हुआ कि अगर विष्णु अमर हैं, तो मैं भी अमर बनूं। मेरा पहला कर्तव्य यही होना चाहिए। उसने सुन रक्खा था कि तपस्या से सबकुछ हो सकता है। अनहोनी भी तपस्या के बल से हो जाती है। गूंगा बोलने लगता है, अन्धे को आँखें और दृष्टि-शक्ति मिल जाती है, लँगड़ा दूर की मंजिल तय कर लेता है, ऐसा कोई कार्य नहीं जो तपस्या के बल से सिद्ध न हो। हिरण्यकशिपु की सारी चित्तवृत्ति तपस्या की ओर झुक गयी। तप के प्रभाव से अमर होने के पश्चात् उसने विष्णु से लड़ने की तैयारी करना उचित समझा। मन्त्री ने भी उसे यही सलाह दी।

हिरण्यकशिपु ने राज्यभार मन्त्रियों के सुपुर्द कर दिया और खुद राज्य छोड़ दूर जंगल में तपस्या करने के लिए निकल पड़ा। हृदय में एक ही चिन्ता, एक ही भावना लगी रही कि अमर बनूं और भाई का बदला लूं। अगर विष्णु अमर होने के कारण न मरा, तो कम-से-कम उसे अधमरा जरूर कर डालूं। इसी भावना में वह अपने दिन पार करने लगा। जंगल में फल-फूल खाकर रहता और दिन-रात घोर परिश्रम से तपस्या किया करता। उसकी तपस्या भी तामसी होती थी। हठयोग की क्रिया से वह साधन कर रहा था। अमर होने के लिए वह ब्रह्मा का मन्त्र जप रहा था।

मन्दराचल-पर्वत पर हिरण्यकशिपु घोर तपस्या में मग्न रहने लगा। पहाड़ी, निर्जन-भूमि, छोटे-छोटे झरनों का पहाड़ पर से उतरते समय का सुहावना राग, फूलों का डण्ठलों पर हँस-हँसकर खिलना, मधुर हवा के झोकों में हरी-हरी पत्तियों का झूमना, हिलना और मचलना, पेड़ों का रक्षकों की तरह दिन-रात तनकर खड़ा रहना, सुबह की स्वर्ण छटा से पहाड़ी दृश्यों का नैसर्गिक शोभा धारण करना, शाम की सुनहरी चादर ओढ़कर किरण-कलिकाओं का विदा होना, आसमान की गोद पर चाँद का मुस्कराना, तारों के समाज का मौन, रात की एकाएक जगाकर उदास कर देनेवाली पवन, सैकड़ों फूलों का खिलकर अपनी-अपनी शोभा पर इतराना, एक दूसरे से चढ़ाबढ़ी करना, डण्ठलों की नजाकत पर चिड़ियों की बेरहमी, वार-वार एक से उड़कर दूसरे पर बैठना, उसे मुरझाना और हिंडोला झूलना आदि, पहाड़ के इन दृश्यों पर, चिरस्मरणीय शोभा की ओर हिरण्यकशिपु का ध्यान न था। वह तल्लीन होकर अपने इष्टदेव की आराधना कर रहा था। किसी प्रकार के बाहरी सौन्दर्य पर उसका मन चलायमान नहीं हुआ। सदा एक ही ध्यान, एक ही ज्ञान और एक ही आशा हृदय में जग रही थी। कितनी वर्षाएँ सिर पर से होकर गुजर चुकीं, कितनी ही हिम-राशि उस तपस्वी वीर को झुलस चुकी, कितने ही जेठ उसकी पीठ पर तप चुके, पर वह शान्त भाव से सब सहन करता गया। एक दिन के लिए भी चित्त को किसी प्रकार उदास या हताश नहीं होने दिया।

इधर हिरण्याक्ष की मृत्यु के बाद से ही देवताओं में एक नया उत्साह बढ़ रहा

था। एक शत्रु को तो भगवान् विष्णु ने मार डाला, रहा एक, इसे हम लोग वैतरणी पार कर दें, यह विचार कर देवता बहुत प्रसन्न हुए। वे आपस में संगठन करने लगे। जितने देवता दैत्यों के भय से इधर-उधर भागकर तितर-बितर हो गये थे, सब एकत्र होने लगे। इन्द्र, यम, वरुण, जयन्त, कार्तिक, पवन, देवताओं के और-और जितने सरदार थे, सब आपस में मिल गये, और अपनी संगठित सेना को दैत्यों के विरुद्ध संचालित करने का निश्चय कर लिया। दिन, तिथि, समय सब ठीक हो गया कि किस दिन, किस वक्त, किस तरह से देव-सेना दैत्यपुरी पर आक्रमण करेगी। शनि ने कहा मैं ऐसी नजर लगाऊँगा कि फिर बस! साढ़े-सात वर्ष तक दैत्यों को हैरान करने का पट्टा लिखता हूँ।

कार्तिक ने कहा, "तो अब तक क्यों भागते फिरे? एक नजर फेर क्यों न दी हिरण्यकशिपु पर कि साढ़े सात साल के अन्दर ही बच्चू ऐंठ जाते?—साँप भी मर जाता और लाठी भी न टूटती। मगर तुम्हारे जैसे दिल के कमजोर जितने होते हैं, सब इसी तरह जबानी जमाखर्च दिखलाया करते हैं, जब काम करने का समय आता है, तब एक साफ सिफर उनका हक अदा करते हुए देखा जाता है।"

शनि महाराज ने कहा, "तब न सही, अब सही। उस समय तुम्हारे जैसे बड़े-बड़े वीर जब पीठ फेरकर लम्बे कदम उठाने में एक-दूसरे से होड़ बदने लगे, तब भला मैं, सबका साथ छोड़कर दैत्यों पर कैसे नजर करने लगता?"

"अजी वाह!" पवन ने कहा, "भगे तो सबसे पहले तुम्हीं थे, और आगे भी सबसे तुम्हीं थे।"

शनि ने कहा, "तुम जानते ही हो कि मेरी चाल बड़ी धीमी है, और वक्त था वह भागने का, फिर भला यह ताड़कर कि अब सेनापति पलायन-पटुता दिखलाना ही चाहते हैं, पहले ही से अगर मैं न भागा होता तो क्या आज इस दशा में यहाँ तुम मुझे देखते?"

कार्तिक ने गरजकर कहा, "सेनापति का भागना ही उस समय के लिए ठीक था। तुम व्यर्थ ही मुझ पर व्यंग-वर्षा कर रहे हो। देवराज पकड़े जाते अगर हम न भागते।"

"क्यों नहीं?" शनि ने गम्भीरता के साथ कहा, "भागे बिना देवराज कैसे बचते? लड़ते रहने का अर्थ ही है पकड़े जाना, बाल-बाल बचना तो भागने ही को कहते हैं। मगर देव-सेनापति इस विद्या में बड़े निपुण हैं, लड़कर चाहे कोई श्रीमान् को पकड़ भी ले, लेकिन दौड़कर पकड़ना कितना मुश्किल काम है, यह मुझे बहुत वार प्रत्यक्ष हो चुका है।"

कुछ गम्भीर होकर इन्द्र ने कहा, "शनि, आपस में इस तरह की छेड़छाड़ अच्छी नहीं। इस समय हम लोगों के सामने एक बहुत बड़ा प्रश्न है।"

यम ने अपनी विशाल गदा उठाकर गम्भीर कण्ठ से प्रतिज्ञा करते हुए कहा, "अब इसके भीषण प्रहार से निस्सन्देह सैकड़ों दैत्यों का संहार कर डालूंगा।"

देवराज इन्द्र ने अपनी तेंतीस करोड़ वाहिनी का संगठन कर बड़े जोश में

आकर वीरों को प्रोत्साहन देते हुए कहा, "वीरो, अब के हथेली पर जान लेकर समर करना है। दैत्यों को उनके कुकृत्यों की पूरी शिक्षा देनी है। तुम लोग जानते हो, उन्होंने सैकड़ों वैष्णवों के सिर कटा लिये, सैकड़ों विष्णु-मन्दिरों की एक-एक ईंट ढहा दी, कितने ही निरपराध राजाओं को जीते-जी बाँधकर जलती हुई आग में डाल दिया। उनके अत्याचारों का भार अब पृथ्वी सह नहीं सकती। मदान्ध दैत्यों का नाश अब बहुत नजदीक आ गया है। तुम लोगों ने सुना होगा, और सुन-कर तुम्हें प्रसन्नता भी हुई होगी कि पाताल में भगवान् विष्णु ने वराह-रूप धारण कर दुष्ट हिरण्याक्ष का प्राणान्त कर दिया है। उसकी हत्या का समाचार उसके छोटे भाई, हिरण्यकशिपु को अभी थोड़े ही दिन हुए, मिला है। इससे निस्सन्देह वह दब गया होगा, और शायद इसीलिए राज-पाट छोड़कर कहीं तपस्या करने को गया है। हम लोगों को चाहिए कि उसकी तपस्या पूरी न होने से पहले ही हम लोग दैत्यों पर विजय प्राप्त कर उनका नाश कर डालें। तपस्या से हिरण्यकशिपु का शरीर निश्चय ही कमजोर पड़ गया होगा। तब तक हमें उसका पता भी मालूम हो जायगा कि वह कहाँ पर तपस्या कर रहा है। हम लोग उसकी तपस्या में विघ्न खड़ा कर देंगे। तपस्या भी अधूरी रहेगी और समय के रहते ही हम उसे मार भी सकेंगे। इस समय सब शत्रु जड़समेत उखड़ जायँगे। भाइयो, विष्णु भगवान् हमारे सहायक हैं। हमारा यज्ञ-भाग इन्हीं दैत्यों के कारण मारा गया है। हमारा धर्म है कि हम बहुत शीघ्र इसका बदला चुकायें।"

देवराज इन्द्र के जोश-भरे शब्द सुनकर देव-वाहिनी कड़क उठी। नस-नस में तीव्र आग्रह की स्फूर्ति संचरित होने लगी। आनन्द-वेग से बार-बार पुलकित होकर रोमावली अंकुरित हो उठी। सबने समस्वर से देवराज की जयध्वनि की। सबने कहा, "हम देवराज के लिए प्राण तक देने को तैयार हैं। समरभूमि में हम अपनी पूर्ण शक्ति के साथ अस्त्र चलायेंगे। दैत्यों को धराशायी करके ही छोड़ेंगे। पृथ्वी का संकट दूर करेंगे। ब्राह्मणों की रक्षा करेंगे। विष्णु-भक्तों को दुष्टों के हाथ से बचायेंगे। वैष्णव धर्म को फिर से पृथ्वी पर फूल-फलकर फैलाने देंगे।"

देवताओं का उस समय का संगठित शक्ति का विजय-घोष, मुर्दों में भी एक बार जीवन भर रहा था। करोड़ों कण्ठ पुनः-पुनः जयनाद करते हुए आकाश कम्पायमान कर रहे थे। इन्द्र ने सेनापति कार्तिक को मुकाम कूच करने की आज्ञा दी। देव-सेनापति ने अपनी प्रबल वाहिनी को अनेक हिस्सों में विभक्त कर दिया। हरएक समूह के लिए एक उपयुक्त वीर, सेनानायक पद पर अधिष्ठित किया गया। किस तरह दैत्यों की राह रोकी जायगी, किस तरह बढ़कर वार करना होगा। थकी हुई सेना को मदद पहुँचाने के लिए रक्षित सेना कहाँ किस रूप से रहेगी, किस तरह से आगे बढ़कर उसे अपनी सेना की सहायता करनी होगी, पार्श्व-रक्षक कौन-कौन होंगे, उनके साथ कितनी-कितनी सेना का रहना आवश्यक है, सेना का हरएक पदातिक अपने दूसरे सहायक से कितने फ़ासले पर रहेगा, मददगार को किस तरह अपने-अपने मित्र-सैनिक की पृष्ठ-रक्षा करनी होगी, कौन-सा

व्यूह रचकर पहले सेना-सन्निवेश किया जाना ठीक है, व्यूह के उखड़ते समय दूसरा कौन-सा व्यूह अपनी रक्षा के लिए रच लेना आसान होगा, भागती हुई शत्रु-सेना को किस उपाय से विद्ध-मृग की तरह अपने कब्जे में कर लेना सुगम होगा, इन कुल विषयों पर देव-सेनापति कार्तिक ने पहले ही से विचार करके निश्चय कर लिया। उन्होंने लड़ाई का नक्शा भी तैयार कर लिया, और साथ के सभी सहायक सेनापतियों को दिखलाया।

देवताओं की फौज बड़ी फुर्ती से बढ़ती गयी, और शीघ्र ही वह दैत्यपुरी के पास आ पहुँची। सेनापति की आज्ञा के अनुसार दैत्यपुरी को चारों ओर से देव-सैनिकों ने घेर लिया। आने-जाने का रास्ता बन्द हो गया। दैत्यपुरी में इससे बड़ी खलबली मची। सब लोग एकाएक आक्रमण होने पर बहुत घबराये। परन्तु तैयारी वहाँ भी थी। जब से हिरण्यकशिपु घर से बाहर निकला था, तब से वहाँ बड़ी रखवाली रहती थी। पहले से अधिक गुप्तचर नियुक्त कर रक्खे गये थे। फौजी-विभाग में पहले से दूना खर्च हो रहा था। दैत्यों को हिरण्यकशिपु के न आने तक देवताओं पर सदा सन्देह बना रहता था। वे सब समय सचेत रहते। इसलिए जब नगर के घिर जाने का हाल उन लोगों को मालूम हुआ, तब पहले तो वे बहुत हँसे। इन्द्र की हिम्मत देख वे उनकी दिल्लगी उड़ाने लगे। किसी ने कहा, "देखो, देवराज कैसा चोर है, समझा होगा, दैत्यपुरी खाली है, राजा इस समय नहीं है, चलो,—लूट लें, मगर यह तो न सोचा होगा कि देवताओं के दर्द की दवा करनेवाले यहाँ सैकड़ों दैत्य-वैद्य मौजूद हैं।"

किसी दूसरे ने कहा, "अरे तुमने देखा नहीं ? लोभ अन्धा है। जिस तरह उसके आँखें नहीं हैं, उसी तरह जिस पर वह सवारी करता है, उसे भी अन्धा बना देता है। अब वे दिन फिर बच्चू को भूल गये, जब दाने-दाने को मोहताज, जंगलों में घूमते थे। जान पड़ता है, अब इधर कुछ दिनों से दैत्यराज के चले जाने पर तोंद मोटी पड़ गयी है।"

एक तीसरे ने कहा, "तोंद मोटी बढ़ गयी होगी तो फिर पिचक जायगी। इसीलिए तो यहाँ आया है। मगर है बड़ा बेशर्म, कोई दूसरा होता तो चुल्लू-भर पानी की तलाश करता।"

दैत्यों में इसी तरह का मजाक छिड़ा हुआ था कि एकाएक बिगुल बजने लगा। बिगुल लड़ाई होने से पहले सेना की वर्दी डाटकर तैयार हो जाने के लिए बज रहा था। जितने दैत्य-सैनिक थे, सब सजग हो गये। सेनापति की आज्ञा पर सबके सब फौजी वर्दियाँ डाटकर अस्त्र-शस्त्र ले बात-की-बात में सज्जित हो गये, और जहाँ बिगुल बज रहा था, वहाँ आकर हाजिर हो गये। सैनिकों के मुख पर दृढ़ता, होंठों में प्रतिज्ञा, नेत्रों में साहस और वार्त्तालाप में प्रसन्नता टपक रही थी। सेनापति ने उत्साह बढ़ाते हुए कहा, "वीरो, आज दुश्मन घर बैठे ही हमें आ मिला है। इस समय महाराज यहाँ नहीं हैं, यह खबर पाकर ही देवताओं को यहाँ तक धावा करने का साहस हुआ है, वे अगर होते तो देवता पहाड़ों की गुफाएँ छोड़कर बाहर

निकलने का भी साहस न करते। उनके इस साहस से साफ सूचित है कि वे हमें क्या समझते हैं। भाइयो, इससे हमारा कितना अपमान हुआ, इसका तुम्हें सहज ही में अनुमान हो सकता है। दैत्यराज यहाँ नहीं हैं, तो क्या इससे दैत्यपुरी वीर-विहीन हो गयी ? मैं तो यह समझता हूँ कि दैत्यराज नहीं हैं, इसलिए दैत्यों में इस समय पहले से चौगुनी ताकत अधिक है। क्योंकि उनके न रहने पर भी दैत्यों को उनके नाम की रक्षा करनी है। यह राजधानी आज उनकी नहीं हमारी है। वे होते तो इसके राजा वे एक ही रहते, परन्तु आज हम हरएक इसके राजा हैं। वे रहते तो इसकी इज्जत पर ज्यादा उन्हें खयाल होता, परन्तु आज हममें हरएक को उसकी इज्जत का खयाल है। भाइयो, दुश्मन घर में बेधड़क घुस आये, और हम चद्दर तानकर सोते रहें ?"

"हरगिज नहीं, हरगिज नहीं।" उस विपुल सेना-समुद्र के एक छोर से दूसरे छोर तक यही शब्द सुनायी दिया। सेनापति ने कहा, "भाइयो, हमें प्राण देकर भी अपनी जन्मभूमि, माता की और उससे भी बढ़कर हर वक्त अपनी गोद में रखनेवाली जन्मभूमि की रक्षा करनी ही होगी।"

"अवश्य ही हम लोग अपनी जन्मभूमि की रक्षा करेंगे। प्राण दे देंगे, पर पैर पीछे नहीं पड़ेंगे। आप विश्वास रखिए।" करोड़ों कर्कश कण्ठों से निकलकर यह ध्वनि बार-बार वायुमण्डल में गूँजने लगी। सेनापति को अपनी सेना पर दृढ़ विश्वास हो गया। बड़े उत्साह में आकर उन्होंने अपनी विजयिनी सेना को बधाई दी। कुछ देर तक देवताओं की कायरता, उनके भागने की पटुता, दिल की कम-जोरी आदि पर व्याख्यान देते रहे, ताकि सेना की हिम्मत और बढ़ जाय। फिर द्वार-रक्षक से फाटक खोल देने के लिए कहा।

फाटक खुलते ही पहाड़ से निकलनेवाली टिड्डियों की तरह दैत्यों की सेना ने लड़ाई का मैदान छा लिया। सेनापति ने तत्काल अपनी विपुल सेना का व्यूह बना-कर शत्रुओं का सामना करने के लिए झण्डी हिलाकर इशारा किया। दैत्यों की फुर्ती का क्या कहना था ? क्षण-भर में सब सेना व्यूह रचकर खड़ी हो गयी और वार करने के लिए अपने सेनापति की ओर एक दृष्टि से ताकने लगी। सेना को सुरक्षित भाव से खड़ी देखकर सेनापति ने अस्त्र चलाने की आज्ञा दे दी।

उस दिन देव-वाहिनी और दैत्य-सेना की घमासान लड़ाई देखने ही लायक हुई। देवताओं में सताये जाने के कारण प्रतिहिंसा की भयानक ज्वाला धधक रही थी। सबने प्राणों का मोह छोड़कर दैत्यपुरी को आकर घेरा था। उधर दैत्य कई बार विजयी हो चुके थे। उनके दिल बढ़े हुए थे। वे देवताओं को वीरों में गिनते ही न थे। बड़ी देर तक लड़ाई होती रही। आज कुछ नजर न आया। दोनों ही अपनी-अपनी जगह पर डटे रहे।

आक्रमण से पहले दैत्यों ने एक भूल कर डाली थी। उन्होंने अपनी थकी हुई सेना को मदद पहुँचाने का उपाय नहीं सोचा। एकसाथ कुल फौज लेकर देवताओं पर टूट पड़े थे। उन्हें विश्वास था कि इस तरह सामना होते ही हम लोग देवताओं

को दबा लेंगे, और पैर उखड़ जाने पर फिर उनका ठहरना मुश्किल हो जायगा। दैत्यों को यह पता ही न था कि देवताओं की कुछ फौज अलग मदद के लिए रख छोड़ी गयी है। अस्तु—पहर-भर लड़ाई होने के पश्चात् दोनों ओर की सेना में शिथिलता देख पड़ने लगी। दैत्य-सेनापति के पास उत्साह-भरे शब्दों के अलावा अपनी सेना की सहायता करने का और दूसरा उपाय न था। उधर देव-सेनापति ने अपनी सेना को साहस देने पर भी अस्त्र चलाते हुए विलम्ब देख, मदद के लिए रक्षित फौज ले आने की आज्ञा दी। देखते-ही-देखते देवताओं की नयी फौज आकर डट गयी। थकी हुई सेना विश्राम करने के लिए भेज दी गयी।

देवताओं की नयी फौज का कठोर आक्रमण दैत्यों की सेना न सह सकी। सेनापति के वार-वार झण्डियाँ हिलाकर उत्साह बढ़ाने पर भी कुछ फल न हुआ। देवताओं की मार वह न सह सकी। उसे जान लेकर भागना पड़ा। देवताओं की विजय हुई।

विजय के पश्चात् बारी लूट की आयी। देवताओं ने खूब जी भरकर दैत्यपुरी को लूटा। हीरा, मोती, पन्ना, लाल, सोना, चाँदी सबकुछ वहाँ भरा हुआ था। देश-देशों की सम्पत्ति-राशि वहीं खिचकर आ गयी थी। देवताओं ने सब लूट ली। लूट के बाद नम्बर आया धरपकड़ का। देवताओं की विजय हो जाने पर उसी वक्त दैत्य जी लेकर दैत्यपुरी छोड़कर भाग गये थे। चारों तरफ से पुरी खाली पड़ी थी। वहाँ स्त्रियाँ और बच्चे रह गये थे। देवराज की आज्ञा से देवताओं ने किसी स्त्री या बच्चे को नहीं सताया। परन्तु हिरण्यकशिपु की स्त्री रानी कयाधू को कैद कर लिया। कयाधू उस समय गर्भवती थी। इन्द्र ने खासकर इसी विचार से उन्हें कैद कराया था।

कयाधू स्त्रियों में रत्न थीं। विधाता की इच्छा और कर्मफल के अनुसार दैत्य-पुरी में महारानी बनकर रहने पर भी उनमें दैत्य-स्वभाव की कोई छाप न थी। बड़ी ही सरल, पवित्र, उदार, दयालु, बुद्धिमती और स्वभाव की शान्त थीं। सभी गुण उनमें आकर इकट्ठे हो गये थे। देवता जब उन्हें कैद करके ले चले, तब उनके हृदय को बड़ा दुःख हुआ। परन्तु स्वाभाविक लज्जा और अपनी प्रतिष्ठा का विचार करके वे रोयीं नहीं। कलेजा मसोस-मसोसकर रह जाती थीं। परमात्मा की प्रेरणा से एक रास्ते से नारदजी मिल गये। मुनि को इनकी दशा पर दया आ गयी। उन्होंने इन्द्र से पूछा कि, "इन्हें कहाँ लिये जा रहे हो?" इन्द्र ने कहा, "हिरण्यकशिपु की पत्नी हैं, इस समय इनके गर्भ है। जब लड़का हो जायगा, तब इनको छोड़ दूँगा। इनसे मेरी कोई शत्रुता नहीं है, परन्तु इनका पुत्र मेरा परम शत्रु है। मैं उसे जरूर मार डालूँगा।"

नारद ने कहा, "वाह! यह आपकी कैसी नीयत है? उस बच्चे ने आपका क्या बिगाड़ा है? और सच तो यह है कि वह बच्चा ईश्वर का बड़ा ही भक्त होगा। फिर आप उसे मारने की ताक में क्यों लगे हो?"

नारद की बात पर इन्द्र को विश्वास हो गया। उन्होंने रानी को छोड़ दिया।

नारदजी रानी को अपने यहाँ ले आये। आश्रम की पवित्रता और ऋषि के आश्रम में रहना, ये दोनों ही गर्भवती रानी के लिए बड़े लाभकारी हुए। नारद ने कहा, "हिरण्यकशिपु जब तपस्या करके घर आ जायगा, तब हम तुम्हें वहाँ भेज देंगे।" आश्रम में नारदजी से रानी को अनेक प्रकार के उपदेश मिले थे। उनका असर उन पर उतना नहीं पड़ा, जितना उनके गर्भस्थ बच्चे पर पड़ा।

तृतीय परिच्छेद

वर-प्राप्ति और गृहागमन

तपस्या करते-करते हिरण्यकशिपु को कितने ही वर्ष हो गये, परन्तु कहीं कुछ न हुआ। इतना कष्ट सहन करने पर भी कहीं कोई न आया। तपस्या की प्रखरता से शरीर सूखकर काँटा हो गया, भूख-प्यास जाती रही, ऐश-आराम भूल गया, परन्तु फल कुछ न हुआ। कभी-कभी हृदय हताश होने लगा, इष्ट-देव से विश्वास उठने लगा, क्षण-भर के लिए दुर्बलता मन पर अधिकार फैलाकर उसे घर के दुःखों की याद दिलाती और तप छोड़कर लौट चलने के लिए एक परम मित्र की तरह सलाह देती, परन्तु दूसरे ही वक्त शरीर के रोम-रोम से दृढ़ता की तीव्र स्फूर्ति उसे कमजोरी की ओर ध्यान देने के लिए इशारा करती। कहती, "इससे बचो, इसका क्षण-भर के लिए आना भी तुम्हारे असाध्य साधन के लिए बड़ा विघ्न है। इसे हरगिज न आने दो। अगर फल की लालसा है, तो तब तक दृढ़ रहो जब तक व्रत पूरा न हो जाय। मन में दुर्बलता का लेशमात्र भी जब तक रहेगा, तब तक तुम्हें सफलता न होगी। यह तुम्हारे इष्टदेव की परीक्षा है। परीक्षा में तुम्हें उत्तीर्ण होना चाहिए। और भी दृढ़ होना चाहिए। अपनी लगन को और मजबूत करो। ध्यान एक मुहूर्त के लिए भी जब इष्टदेव के चरणों से विचलित न हो, तुम्हारा मनोरथ तभी पूर्ण होगा।" हिरण्यकशिपु पर दृढ़ता की ही विजय होती। वह वीर था, राजा था, विवेचक था। भले-बुरे का ज्ञान लेकर ही वह पैदा हुआ था। अन्तरात्मा की सच्ची सम्पत्ति कौन-सी है, इसके समझने में उससे गलती नहीं हुई। उसने निश्चय किया कि अब मन में दुर्बलता को कभी उठने भी न दूंगा, उठना तो क्या, मेरे मन में इसका रहना ही मेरी महत्ता का घातक है। उसे बड़ा पश्चात्ताप हुआ। वह पहले से और भी दृढ़ होकर तपस्या करने लगा।

आसन दृढ़ करके, प्राणों को साधकर एक चित्त से अपने इष्ट-देव ब्रह्मा का ध्यान करने लगा। न उसे ग्रीष्म-काल की कड़ी धूप की परवा थी, न वर्षा की प्रबल जल-धारा की, न शीत के प्रचण्ड हिम की। वीर एकनिष्ठ होकर एक ही आसन से

दीर्घकाल तक बैठा रहा। उसकी अटल तपस्या में बहुत से विघ्न आये, कितने प्रकार के प्रलोभन उसके चित्त को चलायमान करने के लिए आये, परन्तु उसने आँखें खोलकर उन्हें देखा भी नहीं। तल्लीन होकर ध्यान करता रहा। उसने निश्चय कर लिया था कि या तो शरीर-पात ही हो जायगा, या मेरा मनोरथ ही सिद्ध होगा।

हिरण्यकशिपु की उग्र तपस्या को देखकर ब्रह्मा का हृदय विचलित हो उठा। वे और विलम्ब न कर सके। मन्त्र के आकर्षण से उन्हें हिरण्यकशिपु के पास खिचकर आना ही पड़ा। परन्तु उनका हृदय खलबला उठा। भक्त पर कृपा की दृष्टि फेरने के लिए उन्हें उनकी बुद्धि बार-बार विवश करने लगी। ब्रह्मा अपने ब्रह्मलोक को छोड़कर जहाँ हिरण्यकशिपु तपस्या कर रहा था—आये, और बड़े स्नेहपूर्ण शब्दों में पुकारकर कहा, "वत्स हिरण्यकशिपु, तुम्हारी तपस्या आज पूरी हो गयी। तुम वर की प्रार्थना करो।"

हिरण्यकशिपु ने आँखें नहीं खोलीं। पहले उसे सन्देह हुआ कि कहीं कोई अविद्या रूपिणी माया मुझे छलने के लिए तो नहीं आयी? परन्तु हृदय के कान तो ऐसे होते हैं कि वहाँ कभी किसी तरह के छल की पैठ नहीं होती, वे तुरन्त ताड़ जाते हैं कि यह छल है। सत्य की ध्वनि भी वे समझते हैं। उन्होंने हिरण्यकशिपु को विश्वास दिलाया कि यह आवाज किसी दूसरे की नहीं, किन्तु तुम्हारे इष्टदेव की ही है, इसमें छल-छिद्र नहीं है, यह सत्य है, तुम आँखें खोलकर अपनी इच्छानुसार वर की प्रार्थना करो।

हिरण्यकशिपु ने चिरकाल के पश्चात् आँखें खोलीं। सामने वेद-कमण्डलु-धारी चतुर्मुख ब्रह्मा विराजमान थे। देखकर हिरण्यकशिपु का जी भर आया। हृदय उमड़ चला। आँखों से आनन्द की धारा बह चली। उसने बड़े भक्ति-भाव से सिर झुकाकर, हाथ जोड़ अपने इष्ट-देव को प्रणाम किया और कहा, "भगवन्, मुझ पर प्रसन्न होकर वर दे रहे हो—तो यह वर दो कि मैं अमर होऊँ।"

ब्रह्मा की भौंहें कुछ कुंचित हो गयीं। ललाट में सिकुड़न पड़ गयी, मुखमण्डल पर चिन्ता की रेखा खिच गयी। स्वर में संकोच आ गया। उन्होंने कुछ हिचकिचाते हुए कहा, "वत्स, एक इस वर को छोड़कर और चाहे जिसके लिए प्रार्थना करो, मैं तत्काल उसकी पूर्ति कर दूंगा, अमर-वर मेरी शक्ति से बाहर है।"

ब्रह्मा की बात सुनकर हिरण्यकशिपु को पहले-पहल बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने सोचा कि जिसके लिए मैंने इतनी मेहनत की, उसका तो इन्होंने एक ही बात से अन्त कर दिया। अब और कौन-सा उपाय है? कुछ देर सोचते रहने के बाद उसे एक चाल सूझी। उसने सोचा, अगर ब्रह्मा मुझे अमर-वर नहीं देना चाहते तो न दें, मैं इनसे वही वर एक दूसरे तरीके से माँग लूंगा। उसने कहा, "भगवन्, अगर आप मुझे अमर नहीं करना चाहते, तो कृपा कर यह वर दीजिए कि स्वर्ग, मर्त्य और पाताल में मेरा प्रतिद्वन्द्वी वीर कोई न रह जाय। मैं सबको परास्त कर सकूँ। देव, दानव, नर, नाग, असुर किन्नर, यक्ष, रक्ष, गन्धर्व कोई मेरे मुकाबिले में न

ठहर सके। संसार में जितने जीवधारी हैं, उनमें किसी के हाथ से मेरी मृत्यु न हो। न मैं दिन को मरूँ, न रात को, न बाहर, न चारपाई पर, न जमीन पर, न अस्त्रों से, न पानी-पवन से।"

हिरण्यकशिपु की प्रार्थना सुनकर ब्रह्मा मुस्कराये। कुछ देर बाद बोले, "हिरण्यकशिपु, मैंने तुम्हें यही वर दिया। मेरे वर से तुम तीनों-लोक में विजयी होकर रहोगे।" यह कहकर ब्रह्मा वहीं विलीन हो गये, और सूक्ष्म रूप धारण कर अपने लोक को चले गये।

ब्रह्मा के चले जाने के बाद हिरण्यकशिपु को अपनी चालाकी की सफलता पर बड़ी प्रसन्नता हुई। उसने कितनी ही बार अपने प्राप्त वर की मन-ही-मन आवृत्ति की और बहुत खुश हुआ। आँखों में गर्व छा गया। बाँहों में उत्तेजना भर गयी। मारे आनन्द के छाती फूलकर दूनी हो गयी। मनोवांच्छित अमर-वर मिलने की उमंग अंग-अंग को पुलकित करने लगी।

हिरण्यकशिपु जंगल छोड़कर अपनी सुहावनी राजधानी की ओर चला। मन में अनेक प्रकार की अपार वासनाएँ उठने और डूबने लगीं। बहुत दिनों से प्रियजनों और परिजनों को देखने की लालसा न जाने कहाँ दबी हुई पड़ी थी, आज एकाएक उमड़कर दिन-भर की राह, पल-भर में तय कराने लगी। किन-किन शब्दों से वह अपने वीर योद्धाओं को धन्यवाद देगा, उनकी फिहरिस्त वहीं से मन-ही-मन तैयार करने लगा। अपनी रानी को चिरकाल बाद जिस सुख-संवाद से वह प्रसन्न करना चाहता है, उसको अच्छी तरह अतिरिञ्जत करके याद करने लगा। किन-किन राज्यों पर घर पहुँचते ही चढ़ाई करनी होगी, कौन-कौन से वीर अभी जीतने को रह गये हैं, सब भूली बातों और भूले नामों को सोचकर याद करने लगा। विष्णु से बदला लेने की बात सबसे पहले याद आयी। पाये हुए वर पर उसने फिर से विचार किया, देखा तो देवताओं के कोठे में विष्णु भी आ जाते हैं। विजय प्राप्त करने के लिए नामों की जो सूची उसने ब्रह्मा के सामने पेश की थी, उसके अनुसार विष्णु तो क्या ब्रह्मा की अब तक की सृष्टि में ऐसा कोई भी जीव नहीं रह गया था, जिसे उसने सोचकर उस सूची में न दर्ज किया हो। अपनी बुद्धि और चतुरता पर चलते ही चलते वह फिर मुस्कराया, हौसला और बढ़ गया। साथ ही कदम तेज उठने लगे।

कुछ दिनों की मंजिल पूरी करके एक दिन वह अपनी राजधानी की सीमा पर आ पहुँचा। परन्तु वहाँ से तपस्या के लिए चलते समय जो शोभा वहाँ की उसने देखी थी, अब वह शोभा नहीं रह गयी थी, जैसे प्रचण्ड तुषार-पात से चारों ओर पतझड़ हो गया हो। उसकी जितनी दैत्य-प्रजा थी, सबके चेहरे उतर रहे थे। किसी की आँखों में वह ज्योति न थी, किसी में वह दृढ़ता न थी। सबके सब मानो किसी विषम शोक से मुरझा रहे थे। मानो कुछ दिन पहले वहाँ प्लेग जैसी किसी भयानक बीमारी का प्रकोप फैल चुका हो। लोग साँस भी लेते हैं तो रुक-रुककर, आपस में कुछ बातचीत करते हैं तो दबते हृदय से। एक अव्यक्त शंका मानो दिन-रात उन पर सवार रहती है। न कहीं नाच है, न रंग है, न रोशनी है, न सजावट है। न कहीं

ब्याह होता है, न कहीं जन्मोत्सव। जितने अखाड़े उसने देखे, सब पर बहुत दिनों से खाली पड़े रहने के कारण घास उग रही थी। कहीं कसरत करता हुआ भी कोई न मिला। धूप में रक्खे रहने के कारण मुग्दर जगह-जगह से चिटक गये थे।

हिरण्यकशिपु को अपनी राजधानी का बाहरी दृश्य देखकर बड़ा दुःख हुआ। किसी से कुछ पूछने की भी हिम्मत नहीं पड़ती थी। पहले का सब हर्ष भय में बदल रहा था। धीरे-धीरे उसके पैर भी थरथराने लगे। आगे को उठते ही न थे। कुछ देर के लिए वह पेड़ की शीतल छाया में बैठकर अपनी राजधानी की अतीत घटना पर विचार करने लगा। परन्तु कल्पना किसी एक परिणाम पर उसे नहीं ले गयी, वह कभी कुछ बतलाती, कभी कुछ और कभी कहती,—'तुम्हारा सेनापति राजद्रोही निकला, उसने तुम्हारा राज्य छीन लिया है।' कल्पना में तरह-तरह के रङ्ग देखकर हिरण्यकशिपु का मस्तिष्क बिगड़ गया। एक विचित्र ढङ्ग की ज्वाला तमाम शरीर से फूट-फूटकर निकलने लगी। उसने बैठे रहने की अपेक्षा अपने किले में चलकर सच्ची घटना मालूम करनी उचित समझी। वहाँ से विचार करता हुआ वह अपने किले की ओर चला।

बाहर से किले को देखकर उसका हृदय दहल गया। नजदीक पहुँचकर उसने देखा, किले का फाटक टूटा पड़ा है। संसार-विजयी राजा-महाराजा, बड़े-बड़े वीर भी जिस राह से गुजरने की कभी हिम्मत नहीं करते थे, आज स्यार और कुत्ते उसी राह से आते-जाते हैं! हिरण्यकशिपु का हृदय इस समय एक बच्चे के हृदय से भी दुर्बल हो रहा था। जिस वीर के आतङ्क से एक दिन सारी पृथ्वी हिल गयी थी, आज अपने हाथों की सँवारी हुई राजधानी की यह दशा देखकर वह खुद पग-पग पर काँप रहा है। इस समय न उसे अपने वर पाने का ध्यान था, न विष्णु के मारने का। राज्य की दुर्दशा देखकर वह खुद अपने को एक महा दुर्दशाग्रस्त भिक्षुक से भी गया-बीता सोच रहा है।

हिरण्यकशिपु किले के अन्दर गया। सबसे पहले वह उस जगह पर पहुँचा, जहाँ उसकी अजेय सेना रहती थी। गारद खाली पड़ी थी। इधर-उधर की दीवारें ढह गयी थीं। चूहों ने कहीं-कहीं खोदकर मिट्टी की राशि लगा रखी थी। ऊपर खम्भों के दराज में चिमगादड़ों ने अड्डा जमा लिया था। जङ्गली-लताएँ जगह-जगह से दीवार और छत पर चढ़कर फैली हुई खूब लहलहा रही थीं, मानो हिरण्यकशिपु को देखकर सब उससे मजाक कर रही हों। हँस-हँसकर लोट-पोट हो रही थीं। चुपचाप वहाँ से निकलकर हिरण्यकशिपु अपनी अस्त्रशाला में गया। वहाँ भी यही हाल। अस्त्रों का वहाँ कहीं नाम भी न था। दो-चार टूटी हुई तलवारें इधर-उधर पड़ी थीं। एक को उसने उठा लिया और गौर से बड़ी देर तक देखता रहा। देखते-ही-देखते उसकी आँखों से कई बूंद आँसू टपक पड़े। तलवार के ऊपर की मिट्टी कुछ धुल गयी। उसी की भाषा में तलवार पर कुछ लिखा था। वह पढ़ने लगा। पढ़कर उस तलवार को छाती से लगाकर वह उच्च स्वर से बच्चे की तरह रोने लगा। एक दिन उसके हाथ से इस तलवार ने संसार पर विजय प्राप्त की थी!

कुछ शान्त होकर हिरण्यकशिपु अपने रनवास की तरफ चला। किले के फाटक का दृश्य देखकर ही उसे विश्वास हो गया था कि यह चमन उजड़ गया है ! प्रवृत्तिवश वह इसकी नष्ट-श्री देखने के लिए भीतर आया था। रनवास के गगन-चुम्बी कँगूरे ढह गये थे। जहाँ उसकी रानी कयाधू रहा करती थी, आज उस निर्जन भवन में कोई पिशाचिनी वास कर रही है। एक ओर उलूक-दम्पत्ति दिखायी दिये। सबकुछ देखकर हिरण्यकशिपु जड़वत् निश्चल हो गया। वहाँ से हिलने की भी शक्ति उसमें न रही। सिर थामकर एक ओर बैठ कुछ सोचने लगा। सोचने पर भी शान्ति न मिली, और बिना सोचे रहा भी नहीं जाता था। हिरण्यकशिपु की मानसिक अवस्था बड़ी ही सङ्कटापन्न हो रही थी। कहाँ गये वे सब वीर जो संसार को बात-की-बात में नष्ट-भ्रष्ट कर डालनेवाले थे ?—किले की दशा ऐसी क्यों हुई ? किसने की ? क्या सबके-सब मर गये ? खबर देने के लिए क्या एक भी दैत्य न बचा रहा ? और रानी ? सोचते-सोचते हिरण्यकशिपु को चक्कर आने लगा ! एक पग भी चलना दुश्वार हो गया। उसने आँखें बन्द कर लीं। भीतर भी ज्वाला भभक रही थी। बाहर जो कुछ था, वह सब तो जल-कर शान्त हो गया, परन्तु हिरण्यकशिपु का अन्तर जल-भुनकर राख हो जाने से बच रहा था, इसीलिए आग वहाँ भी पहुँच चुकी थी, जल रही थी और जला रही थी। हिरण्यकशिपु की प्रकृति मानो उसका सर्वस्व छीनकर, उसे सर्वस्व देने का एक खेल कर रही थी। प्रथम सृष्टि को समूल ध्वंश करके उसकी जगह एक नयी और विचित्र रचना उसे कर दिखाना चाहती थी।

हिरण्यकशिपु को न आँखें बन्द करने पर ज़रा देर विश्राम मिलता था और न खोलने ही पर। आँखें खोलकर उसने सामने से एक वीर को आते हुए देखा। आने-वाले के हाथ में तलवार थी। परन्तु चाल-ढाल में किसी तरह की उद्दण्डता न थी। बल्कि उसकी शिथिल गति उसके शोक की सूचना दे रही थी। हिरण्यकशिपु उसे देखकर उठा नहीं। ज्यों-का-त्यों वहीं बैठा रहा। उसे किसी प्रकार का सन्देह भी नहीं हुआ, न हर्ष ही हुआ। शून्यदृष्टि से वह आगन्तुक की ओर देखता रहा। उस दृष्टि में न कोई आशा थी, न किसी प्रकार का भय। न किसी प्रकार का दबाव था, न कोई आग्रह। एक पत्थर की मूर्ति पर दर्शक की दृष्टि जिस प्रकार पड़ती है, उसी प्रकार आगन्तुक के मुख पर उसकी दृष्टि पड़ी। वह बिलकुल नजदीक आ गया। परन्तु हिरण्यकशिपु ने उसे नहीं पहचाना। उसने हिरण्यकशिपु के पैरों पर अपनी तलवार रख दी और कहा, "दैत्यराज, मैं अपराधी हूँ, मुझे दण्ड दीजिए।" हिरण्यकशिपु ने एक वार सिर से पैर तक उस युवक को देख, उसकी तलवार उठा ली, और कहा, "यह लो तुम्हारा दण्ड हो गया।" युवक ने तलवार ले ली। हिरण्यकशिपु उठकर खड़ा हो गया। युवक उसके गले से लिपटकर रोने लगा। हिरण्यकशिपु के भी आँसू नहीं रुके। भरे हुए गले से उसने कहा, "सेनापति-दैत्यराज !" इससे अधिक और कुछ सेनापति से कहा नहीं गया। कुछ देर तक दोनों मौन रहे।

चतुर्थ परिच्छेद

विजय और प्रह्लाद-जन्म

हिरण्यकशिपु के तपस्या के लिए राज्य से निकल जाने के बाद, राज्य पर जो-जो विपत्तियाँ आयी थीं, जिनका सामना दैत्यों को करना पड़ता था, जिनकी मार न सह सकने के कारण राज्य की यह दशा हुई थी, शुरू से अन्त तक सब हाल सेनापति ने हिरण्यकशिपु को सुनाया। सेनापति ने कहा, "दैत्यराज, दिल का हौसला दिल ही में दबा रह गया। हमारी सेना से देवताओं की सेना दूनी थी। इसीलिए हम कुछ सेना सहायता के लिए बचाकर रख नहीं सके। देवताओं की सेना काफी संख्या में मदद के लिए रख छोड़ी गयी थी। हमारी थकी सेना पर देवताओं की नयी सेना का आक्रमण हमारी हार का कारण हुआ। नहीं तो हम हरगिज न हारते। महाराज, बड़े दुःख के साथ कहना पड़ता है कि महारानी कयाधू की भी हम लोग रक्षा नहीं कर सके। इन्द्र उन्हें कैद करके साथ ही लेता गया है।"

रानी के कैद हो जाने की बात सुनते ही हिरण्यकशिपु की भौंहें तन गयीं। आँखों में खून उतर आया। मारे क्रोध के उसके होंठ काँपने लगे। देवताओं से बदला लेने और कैद से अपनी रानी को छुड़ाने के लिए वह तत्काल तैयार हो गया। सेनापति से कहा, "सेनापति, हमारी सेना इस समय कहाँ और किस अवस्था में है, क्या तुम उसका कोई पता रखते हो?" सेनापति ने कहा, "महाराज, देवताओं के भय से आपकी सेना जङ्गलों में इधर-उधर छिपी पड़ी है। सब दैत्य आपके आने की बाट जोह रहे हैं। मैं तो पास ही के जङ्गल में छिपा था। रोज एक बार यहाँ छिपकर चक्कर लगा जाता था। हमेशा देवताओं की नजर बचाकर रहना पड़ता है। आज आप आ गये, अब हमें कोई डर नहीं रहा। मैं अभी दैत्यों को खबर पहुँचाता हूँ। आप यहीं रहिए। हाँ, आपके भोजन का पहले कोई प्रबन्ध कर दूँ। दैत्यराज, एक बात आपसे जानने की बड़ी लालसा हो रही है। तपस्या का फल क्या हुआ?"

हिरण्यकशिपु ने कहा, "सेनापति, मेरा मनोरथ सफल हुआ। तीनों लोक में मुझे परास्त करनेवाला, परास्त तो क्या मेरे सामने ज़रा देर ठहरनेवाला अब कोई नहीं रहा। ब्रह्मा के वर से मैं अमर हो गया हूँ। अमर भी मेरा मुकाबला नहीं कर सकता।"

हिरण्यकशिपु की बात सुनकर सेनापति का सीना गर्व से तन गया। देवताओं को मारने की आशा दृढ़ हो गयी। प्रसन्नता से सेनापति बाहर गाँव की ओर निकल चला। वहाँ किसी के यहाँ से काफी तादाद में मद्य और मांस ले आया। हिरण्यकशिपु के सामने भोजन परोसकर, शराब का प्याला वहीं रखकर, सेना-संग्रह के लिए फिर बाहर निकल गया। हिरण्यकशिपु को बहुत दिनों बाद शराब मिली थी।

उसने उठकर शराब पी और वहीं एक ओर पड़कर आराम करने लगा।

इधर सेनापति जङ्गलों और खोहों में, जहाँ-जहाँ उसे भगे हुए दैत्यों का पता मालूम था, सबको हिरण्यकशिपु के आने का हाल सुनाता गया। उसके वर का समाचार भी उसने दैत्यां को उत्साह भरने की लालसा से कह दिया। बात-की-बात में खबर चारों ओर फैल गयी। फिर क्या था, चारों ओर से 'दैत्यराज हिरण्यकशिपु की जय' यही आवाज गूँजने लगी। देखते-ही-देखते दैत्यपुरी के टूटे हुए फाटक के भीतर दैत्यों की सेना का सागर उमड़ चला।

शोरगुल सुनकर हिरण्यकशिपु महल से नीचे उतर आया। उसके चेहरे पर उस समय अलौकिक आभा छा गयी थी। रह-रहकर उसे अपने पूर्व गौरव की बातें याद आती थीं। जिस अजेय वाहिनी के बल से एक दिन वह ससागरा पृथ्वी का एकछत्र सम्राट् हो सका था, उसकी ओर वह न जाने किस भाव से ताकने लगा। न जाने कितनी दूर उसकी वे सब बातें उसे छोड़कर चली गयी थीं। मानो वह समुद्र के इस पार खड़ा हुआ उस पार की याद कर रहा है। बीच में अगणित तरंगें, करोड़ों बाधाओं को उठा-ढहा रही थीं। इतना बड़ा परिवर्तन हो गया था। अब वह और उसकी वही विजयी-सेना मौजूद है। हिरण्यकशिपु भाग्य-ललाट के लेख को न मानता था। उसका ध्यान सिर्फ एक बात पर जमता था—अध्यवसाय बल पर। इसी से वह समझता था कि मैं इतना बड़ा त्रिभुवन-विजयी वीर हो सका हूँ। आज अपने दुर्दैव-विनष्ट दैत्यों के बीच में पहला उत्साह उसने अध्यवसाय बल के उच्चारण से प्रकट किया। उसने अपने तमाम वीरों को सम्बोधन करके कहा, "वीर दैत्य सरदारो, मेरे चले जाने पर दैत्यपुरी की क्या दशा हुई, तुम लोग अपनी आँखों देख रहे हो। परन्तु मुझे इसका बिलकुल गम नहीं है। मैं जानता हूँ तुम्हारे अध्यवसाय बल से ही यहाँ की श्रीवृद्धि हुई थी और उसकी रक्षा के न हो सकने का कारण भी तुम्हीं लोग हो। मैं समझता हूँ, अगर तुम लोग चाहोगे तो फिर इसकी वही दशा हो जायगी। मेहनत से संसार में सबकुछ हो सकता है। मुझे राज्य के नष्ट हो जाने का बिलकुल दुःख नहीं है। अगर मुझे दुःख है तो वह दैत्यों के अपमान का है। वीरो, देवताओं ने हमारा बहुत बड़ा अपमान किया है। हमें चाहिए कि हम लोग ब्याजसमेत इस अपमान का बदला चुकायें। अगर हम ऐसा न कर सके, तो कहीं भी मुँह दिखाने लायक न रहेंगे।"

दैत्यों के उस महा समुद्र में क्षुब्ध तरङ्ग की भाँति यह स्वर एक छोर से दूसरे छोर तक बह गया कि, अवश्य बदला लेंगे महाराज, नहीं तो हमारे दैत्य-नाम को धिक्कार है!

अपने वीरों का उत्साह देखकर हिरण्यकशिपु का दिल दूना हो गया। उसने सेनापति को सैन्य-सङ्गठित करने की आज्ञा दी। खुद तैयार होने लगा।

चौगुने उत्साह से इस बार दैत्यों की सेना सज्जित होने लगी। बड़ी-बड़ी आशाएँ उसने हृदय में भर रक्खी थीं। जिस दिन उनकी पराजय हुई थी, उस दिन से आज तक बदले की कितनी ही लालसाएँ उनके हृदय में पल्लवित हो-होकर

मुरझा गयी थीं। हिरण्यकशिपु की बाट जोहते हुए आज तक कितनी ही उत्सुकताओं को निराशा में बदल जाना पड़ा था। हृदय का उभार हृदय का भार बन गया था। परन्तु आज की सार्थकता में वे सब भावनाएँ सप्राण-सी होकर दैत्य-सेना में स्फूर्ति सञ्चार कर रही थीं। आज अपने विजयी-वीर को प्राप्त कर दैत्य-सेना में अदम्य साहस आ गया था। दैत्यों की विशाल सेना क्षण-भर में देवताओं का नाम-निशान मिटा देना चाहती थी। हिरण्यकशिपु को अपने साथ देखकर दैत्य-सेना में हजारों गुना उत्साह बढ़ गया था। मानो एक साधारण सैनिक भी उस रोज हिरण्यकशिपु हो गया हो।

देवताओं को जब मालूम हुआ कि दैत्य-सेना स्वर्ग-लोक की ओर बढ़ती चली आ रही है, तब उन्होंने इसका उपाय निकालने के लिए अपने सेनापति कार्तिक और जयन्त आदि को बुलाया। आपस में सलाह-मशविरा होने लगा। पहले हर-एक की सम्मति अलग-अलग हुई, एक दूसरे से न मिली। किसी ने कहा हम असङ्गठित हैं, हम पर एकाएक चढ़ाई हुई है, इसीलिए चलो भाग चलें। किसी ने कहा, नहीं, बिना लड़े हुए स्वर्ग का अधिकार कैसे छोड़ दें? किसी ने कहा, कुछ दिनों के लिए सन्धि कर ली जाय तो क्या बुरा है? दैत्य बेवकूफ और गँवार हैं, उनसे मिलकर उन्हें लौटा देना कोई बड़ी बात नहीं है। इसी तरह आपस में बात-चीत हो रही थी कि एक सिपाही ने आकर खबर दी कि दैत्यों की सेना फाटक पर आकर डट गयी है, अब फाटक टूटना ही चाहता है, जो उपाय करना हो कीजिए। देवताओं को बहुत जल्द सजकर मैदान में आने के लिए कार्तिक ने आज्ञा दी। परन्तु जब तक देवतागण सजकर तैयार होने लगे, तब तक दैत्य-सेना फाटक तोड़कर स्वर्ग-द्वार के भीतर आ गयी। चारों ओर कुहराम मच गया। देवता अभी सज्जित भी न हो पाये थे। किसी के सिर पर मुकुट नहीं, किसी को कमर कसने का भी समय नहीं मिला। दैत्य-सेना गारद के भीतर घुस गयी। देवताओं को भागने में भी विपत्ति पड़ी। बात-की बात में सब पराजित हो गये। चारों ओर हिरण्य-कशिपु का अधिकार हो गया। नन्दन-कानन, अप्सरा-कुंज, इन्द्रासन, स्वर्ग-राज्य, सब हिरण्यकशिपु का हो गया। देवताओं की अमलदारी स्वर्ग से उठ गयी। बेचारों ने भागकर जंगलों में आश्रय लिया। अब स्वर्ग-राज्य में दैत्यराज हिरण्यकशिपु की विजयपताका शीतल-मन्द समीर में लहराने लगी। परन्तु हिरण्यकशिपु के हृदय में विष्णु-वैर की जो प्रचण्ड आग जल रही थी, इस विजय से वह कुछ भी धीमी नहीं पड़ी। बल्कि यह विजय उस आग के लिए घृताहुति का काम कर गयी। उसकी ज्वाला और भी हजारों लपटों के साथ प्रज्वलित हो उठी। प्रतिहिंसा का जहर रोम-रोम से निकलने लगा। हिरण्यकशिपु के लिए क्रोधाग्नि में इस तरह धधककर जलने के सिवा और कोई चारा न था। क्योंकि विष्णु उसके लिए एक विषम समस्या उपस्थित कर रहे थे। जिनका न कहीं पता था, न मिलने की कोई उम्मीद। यह सब बहुत सोच-विचारकर हिरण्यकशिपु ने एक निहायत लाजवाब नुस्खा अपने दर्द का आप ही तैयार कर लिया। उसने चारों ओर यह फरमान जारी

करवा दिया कि जो कोई राज्य में विष्णु की पूजा करेगा, पूजा तो क्या, उसका नाम भी अगर किसी ने लिया, तो वह अपनी जान की खैर न समझे, उसे तत्काल फाँसी दे दी जायेगी। इस कठोर आज्ञा को सुनकर सारी प्रजा थर्रा गयी। परन्तु राजाज्ञा की अवहेलना करने की शक्ति किसी में न थी। अतः कुछ दिनों तक के लिए विष्णु-पूजा का बाहरी आडम्बर एक तरह से बिलकुल उठ गया। केवल स्मरण मात्र रह गया।

वासव-विजयी वीर हिरण्यकशिपु के दिल में आया कि अब चलकर अपने किले की मरम्मत करायें। राजाओं-महाराजाओं का ख्याल उठने-भर की देर होती है, उसके पूरा होने में ज़रा भी विलम्ब नहीं होने पाता और फिर हिरण्यकशिपु का ख्याल किसी ऐसे-वैसे राजा का ख्याल न था। उसके जितने सभासद थे, सबने एक स्वर से इस प्रस्ताव का अनुमोदन किया। हिरण्यकशिपु स्वर्ग-राज्य से अपनी राजधानी चला आया और नामी कारीगरों को बुलाकर अपने किले की मरम्मत कराने लगा। इस बार स्वर्ग-राज्य की सारी बनावट और सजावट वह अपनी आँखों देख आया था, इसलिए प्रतिद्वन्दितावश वह स्वर्ग से बढ़कर अपना किला बनवाने लगा। हिरण्यकशिपु की विजय के पश्चात् रानी कयाधू, पुरोहित और उसके पुत्र, जितने सब भाग्य की ताड़ना से तितर-बितर हो गये थे, सब उसके पास आ गये। सबके हृदयों में हिरण्यकशिपु को देखकर अपार आनन्द-सागर तरंगें मारने लगा। मुद्दतों से मुरझाये हुए जीवन-कुंज लहलहे और हरे-भरे हो गये। अपने प्यारे बच्चों को गोद में उठा हिरण्यकशिपु ने बड़े स्नेह से उनकी राजी-खुशी पूछी। पुरोहित से सानन्द मिलकर रानी कयाधू की ओर जब उसने दृष्टि फेरी, तब हृदय हर्ष से उत्फुल्ल हो उठा। चिन्ताएँ दूर हो गयीं, क्षण-भर में मुख पर दूनी रोशनी आ गयी, पतझड़ के बाद जैसे डालियाँ नये कोपल लेती हैं। आशा के कुल कोमल पल्लव रानी को देखते ही मानो बसन्त समीर की सुखद-गोद में झूमने-लहराने लगे। दैत्य-परिवार आज फिर अपने पूर्व-सुख और पूर्व पदवी पर आसीन हो गया। दैत्यराज हिरण्यकशिपु ने सुख से अपनी राजधानी को आबाद किया।

रानी कयाधू चार पुत्र-रत्नों की माता थीं। सबसे बड़े पुत्र का नाम अह्लाद, उससे छोटे का अनुह्लाद, संह्लाद, फिर प्रह्लाद। प्रह्लाद अपने भाइयों में सबसे छोटे थे। प्रह्लाद का जन्म दैत्य-कुल के लिए एक बड़ी विचित्र दुर्घटना हुई। जहाँ तमो-गुण की प्रधानता थी, जहाँ सुरा और मांस सबसे उपयोगी भोजन थे, उसी वंश में प्रह्लाद जैसे सदा ही ईश्वर-चिन्तन में लीन रहनेवाले भक्त शिरोमणि का जन्म होना खासतौर से एक बड़ी विचित्र बात थी। परन्तु परमात्मा की सृष्टि में कहीं-कहीं अनहोनी भी होकर ही रहती है। दैत्य-कुल में प्रह्लाद का जन्म एक ऐसी ही अनहोनी हो गयी थी। परन्तु इसमें भी ईश्वर का एक बहुत बड़ा रहस्य छिपा हुआ था। जिस हिरण्यकशिपु के हृदय में विष्णु-द्वेष एक क्षण के लिए भी नहीं मिटता था, उसी के यहाँ प्रह्लाद जैसे एक परम विष्णु-भक्त का जन्म हुआ, यह दैवी-रहस्य नहीं तो और क्या है? इसी ढङ्ग से परमात्मा दैत्य-कुल को शिक्षा और सुबुद्धि

देना चाहते थे।

बड़ी-बड़ी आत्माएँ जब आती हैं, तब उनके अनेक लक्षण पहले ही से जाहिर होने लगते हैं। बुद्धिमान जन उन लक्षणों से ताड़ जाते हैं कि फल शुभ होगा। प्रह्लाद के जन्म के सम्बन्ध में भी ऐसा ही हुआ। जब ये गर्भवास में थे, तब रानी कयाधू के मुखमण्डल से एक अपूर्व ज्योति निकल रही थी। उसे देखकर ही नारद समझ गये थे कि रानी के गर्भ में जो सन्तान है, उससे स्वर्गीय प्रकाश अवश्य निर्गत होगा। रानी कयाधू उन दिनों अनेक प्रकार की दैवी शक्तियाँ देख रही थीं। कभी वे देखतीं,—स्वप्न में उन्हें घेरकर देवियाँ उनसे वार्तालाप कर रही हैं, कभी देवताओं के दर्शन होते। कभी शीतल सुगन्ध मन्द-मन्द वायु में गूँजती हुई बड़ी ही मधुर ध्वनि, दूर से आती सुन पड़ती, कभी सुर-कन्याएँ उन्हें घेरकर नाच रही हैं। इस तरह के दर्शनों से रानी के मन में अनेक प्रकार की शंकाएँ तरंगें मारने लगी थीं। उन्होंने सोचा, कहीं ऐसा तो न हो कि कोई देवता मेरे गर्भ में जन्म लेने के लिए आया हो। हिरण्यकशिपु से ये बातें कह देने के लिए उनकी इच्छा तो थी, परन्तु उसका क्रूर स्वभाव उनका जाना हुआ था, इसलिए कहते घबराती थीं कि कहीं ऐसा न हो कि दैत्यराज गर्भ ही नष्ट कर देने की आज्ञा दे बैठे। इसी डर से दैत्य-राज से उन्होंने अपने स्वप्न-दर्शन आदि की बातें छिपा रखनी ही उचित समझीं। लेकिन दृष्ट्य की शंका किसी तरह हृदय से दूर न होती थी। बल्कि दिन-ब-दिन वह बढ़ती ही जाती थी। जब हृदय का बोझ असह्य हो गया, तब छिपाकर उन्होंने कुल-पुरोहित को बुला यह सब हाल उनसे कह दिया और इसका फल जानना चाहा। उन्होंने अमङ्गल की शंका को निर्मूल कर देने के विचार से ही कुल-पुरो-हित से यह सब कहा था। कुल-पुरोहित अजीब ढंग के आदमी थे।

ये रहते तो थे दैत्यकुल के बीच में, परन्तु दैत्यों के दुर्गुण इनमें छू भी न गये थे। कमल के पत्ते पर के पानी की तरह ये उस कुल के पुरोहित होते हुए भी उसके दुर्गुणों से हमेशा बचे रहते थे। यथार्थ ब्राह्मण की तरह से उस वंश की सदा ही मङ्गल कामना किया करते थे। और सबसे मजेदार बात तो यह थी कि जिस विष्णु से दैत्यराज का बाँसों बैर था, वही विष्णु इनके पूज्य इष्ट देवता थे! लेकिन थे ये इतने गहरे कि किसी दैत्य को इनकी थाह न मिलती थी। सबको यही विश्वास था कि हमारी तरह हमारे पुरोहितजी भी विष्णु को कहीं पा जायँ तो, अपने मन्त्र-बल से कच्चा ही खा जायँ! इधर पुरोहितजी का यह ख्याल था कि बहती लहरों को रोकना मूर्खता है, इसका नतीजा यही होता है कि रोकनेवाले को मुफ्त में उन लहरों के धक्के सहने पड़ते हैं। इसलिए सोचते थे कि जो बह रहा है, उसे तब तक बहने ही देना उचित है, जब तक वह खुद बाहर निकलने की इच्छा नहीं प्रकट करता, इस विचार से वे दैत्यों की इच्छा में कोई दखल न देते थे। इस तरह के विचित्र ढंग के पुरोहितजी ने जब रानी से समाचार सुने, तब मारे आनन्द के अधीर हो गये। उनकी आँखों से आँसू निकल आये। स्वप्न-दर्शन की बातें सुनकर भविष्य-सन्तान के सम्बन्ध में वे बहुत ही सच्चे निश्चय पर पहुँचे। उन्होंने कहा, "आप

अपनी सारी चिन्ताएँ दूर कर दें, आपके गर्भ से परमात्मा की एक बहुत बड़ी विभूति प्रकट होगी। इस पुत्र-रत्न से आपका तो मुख उज्ज्वल होगा ही, किन्तु आपका वंश भी कृतार्थ और धन्य हो जायेगा। लेकिन ये बातें आप किसी दूसरे से मत कहें, मैं बार-बार आपसे अनुरोध करता हूँ।" इस तरह रानी को सावधान कर कुल-पुरोहितजी अपने घर चले गये।

समय पूरा होने पर शुभ मुहूर्त में प्रह्लाद का जन्म हुआ। इस समय देवताओं की दाहिनी भुजाएँ फड़क उठीं। देव-पत्नियों के नूपुर अकस्मात् मधुर-ध्वनि से बज उठे। देवताओं के यहाँ सब प्रकार के सकुन एकसाथ दीख पड़े। आसमान बादलों से साफ हो गया। नन्दन-वन में देवताओं के फिर से आने की सूचना-सी होने लगी —देव-वंश के बच्चे-बच्चे के मुख पर एकाएक प्रसन्नता आ विराजी। सब एक प्रकार का अव्यक्त आनन्द अनुभव करने लगे।

दैत्यराज हिरण्यकशिपु यों तो सभी बच्चों को प्यार करते थे, पर प्रह्लाद में न जाने क्या एक विचित्र मोहिनी शक्ति थी। यह बालक इन्हें बहुत ही प्यारा था। इसमें एक ऐसी आकर्षण-शक्ति थी कि इसके पिता-माता ही नहीं, जो कोई देखता वही अपना सर्वस्व निछावर कर देता था, एक क्षण के लिए भी बच्चे पर से नजर हटाने की इच्छा न होती थी, सुन्दर मुखड़ा प्यार भरा, गुलाब के दलों को मात करनेवाले कोमल गाल,—भोलेपन की हद कर दिखानेवली भौंहें, सुन्दर गोरा रङ्ग, काले-काले लच्छेदार घुंघराले बाल, हर वक्त होंठों पर लगी हुई मन्द मुस्कराहट। बच्चे की कोमल बाँहों को सस्नेह भरकर हरएक मनुष्य उसे छाती से लगा लेता था। रानी कयाधू तो इसे देखकर मारे आनन्द के सबकुछ भूली रहती थीं। प्रह्लाद में चंचलता छू तक न गयी थी। दूसरे बालकों की तरह वे खेल-कूद में समय न खोते थे। उनकी शिष्टता और स्थिरता बचपन से ही उनकी आकृति और चाल-ढाल से प्रकट होती थी—वे बड़े एकान्तप्रिय थे। दूसरे बच्चों की तरह लड़कों से मिलकर खेलना-कूदना इन्हें बिल्कुल पसन्द न था। ये एकान्त में बैठते। जो कुछ देखते उसी में मुग्ध और तन्मय हो जाते थे। किसने उसको बनाया, वह इतना सुन्दर क्यों हुआ, इस तरह के प्रश्न उसी समय से उनके मन में उठने लगे थे। इस विचित्र सृष्टि का कर्त्ता कौन है, वह कैसा है, यह जिज्ञासा उस छोटी अवस्था में ही उनके हृदय में बस गयी थी। यह जिज्ञासा दिन-पर-दिन बढ़ती ही गयी। अन्त में यह मन को विकल करने लगी। मन की इसी अवस्था में, शास्त्र कहते हैं कि गुरु के दर्शन होते हैं। प्रह्लाद को भी गुरु के दर्शन हुए। एक दिन उसी रास्ते से नारद चले जा रहे थे। प्रह्लाद विकल नेत्रों से विधाता की रचना देख रहे थे। नारद ने इन्हें देख-कर समझ लिया कि बालक अधिकारी है। प्रह्लाद ने भी नारद को देखकर उनसे प्रश्न का उत्तर समझना उचित समझा। प्रह्लाद को विश्वास हो गया कि इस महात्मा से मेरे प्रश्न का उचित उत्तर मिल जायगा। यही विचार कर जिज्ञासु की तरह उन्होंने मुनिवर से पूछा, "भगवन्, यह सब जो कुछ मैं देख रहा हूँ, क्या है? यह कहाँ से आता है और अन्त में कहाँ जाकर ठहरता है? इसका उद्देश्य क्या है?"

नारद ने कहा, "बेटा, इस तरह की जिज्ञासा से तुम इसका भेद न पा सकोगे। भगवान् की इच्छा से ही इस सृष्टि की रचना, स्थिति और नाश होते रहते हैं। तुम उन्हीं की शरण में जाओ, वे तुम्हें इसका अर्थ बतला देंगे। राम-नाम के जाप करने से वे तुम्हें दर्शन भी देंगे। उनसे मिलकर उनके कार्य के सम्बन्ध में उन्हीं से पूछना, तब सब हाल मालूम हो जायेगा।" यह कहकर नारद चले गये। उनकी बात प्रह्लाद के दिल में बैठ गयी। गुरु ने रुँधे हुए फव्वारे का मुख खोल दिया—प्रवाह बहने लगा। भक्ति के वेग में प्रह्लाद ने अपने शरीर और मन को समर्पण कर दिया।

पंचम परिच्छेद

बाल्य-काल और गुरुकुल

समय धीरे-धीरे आता है और अनन्त की ओर चला जाता है। वह किसी की प्रतीक्षा नहीं करता, लोग ही उसकी प्रतीक्षा किया करते हैं। जो दु:ख में पड़कर समय पार कर रहे हैं वे सुखकाल की ओर टकटकी लगाये उसकी बाट जोहते रहते हैं। जिनकी चैन की वंशी बज रही है, वे पागल की तरह ईश्वर से मनाते हैं कि उनका समय और दीर्घ हो ताकि वे और जी भरकर सुखोपभोग कर लें। इसी तरह बालक की अपूर्णता यौवन की पूर्णता की ओर बढ़कर अन्त में काल के साथ नश्वर स्थावरता की ओर बढ़ जाती है।

बालक प्रह्लाद संसार की इस परिवर्तनशीलता को आश्चर्य-भरी दृष्टि से देखते, मन-ही-मन उसके रहस्य को समझने की कोशिश करते और समझकर अधीर हो जाते। उनकी दृष्टि में किशोर बालक-बालिकाएँ पड़तीं, उन्हें धूल में खेलते हुए मग्न देखकर कुछ देर तक वे वहाँ खड़े हुए उनकी तल्लीनता को बड़े गौर से देखते, फिर विचार करते, कभी किसी युवक को अच्छे-अच्छे वस्त्राभूषणों से सजकर सीना तान ऐंठकर चलते देखते तो, प्रश्न-भरी दृष्टि से कुछ देर तक उसकी ओर भी ताकते रहते और एकान्त में बैठकर उसकी मनोभावनाओं पर विचार करते। जब कभी अपनी मृत्यु की ओर तेजी से बढ़नेवाले जराजीर्ण किसी वृद्ध पर उनकी दृष्टि जाती और वे देखते कि उस अस्थि-चर्म मात्र का क्षीण शरीर अपनी अपूर्ण आशाओं के लिए दिन-रात अपनी आह की आग में झुलस रहा है, तब उन्हें एक बहुत बड़ी शिक्षा मिलती—वे भविष्य की चिन्ता में डूब जाते थे और इससे उन्हें अपार हर्ष होता था। संसार का रहस्य ज्यों-ज्यों गुरु की कृपा से उनकी बुद्धि में विकसित होने लगा, त्यों-त्यों उनके हृदय में वैराग्य की भूमि बन-चुनकर तैयार होने लगी। ये भाव ईश्वर-प्रेम के पौधे को पल्लवित करने में बड़ी सहायता देने लगे।

इस समय प्रह्लाद की उम्र तो पाँच ही साल की थी, परन्तु उन्हें इतनी ही उम्र में सार और असार का ज्ञान हो गया था। वे समझ गये थे कि संसार में जन्म-धारण करने का उद्देश्य क्या है? यह संसार जिसे हम अनेक भावों से भरा-पूरा देखते हैं, क्या है? यहाँ आने पर कोई अमर वस्तु भी मिलती है या नहीं, जितनी चीजें देखने-सुनने और बुद्धि द्वारा समझी जानेवाली हैं, वे नश्वर हैं या अमर। अनेक प्रकार की उलझनों को अपने बाल्य-काल में ही प्रह्लाद में सुलझाने की शक्ति आ गयी थी। वे अवस्था के तो बालक थे, परन्तु बुद्धि के उसी समय प्रौढ़ हो चुके थे। पूर्व-संचित सुकृत-राशि, अपनी सम्पूर्ण विभूतियों के साथ इस बालक के देह से प्रकट हो रही थी।

प्रह्लाद कभी खेलते न थे। अपने साथियों के साथ जाते तो थे, परन्तु जब वे खेलने लगते थे, तब वे वहाँ से न खेलने का कोई बहाना करके एकान्त में बैठ अपनी नित्य की साधना किया करते थे। ईश्वर की कृपा तो वे अपने साथ ही लेकर पैदा हुए थे। इसलिए उनके गुणों का कहना ही क्या है? उस छोटे बालक के भीतर शिष्टाचार, विनय, सरलता, मधुर-भाषिता, निरहङ्कार, सर्वजन-प्रियता आदि जितने सद्‌गुण हैं, एक साथ ही आ बसे थे। इन सद्‌गुणों के कारण वे अपने दूसरे भाइयों से अपने माता-पिता के अधिक प्यारे थे। हिरण्यकशिपु—प्रह्लाद की ओर ज्यादा खिंचाव रहने के कारण अपना निश्छल पुत्र-प्रेम ही समझता था। वह यह नहीं जानता था कि यह पुत्र-प्रेम नहीं, किन्तु यह सद्‌गुणों का आकर्षण है और अन्त तक उसे इन गुणों की ओर खिंचा रहना होगा—चाहे वैर-भाव से ही हो।

अस्तु। एक दिन प्रह्लाद अकारण टहलते हुए पिता के पास आये। हिरण्यकशिपु ने आदरपूर्वक उन्हें गोद में बैठा लिया। सस्नेह चुम्बन करके देखने लगा। प्रह्लाद शान्तभाव से पिता की गोद में बैठे रहे। इतने शान्त थे कि जरा भी हिलते-डोलते न थे। इन दिनों प्रह्लाद की उम्र पाँच वर्ष की थी। शिशुता को पार कर बालपन की आभा आ गयी थी। हिरण्यकशिपु उन्हें गुरुकुल भेजने का विचार करने लगा। उन दिनों उनके तीन लड़के जो प्रह्लाद से बड़े थे, गुरुकुल में ही रहा करते थे।

पहले वर्णाश्रम-विभाग की योग्यता बड़े वैज्ञानिक ढंग से की गयी थी। वर्णाश्रम-धर्म के माननेवाले ब्राह्मणों, क्षत्रियों और वैश्यों के लिए प्रथम जीवन में ब्रह्मचर्य-पालन आवश्यक कर्त्तव्य होता था। इससे किसी बहाने फिसलने का उपाय बच्चे के लिए न रह जाता था, न आजकल के श्रीमान्-श्रीमतियों की तरह सुवर्ण-राशि पर नजरें डालकर बच्चे की शिक्षा से उदासीन रहने की पहले कोई स्वतन्त्रता ही थी। सबको शिक्षा का आवश्यक नियम पालन करना पड़ता था और सब कोई इसे बच्चे के लिए अपना धर्म समझते थे।

हिरण्यकशिपु की उत्पत्ति दैत्यकुल में होने के कारण वह वर्णाश्रम-धर्म से पतित समझा जाता था, क्योंकि उसके गुणों और कर्मों से वर्णाश्रम-विभाग का कोई सम्बन्ध न था। परन्तु गुरुकुल में रहने की प्रथा उसके यहाँ भी प्रचलित थी।

उसके तीन लड़के गुरुकुल में रहते भी थे। यह प्रथा ब्राह्मणवंशोद्भव शुक्राचार्य के वहाँ गुरु के रूप में रहने के कारण ही शायद चली थी। कुछ भी हो, शिक्षा देना और अपनी सन्तान को विचारों से पुष्ट बना देना हरएक शिक्षित समाज अपना पहला कार्य समझता है, चाहे उसके धर्म-कर्म और खान-पान कैसे ही हों।

जिस समय हिरण्यकशिपु को प्रह्लाद की शिक्षा की बात याद आयी, उस समय दैत्यकुल-गुरु शुक्राचार्य घर पर नहीं थे। वे तपस्या करने के लिए हिमालय चले गये थे। महीने-दो महीने तक हिरण्यकशिपु, गुरु के आने की बाट जोहता रहा। परन्तु और अधिक विलम्ब करने से इधर प्रह्लाद की शिक्षा का समय व्यतीत हुआ जा रहा था। इसलिए वह अधिक देर न कर सका। उनके सुयोग्य-पुत्र—षण्ड और अमर्क के हाथों बालक प्रह्लाद के पढ़ने का भार दे देना निश्चय कर लिया। षण्ड और अमर्क की योग्यता में कोई कसर न थी। पिता की अनुपस्थिति में उनका कुल काम ये बड़ी योग्यता और तत्परता से करते थे। प्रह्लाद के बड़े तीनों भाई इन्हीं के पास रहकर विद्याभ्यास कर रहे थे।

भाइयों के साथ रहकर पढ़ने की बात से प्रह्लाद को विशेष प्रसन्नता नहीं हुई। उनके स्वभाव से इनका स्वभाव नहीं मिलता था। ये स्वभावतः उदासीन रहा करते थे। इनके तीनों भाई क्रीड़ा-कौतुक बहुत पसन्द करते थे। खेल-कूद में वे साधारण बालकों से भी बढ़े-चढ़े थे। यही कारण था कि प्रह्लाद की इनसे पटरी न बैठती थी। ये भी प्रह्लाद को भौंदू समझते थे।

दैवयोग से एक दिन प्रह्लाद माता के पास बैठे हुए थे। एकाएक गुरुकुल की बात उठी। प्रह्लाद के गुरुकुल जाने की बात से रानी कयाधू को बड़ी प्रसन्नता हुई। माता को प्रसन्न देख प्रह्लाद ने पूछा, "माता, वहाँ जाने से क्या होता है?" पुत्र के सरल प्रश्न पर रानी का हृदय स्नेह से भर आया। बच्चे को गोद में उठाकर समझाने लगीं। कहा, "बेटा, विद्या के बिना जीवन का कुछ भी मूल्य नहीं है। मूर्ख और पशुओं में फिर ज्यादा फर्क नहीं है। अपना पेट किसी तरह पशु भी भर लेते हैं, और मूर्ख भी। विद्वान् मनुष्य स्वयं तो ज्ञानी होता ही है; वह दूसरे को भी मार्ग बतलाता है। उससे उसके देश और उसकी जाति का महान् उपकार होता है। बिना विद्या के बुद्धि कभी पूर्णता प्राप्त नहीं कर सकती। और भी बहुत से सद्गुण विद्या से प्राप्त होते हैं। तुम राजा के लड़के हो। तुम्हें बहुत बड़े जन-समुदाय को मार्ग बताना है। यदि तुम विद्वान् न होगे तो बुद्धि के अभाव से तुम राजपद के योग्य न हो सकोगे। शरीर-बल से मस्तिष्क-बल को अधिक महत्त्व दिया गया है। तुम जहाँ पढ़ने के लिए भेजे जा रहे हो, वहाँ तुम्हारे भाई हैं और बहुत-से लड़के और भी हैं। किसी से तकरार न करना। सबको प्यार करना। अपने बड़े भाइयों का सम्मान करना। गुरु की आज्ञा का उल्लंघन कदापि न करना। गुरु जैसा मार्ग बतावें, उसके अनुसार ही कार्य करना तुम्हारा धर्म है। व्यर्थ अपना समय बरबाद न करना।" रानी ने और भी अनेक प्रकार की शिक्षाएँ प्रह्लाद को दीं।

प्रह्लाद ने अन्तिम वाक्य को बड़े ध्यान से सुना। मन-ही-मन उसे दुहराया भी।

'समय बरबाद न करना।' इस वाक्य से प्रह्लाद का मन बहुत दूर चला गया। उन्होंने माता से कहा, "माँ, क्या सब लोग मुफ्त में ही समय बरबाद नहीं करते? कौन हममें ऐसा है जो समय का सच्चा मूल्य समझता हो? जिन्दगी समय बरबाद करने में ही पार कर दी जाती है—किसका ध्यान इधर होता है? धन-जन इसी तरह की तृष्णा-तृप्ति में समय का सम्पूर्ण अंश कट जाता है। देखो—क्या ऐसा कोई है जिसके समय को कहें कि बरबाद नहीं होता? जिस विद्या के लिए लोग इतनी मेहनत करते हैं, क्या वह विद्या समय की बरबादी करके ही अर्जित नहीं की जाती? अच्छा, उस विद्या से लाभ क्या होता है? ज़रा मन में विचारो तो आँखों का पर्दा हट जाता है। कोई देवताओं को सताने के लिए नये-नये तरीके इसी विद्या के बल से निकालते हैं, कोई इसके बल पर दूसरों को ठगकर दूसरों की आँखों में धूल झोंककर धनी हो जाने की ताक में रहता है। क्या यही विद्या है? क्या इसी के लिए पिता मुझे गुरुकुल भेज रहे हैं! मैं समझा, बिना इसके शासन करने की कठोर योग्यता मुझमें न आ सकेगी। माता, विद्या का अर्थ तो मेरी समझ में इतना ही आया है।"

आज तक प्रह्लाद के मुख से ऐसी बातें रानी कयाधू ने कभी नहीं सुनी थीं। आज एकाएक इतनी लम्बी और सारगर्भ बहस सुनकर उनके होश उड़ गये। तत्काल पुत्र की अमङ्गल-शंङ्का सवार हो गयी। वे डरीं कि कहीं दैत्यराज के कानों में प्रह्लाद की ये बातें पड़ीं तो वे एक क्षण भी इसे जीता न छोड़ेंगे। रानी का हृदय पुत्र-स्नेह के कारण इतना दुबला हो गया कि होनी और अनहोनी सब तरह की विपत्तियों को वे प्रह्लाद के ऊपर से गुजरते हुए देखने लगीं। जो-जो बातें प्रह्लाद के गर्भावस्था में रहते समय से सुनती आती थीं, इस समय स्नेह में पड़कर एक तरह भूल-सी गयी थीं। आज प्रह्लाद की बात से चोट खाकर उन्हें उन बातों की याद आने लगी। परन्तु जिस मार्ग से प्रह्लाद चल रहे थे, उससे उन्हें फेरना सहज काम नहीं था। क्योंकि नारद और अपने पुरोहितजी से रानी ने सुन रक्खा था कि बालक परम धर्मात्मा होगा। जब यह बात याद आयी तब और कुछ न कहकर रानी चुप हो रहीं। मन-ही-मन उन्होंने भी परमात्मा की शरण ली। तब से बच्चे की रक्षा के लिए चुपचाप ईश्वर से प्रार्थना करना उनका पहला कर्तव्य हो गया।

इधर धीरे-धीरे वह दिन भी आ गया, जिस दिन प्रह्लाद को गुरुकुल जाना था। राजद्वार में उस दिन लोगों की अपार भीड़ हुई। कितने ही उनमें सिर्फ तमाशा देखने के लिए आये थे। जो लोग बड़े जेठे थे, वे प्रह्लाद की शुभ-कामना करते हुए आशीर्वाद देते जा रहे थे। उस दिन पहले से ही आतशबाजियाँ छूटनी शुरू हो गयी थीं। गढ़ के अन्दर बड़ी चहल-पहल थी। कहीं नाच-रंग हो रहा था, कहीं पहलवानों का अखाड़ा जम रहा था, कहीं कवायद होती थी, तो कहीं घुड़-दौड़ में सब लोग मग्न थे। दैत्यों की प्रसन्नता का ठिकाना न था। राजपरिवार में तो आनन्द का सागर ही उमड़ रहा था। सब प्रसन्न थे, पर प्रह्लाद के लिए जैसे कहीं कुछ न हो रहा हो! उन्हें समदर्शन की शिक्षा मिली थी। गुरु जो बीज बो गये थे,

आज इतने दिनों में वह पल्लवित होकर पुष्पित होने जा रहा था—शीघ्र ही उसमें फल लगनेवाले थे। वह पेड़ इतना मजबूत हो गया था कि इन झोंकों से उसे कोई नुकसान नहीं पहुँचा। वह पूर्ववत् अचल और अटल रहा।

शुभ मुहूर्त आ पहुँचा। पुरोहित मधुर स्वर से मंगल-स्तोत्र पढ़ने लगे। प्रह्लाद को दधि-मुख करा दैत्य-बालाएँ मण्डप के नीचे ले आयीं। बालक यन्त्र की तरह सबकुछ करता गया। उस मंगल-ध्वनि के मध्य में रानी कयाधू का हृदय रह-रहकर काँप उठता था। वे वार-वार परमेश्वर से अपने प्यारे पुत्र की बाधाओं को दूर करने की प्रार्थना करने लगीं। स्तोत्र-पाठ के पश्चात् पुरोहित की आज्ञा से दैत्यराज हिरण्यकशिपु ने प्रह्लाद को विद्याध्ययन के लिए षण्ड और अमर्क के हाथों सौंप दिया।

यद्यपि राज-वंश का शिक्षाक्रम षण्ड और अमर्क को मालूम था, फिर भी उन्हें एक वार और सचेत कर देने के लिए हिरण्यकशिपु ने एकान्त में बुलाकर कहा, "आपसे ज्यादा कुछ कहना व्यर्थ है। आप जानते हैं दैत्य-कुल के लिए किस तरह की शिक्षा उपयोगी समझी जाती है। फिर भी आपको एक बार और याद दिलाता हूँ। जिस शिक्षा से प्रह्लाद अपने भाइयों की तरह विष्णु द्वेषी हो, देवताओं को अपना परम शत्रु समझे, और विष्णु और वैष्णवों के नाश का विचार आजीवन इसके हृदय में भरा रहे, आप ऐसी ही शिक्षा इसे दीजियेगा।"

षष्ठ परिच्छेद

प्रह्लाद की शिक्षा

गुरु बड़ी प्रसन्नता से प्रह्लाद को ले गये थे। बालक की सहज-सुन्दर-श्री और भाव भरा मुखड़ा देखकर उन्हें विश्वास हो गया था कि यह अपने दूसरे भाइयों से पढ़ने-लिखने में तेज होगा। साथ ही प्रह्लाद के भविष्य पर और भी अनेक तरह की कल्पनाएँ वे करते गये थे।

गुरुकुल पहुँचकर नजर उठा प्रह्लाद ने पहले उस तृण के बने आश्रम को देखा, बड़ा अच्छा लगा। आँखें शान्त हो गयीं। हृदय में दिव्य भावना भर गयी। एक अव्यक्त आनन्द, आत्मा को अधीर करने लगा, मन न जाने कहाँ, किस दूर-देश की ओर उड़ जाने के लिए व्याकुल हो उठा। फिर उन्होंने विद्यार्थियों की ओर दृष्टि फेरी। उनमें कितने ही उनके जान-पहचान के भी थे। उनके भाई भी वहीं बैठे पढ़ रहे थे। बड़े श्रद्धाभाव से बढ़कर प्रह्लाद ने उनके पैर छुए। उठकर उन्होंने प्रह्लाद को गले से लगा लिया। उनके पास ही एक ओर प्रह्लाद को भी बैठने की जगह

मिली। शान्तचित्त से प्रह्लाद अपने आसन पर बैठ गये। लड़कों को उन्हें देखकर बड़ा आनन्द हुआ। उनमें कोई तो उनकी ओर इशारे से अपना आनन्द सूचित करने लगा और कोई पाटी दिखाने के बहाने उठकर दबी आवाज में कुशल पूछने लगा। किसी ढीठ लड़के ने कानों तक लपककर 'आ गये!' की श्रुति-मधुर-ध्वनि की। प्रह्लाद चुपचाप सिर झुकाये अपने आसन पर बैठे रहे। लड़कों ने समझा, अभी आज तो ये चले आ रहे हैं, एक दिन में दृढ़ता कैसे आ सकती है? धीरे-धीरे ये भी हमारी तरह गुरुजी को धोखा देना सीख जायँगे।

गुरु ने कुछ लिखने-लिखाने से पहले गुरुकुल की जबानी शिक्षा देनी उचित समझी। उन्होंने प्रह्लाद से कहा, "बेटा, आज से तुम्हारा दूसरा जीवन शुरू होता है। आज तक तुम सुख से अपनी माता और पिता की गोद के खिलौने थे। तुम्हें भोजन-पान और खेलने के सिवा वहाँ और कुछ नहीं करना पड़ता था, तुम कुछ करने लायक थे भी नहीं, अब तक तुम्हारी दूसरी ही अवस्था थी। आज तक जिस तरह तुमने अपने माता-पिता का कहना माना है, अब वैसे ही तुम्हें यहाँ का अनुशासन मानकर चलना पड़ेगा। इससे यह फल होगा कि यहाँ की अच्छी आदतें जब तुम्हारे स्वभाव में बदल जायँगी, तब उनके करने-कराने के लिए तुम्हें फिर इतनी मिहनत न करनी पड़ेगी—तब वे आप-ही-आप तुमसे होती रहेंगी। इसलिए पहले से तुम्हें सावधान हो जाना चाहिए, ताकि यहाँ के आचरणों के प्रतिकूल कोई कार्य न हो। दूसरी बात यह कि घर पर तुम्हारे बहुत से सेवक हैं, लेकिन यहाँ अपना कुल कार्य तुम्हें ही करना होगा। अभी कठोर कार्य तुमसे न लिया जायगा, किन्तु फिर भी छोटी-छोटी आवश्यकताएँ खुद तुम्हीं से पूरी होनी चाहिए। तीसरी बात यह कि तुम यहाँ कभी यह घमण्ड न कर सकोगे कि तुम राजा के लड़के हो। यहाँ जितने लड़के हैं, सबका बराबर आसन है। सम्मान की दृष्टि से बड़ा वह है, जिसने अध्ययन अधिक किया है। तुम्हें सदा ही उसका अदब करना चाहिए। इस तरह से तुम स्वावलम्बी हो सकोगे। दूसरे जब कि तुम्हें एक दिन राज्य का भार सँभालना है, तो यहाँ साधारण रीति से जीवन बिताने के कारण तुम अपनी प्रजा के दुःखों का अनुभव कर सकोगे। और भी हम तुम्हें बहुत-सी जबानी शिक्षा देंगे, लेकिन आज इतना ही बहुत है।"

प्रह्लाद मौन धारण किये उसके अनुशासनों को सुन रहे थे। तीसरी आज्ञा उन्हें भायी। राजा और रंक ही आसन पर बैठकर ज्ञानार्जन करते हैं, समता के इस भाव से समदर्शी बालक का मुख प्रफुल्लित हो उठा।

इधर प्रह्लाद के लिखने के लिए गुरु ने पाटी पर 'क' लिखकर प्रह्लाद को पाटी पकड़ा दी और कहा, "बेटा, कहो—'क'। प्रह्लाद ने हाथ में पाटी ले ली। एक दृष्टि से उस अक्षर को देखने लगे। 'क' सुनकर हृदय का दबा हुआ भाव उबल पड़ा। आँखों से बड़े-बड़े आँसू बह चले। कपोलों को सिक्त करके आँसुओं की अनर्गल धारा पाटी पर गिरने लगी। गुरु का बनाया 'क' उन पवित्र आँसुओं से धुलकर साफ हो गया। प्रह्लाद को 'क' का नाम सुनते ही परम प्यारे कृष्ण की याद आ गयी थी।

उस अक्षर में कृष्ण-नाम की ध्वनि छिपी हुई है, यह सोचते ही प्रह्लाद की भाव-राशि पहाड़ के दबे झरने की तरह एकाएक खुल पड़ी और एक तिनके की तरह उन्हें अपने उद्दाम स्रोत में बहा ले गयी। प्रह्लाद की यह हालत देखकर उनके गुरुओं, भाइयों और साथ के दूसरे विद्यार्थियों को बड़ा आश्चर्य हुआ। सबके सब विस्मित नेत्रों से उनकी ओर ताकने लगे।

आचार्यों ने समझा, अभी नादान बच्चा है, माँ की याद आ गयी होगी, इसीलिए रोने लगा है, धीरे-धीरे जब यहाँ के लड़कों में अच्छी तरह हिल-मिल जायगा, तब इस तरह रोकर आँसुओं की गंगा न बहायेगा। लड़कों ने सोचा, लो हो गया, जब पहले ही दिन इनकी नानी मर गयीं, तब तो पढ़-लिखके ये पक्के पण्डित हो चुके! अब तो जिन्दगी-भर के 'काला अक्षर भैंस बराबर' चरितार्थ होगा। भाइयों ने सोचा, बड़ा बुद्धू है, खेल-कूद से जिस तरह जी चुराता था, उसी तरह अब पढ़ने-लिखने से भी हाथ सिकोड़ना चाहता है। इसी के लिए पिताजी को बड़ी-बड़ी आशाएँ होती हैं। 'होनहार बिरवान के होत हैं चिकने पात' जो वे अक्सर कहा करते हैं सो इसका इम्तहान आज हमें पूरा मिल गया—कैसे चिकने पात हैं कि—देखते ही घोंघा बन गये और लगे फूट-फूटकर रोने!

इस तरह वहाँ जितने विद्यार्थी थे, प्रह्लाद की तरफ से सबके मन में बुरे खयाल पैदा हो गये कि पढ़ना-लिखना इनसे कहीं कुछ न होगा। इनकी इतनी तारीफ सब वाहियात थी। लेकिन आचार्यों का मन अभी इतना न गिरा था। वे इस रोने का अर्थ ही कुछ और लगाते थे। प्रह्लाद को वे समझाने लगे, "बेटा, रोते क्यों हो? यहाँ तुम्हारे बड़े भाई भी तो हैं। देखो, वे किस तरह दिल लगाकर पढ़ते हैं। अभी से अगर अच्छी तरह पढ़-लिख न लोगे तो आगे फिर इस हरकत के लिए तुम्हें अफसोस होगा। तुम्हारे भाई तुमसे बढ़कर विद्वान हो जायँगे तो तुम उनसे आँखें भी न मिला सकोगे। राज्य के काम में फिर तुम्हें कोई न पूछेगा। इसलिए अभी से दिल लगाकर मेहनत करो। बिना विद्या के मनुष्य का जीवन ही व्यर्थ है।" इस तरह आचार्यों ने बहुत समझाया, प्रह्लाद का जी अक्षरों की ओर ले जाने के लिए उन्होंने हर उपाय किया, पर फल कहीं कुछ न हुआ। 'क' की ओर टकटकी लगाये ताकते हुए प्रह्लाद ने उच्च-स्वर से 'जय-कृष्ण' 'जय कृष्ण' की रट लगा दी!

अब तो आचार्यों के होश उड़ गये। उन्हें इतना आश्चर्य अपने जीवन में कभी न हुआ था। लड़कों को भी लिखना-पढ़ना बन्द करके बड़ी देर तक मनोरंजन करने का एक खास विषय मिल गया। सबके सब पुस्तकें बन्द करके बेवकूफ की तरह मुँह बाये और आँखें फाड़े हुए कभी प्रह्लाद की ओर देखते, कभी आचार्यों की ओर। पहले तो आचार्यों को आश्चर्य हुआ, फिर वह क्रोध में बदल गया। परन्तु पहले ही दिन प्रह्लाद को बेंत के बल पर समझाना उन लोगों ने अनुचित समझा। इसीलिए प्रहार करने को बिलकुल तैयार होकर भी पीछे से सँभल गये।

बहुत तरह से समझाया, लेकिन प्रह्लाद पर उस ज्ञान का कुछ भी असर न पड़ा। जिस ज्ञान का दीपक उनके हृदयों में जल रहा था, उसके प्रकाश में उन्होंने और

जितने प्रकाश देखे, सब मन्द पड़ते हुए दिखायी दिये। इसलिए उनका हृदय नहीं माना। वह पहले ही के प्रकाश में मुग्ध रहे। आचार्यों ने प्रह्लाद को समझाने की एक बड़ी सुन्दर युक्ति निकाली थी। उन्होंने कहा,—अगर तुम्हें देव-पूजा करनी ही है तो विष्णु को छोड़कर शिव की उपासना करो, तुम्हारे वंश में इन्हीं की पूजा प्रचलित है, ये विष्णु से किसी प्रकार कम शक्तिवाले नहीं समझे जाते। लेकिन आचार्यों के युक्तिपूर्ण तर्क भी प्रह्लाद के हृदय के आगे परास्त हो गये। प्रह्लाद के हृदय ने कहा, प्यार कभी योग्य और अयोग्य की जाँच नहीं करता। यह तो उसका स्वभाव ही नहीं है। वह जिसे प्यार करता है, उसमें उसे सब गुण ही दीख पड़ते हैं—चाहे वे हों या न हों। दूसरे सच्चा प्यार कभी बदले में कुछ प्राप्ति की आशा नहीं रखता। यह बनियापन सच्चे प्यार में तो होता ही नहीं। अगर विष्णु को हृदय चाहता है और अपनी सम्पूर्ण पूजा बिना किसी प्रार्थना के वह उन्हीं के चरणों पर उत्सर्ग कर देना पसन्द करता है, तो उसके सामने शिव या किसी दूसरे देव को लाकर खड़ा करना, उसे प्रतिकूल आचरण करने की शिक्षा देना है, जिससे बढ़कर पाप और दूसरा हो ही नहीं सकता। सच्चा हृदय कभी प्रतिकूल-पथ से होकर नहीं चल सकता। प्रह्लाद भी विष्णु को छोड़कर शिव की उपासना नहीं कर सके।

वह पहला ही दिन था, इसलिए आचार्यों ने उस दिन खामोश रहना ही उचित समझा। वे दूसरे उपायों की तलाश करने लगे, जिससे प्रह्लाद के हृदय का लिखना-पढ़ना बस 'क' की परिधि में पड़कर घिरा ही रह गया—फिर बहुत कुछ जोर लगाने पर भी वहाँ से आगे नहीं बढ़ा। इधर ज्यों-ज्यों समय बीतने लगा, त्यों-त्यों आचार्यों के मन में तरह-तरह की शंकाएँ धावा मारने लगीं। राजा हिरण्य-कशिपु की तरफ से उन्हें भय होने लगा कि अगर प्रह्लाद की पढ़ाई के सम्बन्ध में राजा पूछेंगे तो, हम क्या उत्तर देंगे। उनकी यह शंका उत्तरोत्तर बढ़ती ही गयी।

इधर प्रह्लाद के मन में किसी तरह का परिवर्तन न हुआ। बल्कि उनका अनुराग और बढ़ता ही गया। गुरुओं ने उन्हें मार की धमकी दी, राजा से कहकर सजा दिलाने को डरवाया, परन्तु प्रह्लाद ने इनकी ज़रा भी परवा नहीं की। वे पूर्ववत् ही निश्चिन्त रहे। बल्कि एक ओर से भय और बाधाएँ ज्यों-ज्यों भक्ति-बन्धन को शिथिल करने के लिए आने लगीं, त्यों-त्यों प्रह्लाद की अन्तरात्मा में न जाने कहाँ से आत्मबल और दृढ़ विश्वास, आकर उन्हें आश्वासन देने लगे। इन्हें इस बीच में अपने भीतर ही अपने बचाव का उपाय सूझ जाता। हृदय मौन स्वर से कहता, डरते क्यों हो ? ये सब बाधाएँ तुम्हें सफल करने के लिए ही आ रही हैं—इनसे घबराओ मत—इन्हें पार करना है—उनके दर्शन तुम तभी प्राप्त कर सकोगे। हृदय की बातों पर प्रह्लाद मुग्ध हो जाते। इतनी सुन्दर सार-गर्भ बातें बाहर किसी के मुख से उन्हें नहीं सुनने को मिलीं। इसलिए इस संकेत को वे किसी तरह नहीं छोड़ सके। गुरुओं की आज्ञा और पिता का भय कुछ भी इन्हें विचलित नहीं कर सका।

पाठशाला में प्रह्लाद का समय एक तरह से ईश्वर-चिन्तन में ही व्यतीत होता

था। अक्षर-ज्ञान तो 'क' से हल हो गया। रही समय पार करने की बात सो मुफ्त की चिन्ता में या खेल-कूद कर समय की सफाई करने में प्रह्लाद पहले से ही निपुण न थे। इसलिए वहाँ का अधिकांश समय ईश्वर-चिन्तन में ही बीतने लगा। मन-ही-मन भगवान् का स्मरण करते-करते प्रह्लाद के मनोभाव बहुत जल्द बदल गये। नारद ने उनके हृदय में जो भक्ति-बीज बोया था, अब वह फलने के लिए तैयार हो गया,—अंकुर, पल्लव, पुष्प आदि की पहली दशाएँ तो क्रमशः बहुत शीघ्र वह पार कर चुका था। साधना अब सिद्धि पर पहुँचनेवाली थी। मानो आँसुओं के सिञ्चन से, प्रह्लाद अपने अभीष्ट देव का मार्ग सदा ही शीतल रखने लगे। देर बस उनके आने-भर की थी।

प्रह्लाद की यह हालत उनके लिए तो हिरण्यकशिपु की ओर से खतरनाक थी ही, किन्तु धीरे-धीरे लड़कों के लिए भी वह भयानक हो उठी। प्रह्लाद के सङ्ग-प्रभाव से लड़के भी वैसे ही होने लगे। उन दिनों प्रह्लाद की आकृति और प्रकृति में कुछ ऐसा आकर्षण आ गया था कि कोमल प्रकृति के बच्चों का तो कहना ही क्या, बड़े-बूढ़े घोर संसारी मनुष्यों की अन्तरात्मा भी उन्हें देखकर हिल जाती थी—वह एक दूसरे देश की बातें सोचकर मन्त्रमुग्ध भुजङ्ग की तरह अपना जहरीला स्वभाव भूलकर उस अपूर्व सुन्दर रूप की ओर एकटक ताकती ही रह जाती थी। अस्तु। प्रह्लाद के भावों के बीज बालकों में भी संचरित होने लगे। कम-से-कम जो बालक स्वभाव के कुछ अच्छे थे, वे ही बहुत जल्द प्रह्लाद के भावावेश में मुग्ध हो गये—वे दिल से प्रह्लाद को प्यार करने लगे। कुछ लड़के ऐसे भी थे जो प्रह्लाद से दिल्लगी-मजाक किया करते थे। परन्तु प्रह्लाद की तरफ से जो शान्तिपूर्ण मौन के सिवा कोई करारा उत्तर न मिलता था, इस तरह चपत के जवाब में घूसा न पाने के कारण उग्र बालकों को भी एक खास तरह का आनन्द मिलता था, जो उन्हें जवाब मिलने पर न मिलता। इससे उनकी अन्तरात्मा भी प्रह्लाद की ओर खिंचने लगी थी।

एक दिन बालकों को बिलकुल एकान्त मिला। बकनेवाला आश्रम में कोई न रह गया। षण्ड और अमर्क दोनों किसी काम से बाहर निकल गये। जब एकान्त मिला, तब चुलबुले लड़के खेलने के लिए तैयार हो गये। कुछ तो आनन्द की उमंग में वहीं थिरकने लगे, कुछ दौड़ते हुए आश्रम के बाहर मैदान में निकल गये और वहीं मनमाना खेल शुरू कर दिया। कुछ लड़के चुपचाप प्रह्लाद के पास बैठे रहे। उनकी भोलीभाली शान्ति-मूर्ति को ध्यान से देखने लगे। एक लड़के को प्रह्लाद से कुछ पूछने का बड़ा आग्रह हुआ। उसने सोचा, मैं आज कई दिन से प्रह्लाद को इसी तरह चुपचाप बैठे सोचते हुए देखता हूँ, लेकिन समझ में नहीं आता कि यह क्या सोचता रहता है? अगर यह कोई अच्छी बात सोचता है तो इससे क्यों न पूछूं?—बुरा क्या है? इसकी उत्सुकता आज कई दिनों से उत्तरोत्तर बढ़ती ही जा रही थी। आज वह पूछने पर बिलकुल तुल गया। प्रह्लाद के पास पहुँच, बड़े मीठे स्वर में उसने पूछा, "क्यों भाई, तुम चुपचाप बैठे क्या सोचते रहते हो, कुछ हमें भी बताओ, तुम्हारी यह हालत देखकर दिल में न जाने क्यों दर्द होता है।"

बड़े ही नम्र और मधुर शब्दों में प्रह्लाद ने कहा, "भाई, मेरे लिए दुःख न करो। मुझे किसी प्रकार का कष्ट नहीं है। बल्कि मुझे राम-कृपा से परमानन्द की प्राप्ति हुई है। इस नश्वर संसार में सुख और दुःख दोनों ही मनुष्यों को भुलावे में डालकर एक मूल्यवान वस्तु से सदा के लिए जुदा कर रखनेवाले हैं। इसलिए इन दोनों का परिहार करना चाहिए। मुझे तो यही शिक्षा मिली है और इसी साधना में मैं अपना जीवन लगा दूंगा।"

प्रह्लाद की बातों में इतनी सहानुभूति थी कि बालकों के कोमल हृदय उन बातों से द्रवीभूत हो गये। इससे उन्हें थोड़ी देर के लिए एक प्रकार की शान्ति भी मिली। ऐसी शान्ति इतने दिनों तक उन्हें और कभी कहीं नहीं मिली थी। व्याकरण के सूत्रों में तो यह रस था ही नहीं, उन्हें माता-पिता के स्नेह शब्दों मे भी इतना आनन्द और इतना अपनापन नहीं मिला था। सब बालकों को प्रह्लाद के साथ इस प्रसंग पर ज्यादा कुछ वार्तालाप करने का आग्रह हुआ। एक दूसरे ने पूछा, "अच्छा भाई, तुम्हारे राम कैसे हैं? कहाँ रहते हैं? वे तुमसे कब मिलते हैं? ज़रा हमें भी बताओ तो हम भी उनसे मिलने की कोशिश करें। उनसे मिलते हो तो तुम्हें क्या मिलता है?"

बालकों के प्रश्न पर प्रह्लाद को हँसी आ गयी। कोमल अधरों पर क्षणिक मुस्कुराहट की तरल रेखाएँ खिंचकर वहीं शान्त हो गयीं। प्रह्लाद ने कहा, "मित्रो, इन आँखों से वे नहीं दीख पड़ते। उन्हें देखने के लिए प्रेम की आँखें होनी चाहिएँ। इस दृष्टि से तो संसार ही दीख पड़ता है। अगर उन्हें देखने की लालसा है तो पहले प्रेमपूर्वक उन्हें पुकारना चाहिए। जब उन्हें पुकारते-पुकारते अन्तर का मल धुल जाता है, तब उस पवित्र अन्तरात्मा में उनके दर्शन होते हैं। कलुषित आत्मा में उनका बिम्ब नहीं पड़ता। और उनके रूप का क्या कहना! वे कोटि सूर्य से भी अधिक प्रकाशवान हैं, परन्तु उनका प्रकाश दग्ध करनेवाला नहीं, वह आत्मा की सम्पूर्ण ज्वाला प्रशमित कर देता है। उनके रहने का स्थान भला कहाँ बताऊँ कि अमुक स्थान पर रहते हैं और अमुक स्थान पर नहीं। वे सर्वव्यापी हैं, सब जगह रहते हैं। परन्तु भक्तों के हृदय को ही उनका खास मन्दिर समझना चाहिए। तुमने जो पूछा कि वे कब मिलते हैं, सो मिलने के लिए उनकी तरफ से कोई वक्त थोड़े ही है? जब कभी सच्चे हृदय से कोई उन्हें पुकारता है, तब वे तत्काल उसे आकर दर्शन देते हैं, वे सर्वव्यापी हैं, जब चाहते हैं, प्रकट हो जाते हैं और जब चाहते हैं, अन्तर्धान हो जाते हैं। तुम अगर उनसे मिलना चाहते हो, तो लगन लगाकर शुद्ध और निश्चल भाव से उन्हें पुकारो, वे जरूर तुम्हें दर्शन देंगे।"

प्रह्लाद की बातें बालकों पर जादू का काम कर गयीं। सब स्तब्ध और निश्चेष्ट से होकर प्रह्लाद की ओर ताकने लगे। सीधी सरल बातों का प्रभाव उन पर इतना पड़ा कि उन्होंने इन वाक्यों को अक्षर-अक्षर सत्य मान लिया। तुलनात्मक दृष्टि से जाँच करने के लिए उनके मन में वार-वार उस समय दो विषय क्रमशः आते जाते थे और उन्हीं दोनों की मधुरता परखने के लिए उस समय उनके मन में

गम्भीर गवेषणा चल रही थी। इन दो विषयों में एक तो था व्याकरण-सूत्र और दूसरा प्रह्लाद की बातों का सत्य। इन दोनों में पिछला ही उन्हें ज्यादा जँचा। व्याकरण के सूत्रों की अष्टावक्र-मूर्ति और उन पर श्रीगुरुदेव की विस्तृत व्याख्या की बालकों को याद आने के साथ ही एक बेहोशी की हालत हो जाती थी, लेकिन सरस्वती के इन बालक-भक्तों को अक्षर पढ़ाने से पहले वाणी-भवानी की जैसी भक्ति दिखलायी गयी थी, संस्कार-वश इन्हें देवी के तिरस्कार करने की हिम्मत न होती थी, सूत्रों के दुर्जेय दुर्ग के भीतर न बैठ सकने का कारण ये अपनी ही दुर्बलता समझते थे। लेकिन आज एक नयी बात पर बिना मत्थामारी किये ही प्रवेश-पथ मुक्त-सा दीख पड़ा, दिमाग को ज्यादा मेहनत नहीं पड़ी, बुद्धि ने कहा, "हाँ, यह बहुत अच्छा है—इस रास्ते से हमें चलने में कोई दिक्कत न होगी," तब लाचार होकर उन्हें अपने संस्कारों के खिलाफ मैदान में उतरने की इच्छा हुई। गुरुदेव की टीका से प्रह्लाद की वाणी में अधिक मधुरता मिली—गुरुदेव से प्रह्लाद अधिक सहृदय जँचे। बस, कुछ बागी-बालकों ने निश्चय कर लिया कि अब व्याकरण के सूत्रों को आज ही से नमस्कार है और प्रह्लाद जो कुछ कहेंगे वही स्वीकार है।

पाठशाला में प्रह्लाद का एक दल तैयार हो गया। सबके मन में प्रह्लाद की बात बैठ गयी। सबने समझा, संसार नश्वर है। आज है, कल नहीं, इसस बाहर निकलना ही जीवों का मुख्य कर्तव्य है। इस विचार से लिखना-पढ़ना छोड़कर सब-के-सब प्रह्लाद के साथ राम-नाम कीर्तन करने लगे। खूब जोर-शोर से कीर्तन चल रहा था कि बाहर से षण्ड और अमर्क भी आ गये। शिष्यों की यह पराकाष्ठा को पहुँची हुई भक्ति देखकर उनके तो देवता ही कूच कर गये। डरे कि अब बेमौत मरना पड़ा। हिरण्यकशिपु जैसा विष्णु-द्वेषी है, वह गुरु और ब्राह्मण का विचार हरगिज न करेगा—सुना नहीं कि जल्लादों के सुपुर्द किया! आचार्य दोनों इतना डरे कि वहाँ ज़रा देर भी नहीं ठहरे—न किसी को कुछ कहा,—सीधी राह राज-दरबार की पकड़ी।

बड़े रोब-दाब से अपने सामन्त-सरदारों के बीच में ऊँचे सिंहासन पर महाराज हिरण्यकशिपु दरबार कर रहा था। उसी समय आचार्यों के पहुँचने की खबर भेजी गयी। आचार्यों के आने का कोई खास कारण होगा, इसलिए उन्हें दरबार में बुलाना उचित नहीं, यहाँ से चलकर एकान्त में मिलना ही ठीक होगा, यह सोचकर उस दिन के लिए महाराज हिरण्यकशिपु ने दरबार बरखास्त किया। उठकर महल के भीतर चला गया और वहीं से षण्ड और अमर्क को बुला भेजा।

गुरु-पुत्रों को देख, उठकर उन्हें सम्मानपूर्वक आसन दे हिरण्यकशिपु ने आग्रह-भरी दृष्टि से उनके आने का कारण पूछा। पहले तो इन्हें इतना भय हुआ था कि जैसे बिना कुछ सुने ही राजा फाँसी पर चढ़ा देगा। परन्तु जब सभ्यता और आदर-सत्कार में कोई त्रुटि न देखी, तब बहुत कुछ दिल को भरोसा हुआ—ज़रा दम लेकर कुछ कहने की इच्छा भी हुई—अब तक तो हृत्पिण्ड का काँपना जितना द्रुत होता जा रहा था, जिह्वा को उतनी ही जड़ता आकर जकड़ती जा रही थी।

खैर, कुछ स्वस्थ होकर षण्ड ने शुरू से आखिर तक का प्रह्लाद का हिरण्यकशिपु को सारा हाल कह सुनाया कि किस तरह 'क' देखते ही प्रह्लाद की आँखों से आँसुओं की धारा बह चली थी, कारण पूछने पर उन्होंने क्या कहा था, श्रीशंकर की पूजा पर उनका क्या भाव था, उनके साथ बालकों का क्या हाल है—आदि-आदि।

पहले-पहल प्रह्लाद के विरोध में इतनी बड़ी बात सुनकर हिरण्यकशिपु उस पर विश्वास नहीं कर सका। राज-धर्म के अनुसार एक तो किसी की बात पर बिना प्रमाण के विश्वास करना उसका स्वभाव ही न था, दूसरे यह अभियोग जिसके विरोध में आया था, उसे वह पहले से बहुत अच्छा और यहाँ तक कि दैत्य-कुल के लिए गौरव समझता था। अस्तु, उसने प्रह्लाद को बुलाने की आज्ञा दी। दूत बात-की-बात में पाठशाला से प्रह्लाद को ले आया। देखते ही हिरण्यकशिपु का हृदय पूर्णचन्द्र के दर्शन से समुद्र की तरह उच्छ्वासित हो उठा। उसने प्रह्लाद को स्नेहपूर्वक अपनी विशाल बाँहों के अन्दर छिपा लिया। प्रह्लाद की शान्त-शीतल मूर्ति के स्पर्श से कुछ काल के लिए उसके हृदय का क्रोध-भार हलका पड़ गया—शान्ति के क्षणिक आनन्द में पलकें मूँदकर वह अपने पुत्र-स्नेह का अनुभव करने लगा।

परन्तु वह स्नेह हृदय में अधिक समय तक स्थायी न रह सका। विष्णु की याद आयी—नस-नस में शत्रुता का जहर फैल गया। भाई की मृत्यु अभी आज की ही घटना-सी जान पड़ी और उसका मारनेवाला वह परम शत्रु अभी जीवित है। इतना याद आते ही हिरण्यकशिपु को पुत्र-स्नेह भूल गया—प्रतिहिंसा की हजारों जहरीली लहरें एकसाथ ही उठीं और उसे अपने ज्वालामय गर्भ में बहा ले गयीं। शत्रु से बदला लेने के लिए स्त्री, पुत्र, परिवार और अपने तक को मृत्यु के हाथों सौंप देना उसे तुच्छ-सा मालूम होने लगा। उस समय उसकी दृष्टि में सबसे प्यारा 'बदला' था, जिसे प्राप्त करने की सम्भावना मात्र के सामने त्रिलोक की कोई भी वस्तु उसके लिए अदेय नहीं हो रही थी।

इतने पर भी हिरण्यकशिपु विवश नहीं हो गया। नीति का वह प्रचण्ड पण्डित था, वह नीति भी उसी के लिए थी। खैर, उसने प्रह्लाद से बड़े ही मधुर स्वर में पूछा, "क्यों बेटा, आज कई दिन तुमको गुरुकुल में रहते हो गये। भला बताओ तो, वहाँ रहकर अब तक तुमने क्या सीखा है?"

इतना कहकर परीक्षा की दृष्टि से हिरण्यकशिपु प्रह्लाद के भावों की परीक्षा लेने लगा। परन्तु उसके प्रश्न से प्रह्लाद की सहज सुन्दर मुख-रेखाएँ किसी प्रकार विकृत नहीं हुईं। न उन्हें कोई हर्ष था, न दुःख। वे जिस समता पद पर प्रतिष्ठित हो गये थे, वहाँ से एक तिल भी नहीं डिगे। सुकोमल दिव्य स्वर से उन्होंने पिता के प्रश्न का इस प्रकार उत्तर दिया, "पिताजी, मैंने अमर विद्या सीखी है। इसके पूरे अधिकारी राम हैं। उन्होंने मुझे भी इसका अधिकारी बना लिया है। वे इतने दयालु हैं कि जो कोई उनसे अमृत-विद्या की प्राप्ति के लिए सभक्ति प्रार्थना करता है, वे उसे ही वह अमूल्य विद्या देते हैं, उन्हें इसके दान करने में कुछ भी संकोच

नहीं होता, बल्कि वे सबके लिए पहले ही से हाथ बढ़ाये हुए हैं, कोई लेनेवाला भी तो हो, पिताजी, इस एक ही विद्या से मैंने दर्शन, विज्ञान, राजनीति, रसायन सब-कुछ सीख लिया। एक उसी की सत्ता है—सत्‌चित आनन्द अस्ति-भाति-प्रिय, यह दर्शन मैंने सीखा, संसार के किसी भी पदार्थ को विश्लिष्ट करके अन्तिम सार-भाग निकालने की प्रथा से मैंने रसायन और विज्ञान सीखा और वह चरम-विश्लेषण उस सच्चिदानन्द में ही पहुँचकर ठहरता है। प्रजा को उसी की मूर्ति मानकर सेवा की दृष्टि से राजा का शासन करना मैंने राजनीति और यथार्थ राज-नीति समझा है। इस तरह मेरे हृदय का अज्ञानान्धकार उस परम दयालु की कृपा-दृष्टि से दूर हो गया। अब मुझे ज्ञान का कोई अभाव नहीं है। उसे प्राप्त कर मेरा सम्पूर्ण अभाव तिरोहित हो गया। मुझे अब और किसी वस्तु की चाह नहीं रही। राम-नामामृत पान कर मेरी कुल कामनाएँ पूर्णता में समा गयी हैं।"

प्रह्लाद ने जब पहले-पहल राम-नाम का उच्चारण किया था, तभी हिरण्य-कशिपु ने गुस्से में आ प्रह्लाद को अपनी गोद से छिटककर जमीन पर गिरा दिया था, अन्य बातें प्रह्लाद ने खड़े-ही-खड़े कही थीं। यहाँ भी उसकी समता नहीं नष्ट हो पायी। उनमें जो भाव पिता की गोद में बैठते समय और बैठे रहने के समय था, वही ढकेले जाने पर भी; उसी भाव से बिना किसी प्रकार के आवेश में आये, यह इतना निवेदन उन्होंने हाथ जोड़कर अपने पूज्य पिता को सुनाया। परन्तु जिस समय हृदय में अज्ञान का ही अखण्ड राज्य रहता है, उस समय न तो दर्शन के सिद्धान्त सुहाते हैं और न भक्ति-रस की हृदयहारिणी कथा। उस समय बस हृदय को जो चाह होती है, उसी का रंग तमाम शरीर और मन पर चढ़ा रहता है और श्रोता उसी रंग की रँगी बातें सुनना पसन्द करता है। उसे न उस समय हानि का खयाल रहता है, न लाभ का, वह केवल अपनी अदम्य इच्छा की ही पूर्ति चाहता है। हिरण्यकशिपु भी प्रह्लाद से ऐसी ही आशा रखता था। वह अपने पुत्र से अपने घोर शत्रु का माहात्म्य सुनकर भला कैसे प्रसन्न रह सकता था? जिस दुश्मन को नेस्तोनाबूद कर देने की लालसा से उसने घोर तपस्या की, सैकड़ों निरपराध ब्राह्मणों के सिर कटा लिये, विष्णु नाम को अपने राज्य से बहिष्कृत कर दिया, उसी का भक्त उसका पुत्र हो, यह वह कब बरदाश्त कर सकता था? प्रह्लाद से हिरण्यकशिपु की तीव्र लालसा को ठोकर लगी थी—उसके जीवन-भर के अर्जित संस्कार कभी प्रह्लाद की बातों से दूर होनेवाले न थे।

हिरण्यकशिपु की भौंहें कुञ्चित हो दो कमानों की तरह एक दूसरी से सट गयीं। आँखों से भयानक ज्वाला निकलने लगी। आँखों की गति तीव्र और प्रखर हो गयी। होंठ थरथराने लगे। उस समय वह मूर्तिमान क्रोध ही बन गया था। किसी की हिम्मत नहीं थी जो ज़रा आँख उठाकर उधर एक नजर से उसे देख भी लेता। दोनों पण्डितों की तो बड़ी ही बुरी हालत हो गयी—गौ भी कसाई को देखकर इतना न काँपती। आवेश में आने पर भी कुछ देर तक हिरण्यकशिपु मन-ही-मन कुछ विचार करता रहा। अन्त में गरजकर कहा, "बस मैं समझ गया, यह

कल का बच्चा, इसे क्या मालूम कि राम कौन है और कौन है विष्णु ! अभी इतने दिनों तक घर पर रहा, लेकिन यह शिकायत हमने कभी न सुनी। आज तो एका-एक यह राम-नाम और कृष्ण-कृष्ण करने लगा, इसके क्या मानी ? जरूर कहीं दाल में काला है। क्यों पण्डितजी ?"

नाम लेते ही षण्ड और अमर्क का मुँह सूख गया। मारे भय के पैर काँप रहे थे --कोई अंग वस में न था। कुछ कहने की शक्ति तो बहुत पहले से ही जवाब दे गयी थी। वे शुक्राचार्य ही थे जो हिरण्यकशिपु की लाल आँखों की ज़रा भी परवा न करते थे और अपना दबाव हर वक्त कायम रखते थे। षण्ड और अमर्क का व्यक्तित्व इतना प्रभावशाली न था। हिरण्यकशिपु की लाल आँखों का सामना आज ही करना पड़ा था। नाम लेने के साथ ही बेचारे हौल-दिल से हो गये। विना कुछ कहे ही दीन-भाव से उसकी ओर ताकते हुए कुछ कदम आगे बढ़ गये। और फिर उसी तरह पिछड़ते चले आये। उन्हें सबसे ज्यादा डर था मौत का। उन्होंने मन में निश्चय कर लिया था कि यह दरबार साक्षात् यमराज का है और यहाँ से दूसरे जन्म का परवाना लेकर ही लौटना होगा। हर वक्त अपनी गर्दन के पीछे तुली हुई तलवार वे ख्वाब में देख रहे थे। जागते हुए भी उनके लिए मृत्यु का यही नाटक हो रहा था।

वज्र-गर्जन से भी कर्कश वही ध्वनि फिर हुई, "क्यों पण्डितजी, पढ़ा दिया न बच्चे को ? नहीं तो यह जहर उगलने के लिए इसे मिलता कहाँ ? लेकिन मालूम भी तो अच्छी तरह होगा कि इसकी सज़ा क्या है—यह सोचना व्यर्थ है कि हम गुरु-पुत्र हैं और इसकी सज़ा से छुटकारा पा जायेंगे !"

एक तो कर्ण-कर्कश ध्वनि, तिस पर मौत के मुकाबले में तैयार होने की पूर्व-सूचना, षण्ड और अमर्क की दशा अत्यन्त दयनीय हो गयी। प्राण-पखेरू रहकर भी एक तरह से उड़ ही गये। कुछ अर्ज करें, सफाई दें, दूसरे विद्यार्थियों को गवाह के तौर पर पेश करें, यह कुछ न याद आया—याद तो बस मृत्यु की हर घड़ी आ रही थी। बुद्धि का लेश भी उस क्रोधान्ध उग्र रूप के सामने न रह गया था। थी बस दीन भाव से कृपा की भिक्षा माँगनेवाली दोनों की प्रार्थना-भरी व्याकुल चितवन। परन्तु हिरण्यकशिपु से उस समय कोई प्रार्थना करना ऊसर में बीज बोने के समान ही था।

हिरण्यकशिपु के स्वभाव में तारीफ करने योग्य सबसे प्रधान गुण यह था कि वह बड़ा नीतिज्ञ और साथ ही नीति के अनुसार चलनेवाला भी था। दोनों तरुण तापस आचार्यों को चुपचाप खड़ा हुआ देख उसने अभय देते हुए कहा, "अगर कुछ कहना हो तो आप निःसङ्कोच कह सकते हैं। मैं उतने ही ध्यान से आपकी बातें सुनूंगा जितने से मैं प्रह्लाद के दोषों की तलाश कर रहा हूँ।"

इस सहज उक्ति से दोनों को कुछ कहने का साहस भी हुआ। सफाई की याद आयी और अवसर चूकने के भयानक परिणाम से बोलने के लिए बुद्धि ने शब्दों का जाल फैलाना भी आरम्भ कर दिया। उधर प्रह्लाद को राम-नाम की शिक्षा देने

के वे दोषी भी नहीं थे, इसलिए सच बात को आलङ्कारिक भाषा में कहते हुए उन्हें कठिनाई नहीं पड़ी।

परन्तु हिरण्यकशिपु को उनकी सफाई से विश्वास नहीं हुआ। उसे निश्चय हो गया था कि पाठशाला के सिवा दूसरी जगह प्रह्लाद को यह कुशिक्षा मिल ही नहीं सकती। उसकी आकृति और प्रकृति का भलीभाँति निरीक्षण कर उसके हृदय का भाव, प्रह्लाद फौरन समझ गये। आचार्यों की भावी विपत्ति की शंका से हृदय की वेदना को किसी रोआब में दबा देना उन्हें अनुचित जान पड़ा। इसलिए बड़ी दृढ़ता से, किन्तु उसी प्रकार विनीत शब्दों में, पिता से उन्होंने कहा, "पिताजी, आचार्य दोनों ही इसके लिए निर्दोष हैं। इन्होंने मुझे राम-नाम की शिक्षा नहीं दी। आप इनका तिरस्कार न करें। इन्होंने बल्कि इस नाम को छोड़कर शम्भु-नाम का जाप करने का उपदेश दिया था। मुझे राम-नाम पर ही अधिक प्रेम है। आप अगर इसके लिए किसी को सज़ा देना चाहें—दोषी समझकर, तो आपकी सज़ा का पात्र मैं ही हूँ। आप मुझे ही अपनी दण्डनीति का आधार समझिए। आचार्य बिलकुल निर्दोष हैं।"

हिरण्यकशिपु ने एक बार प्रह्लाद को देखा, फिर सिर झुका लिया। उसका इतना बड़ा अपमान आज तक किसी ने नहीं किया था, इतनी बड़ी दृढ़ता आज तक उसने नहीं देखी थी। इसके सामने इतने बड़े शूर का भी मस्तक अवनत हो गया। परन्तु वह सिर फिर उठा, शत्रुता का भाव एक ओर पाँच वर्ष का बालक रूपी सत्य था और दूसरी ओर पर्वताकार संसार-विजयी क्रोध। हिरण्यकशिपु की आँखें आरक्त हो गयीं। उसने फिर शान्त मूर्ति पर एक तीव्र दृष्टि डाली और द्वारपाल को पुकारा।

सप्तम परिच्छेद

प्रह्लाद की परीक्षाएँ

प्रह्लाद इस समय जंगल में है। चारों ओर अन्धकार-ही-अन्धकार छाया हुआ है। सूर्य की किरणों को यहाँ भी पैठने की आज्ञा नहीं होती। अन्धकार के शरीर-रक्षक पल्लवों की हरियाली में आँखों को तृप्ति देनेवाली सुन्दरता नहीं है। सब जगह हलाहल का रंग चढ़ा हुआ है। राज्य हिंस्र जन्तुओं का और वह वध-भूमि हिरण्यकशिपु के अपराधियों की।

प्रह्लाद ने आँख खोलकर एक बार चारों तरफ अच्छी तरह देखा। वन की भयंकरता में रह-रहकर अगोचर भाव से उठनेवाली न जाने वह कैसी चीख थी,

उसके साथ करोड़ों निरपराधियों की एक प्रार्थना मिली हुई थी। क्रूरता में करुणा थी और क्रोध में आँसू।

वन के हर एक तृण से प्रह्लाद का स्वागत सजग हो गया था। वे एक अव्यक्त वेदना में भरे हुए थे। उन्हें वहाँ जैसे बड़े कष्ट से जीवन बिताना पड़ रहा हो, प्रह्लाद को देखकर जैसे उन्हें अदूर भविष्य में मुक्ति का आनन्द मिलनेवाला हो।

सबकुछ देखकर भी प्रह्लाद ने जैसे कुछ भी न देखा हो, उनके मन में किसी तरह की प्रसन्नता अधिकार नहीं जमा सकी। इसे वे पहले ही से हृदय की दुर्बलता समझते आये हैं। एकनिष्ठ परमात्मा के ध्यान में तल्लीन रहना ही उन्होंने अपने लिए कल्याणकारी समझा। आत्मप्रशंसा के भाव को समझकर भी उन्होंने दबा देना ही मनुष्योचित कार्य निश्चय कर लिया।

जल्लादों को प्रह्लाद की उतनी कम उम्र में चोट करते हुए भय हो रहा था। एक ने कहा, "सँभल, अब तेरा काल आ गया है, तुझे मारने के लिए महाराज ने आज्ञा दी है, जिसे जो कुछ कहना-सुनना हो, कह-सुन ले, नहीं तो फिर पछताना ही रह जायगा।"

प्रह्लाद ने आँख उठाकर एक वार जल्लादों की ओर भी दृष्टि फेरी। फिर निगाह नीची कर ली। तीव्र तृष्णा ही उनसे हत्या जैसे घोर दुष्कर्म के लिए भी नहीं न करने की शक्ति छीन रही थी। माया की विचित्र लीला और अपार पराक्रम के ध्यान मात्र से प्रह्लाद का हृदय दहल गया। परन्तु इसे भी उन्होंने ईश्वर की इच्छा पर ही छोड़ दिया और शान्त स्वर से कहा, "भाइयो, मुझे मृत्यु का बिल्कुल भी भय नहीं है। परन्तु सोचो तो, क्या हिरण्यकशिपु से भोजन-वस्त्र के लिए तुम लोगों ने कोई चिरकालिक लिखा-पढ़ी करा ली है? सम्भव है, वह कल तुमसे रूठ जायें। क्या तुमने यह सोचा है कि उस दिन फिर कौन तुम्हारे भोजन-वस्त्र का प्रबन्ध करेगा? हरगिज न सोचा होगा। अगर सोचते तो इन क्रूर-कर्मों से तुम्हारा निस्तार हो गया होता।"

कुछ देर के लिए जल्लादों के मन की परिस्थिति तूफान उठने के बाद के शान्त स्वर की तरह धीर और सहज गम्भीर हो गयी। इस तरह की बात आज तक किसी भी अपराधी की जबान से उन्हें नहीं सुनने को मिली थी। आज तक के अपराधियों की मृत्यु की आज्ञा सुनने के साथ ही बेहोशी की हालत हो जाती थी, फिर स्थिरता, उपदेश और ज्ञान की जगह उनमें जड़ता, भय और अज्ञान का अधिकार दीख पड़ता था। प्रह्लाद की निर्भीकता से कुछ देर तक उन्हें अन्तरात्मा से कुछ प्रश्न करने की सामग्री मिल गयी, परन्तु थोड़ी देर में चिरकाल के संचित पापों के संस्कार ही प्रबल हो उठे और पहले की भावना मन से जाती रही। घर की याद आयी, स्त्री की याद आयी। उनके मुरझाये हुए, मुखड़े आँखों के आगे रह-रहकर आने-जाने लगे। अभ्यास ने कहा, लो उठाओ खड्ग और रख दो तौलकर गर्दन पर। कमजोरी ने उपदेश दिया, यह तुम्हारा धर्म है, इसे हरगिज न छोड़ो, अगर बचना और अपने बाल-बच्चों को बचाना चाहते हो।

बस फिर क्या था ? अपने ही भीतर अपने कर्म की तारीफ करनेवाले बहुत से मिल गये। संस्कार को दूना बल मिला। जल्लादों ने खड्ग उठा लिया फिर कहा और कुछ उत्तेजित कण्ठ से कहा,---ले सँभल, यह सब हम बहुत सुन चुके हैं।

प्रह्लाद हाथ जोड़ परमात्मा का ध्यान करने लगे। कब उन पर खड्ग के वार हुए, उन्हें नहीं मालूम ! आँखें खोलीं तो देखते हैं कि हाथ जोड़े वही दोनों जल्लाद सामने खड़े हुए हैं ! प्रह्लाद ने कुछ न कहा। हाथ जोड़े ही हुए जल्लादों ने उनसे घर चलने की प्रार्थना की। साथ ही यह पेशा छोड़ उनकी आज्ञानुसार जीवन-निर्वाह करने के लिए भी वचन दिया।

प्रह्लाद को खड्ग-प्रहार से चोट भी नहीं लगी, यह सुनकर हिरण्यकशिपु के आश्चर्य का ठिकाना न रहा। वह इस बात पर विश्वास नहीं कर सका कि कभी ऐसा भी हो सकता है। अस्तु, अपना काम उसने किसी दूसरे ही उपाय से सम्पन्न करने का निश्चय कर लिया। उधर बनावटी स्नेह दिखाते हुए चोट न लगने का कारण समझने के लिए प्रह्लाद को अपने पास बुलाकर पूछा, "क्यों बेटा, तुम्हें चोट नहीं लगी, इसका क्या कारण है ?"

विनय-भाव से पूर्ववत् ही अपनी भक्ति प्रकट करते हुए प्रह्लाद ने उत्तर दिया, "पिताजी, मैं इसका कारण कुछ नहीं जानता, राम मेरे रक्षक हैं, सब उन्हीं की कृपा है।"

हिरण्यकशिपु को कुछ आश्चर्य हुआ, परन्तु अविश्वास ने इसे थोड़ी ही देर में हृदय से निकाल दिया। फिर से आजमाने की इच्छा प्रबल हो उठी।

अष्टम परिच्छेद

विष-पान

जल्लादों के प्रहार से बचकर भी प्रह्लाद निष्कण्टक नहीं हो सके। हिरण्यकशिपु की त्योरियाँ उसी तरह उन पर तुली रहीं, बल्कि पहले से कुछ और भी सिकुड़ गयीं। प्रह्लाद को किसी के हर्ष और विषाद की ज़रा भी परवा न थी। अपने निश्चल सन्तोष से ही उन्हें सबके सन्तोष की शिक्षा मिली थी। वे अपने राम को ही प्रसन्न करना जानते थे। हिरण्यकशिपु इसे प्रह्लाद का हठ और अपना अपमान समझता था। शत्रु की आड़ उसका पुत्र ले, यह अपमान वह बरदाश्त नहीं कर सका। उसने तुरन्त प्रह्लाद को कारागृह में ले जाने की आज्ञा दे दी।

साक्षी गोपाल बने, अपने और अपने पिता के कृत्यों को संसार-रूपी रंगमंच के दर्शक की हैसियत से देखते हुए, चुपचाप प्रह्लाद कारागृह में चले गये। घोर

अन्धकार का स्मरण हो आने पर भी उन्हें कोई निराशा नहीं हुई। 'परम प्रकाश रूप दिन राती, नहिं कछु चहिय दिया, घृत, बाती।' उन्हें इसका पूरा-पूरा बोध हो गया था। इसलिए वहाँ उस कारागार में भी अपने अन्तस्तल में अपने प्यारे राम की उज्ज्वल मूर्ति देखकर वे कारागार की बाहरी परिस्थिति का दुःख भूल गये। वहाँ भी उनके होंठों पर वही प्रसन्नता छायी रहने लगी।

इधर उनके मारने का नया उपाय सोचा गया। किसी ने महाराज हिरण्यकशिपु को सुझाया कि तेज जहर मिलाकर कुछ लड्डू बनवाये जायँ और उन्हीं से प्रह्लाद का काम-तमाम कर दिया जाय। बात महाराज हिरण्यकशिपु को जँच गयी। उन्होंने फरमाइशी जहर मँगवाया, जिसके खाने के साथ ही आदमी की पलकें हमेशा के लिए बन्द हो जायँ। उसी जहर के मिले कुछ लड्डू एक पात्र में लेकर एक दासी प्रह्लाद के पास गयी और बड़ी सहानुभूति के साथ बोली, "भैय्या, यह लो, तुम्हारे लिए ये लड्डू ले आयी हूँ। महारानी ने भेजे हैं। इन्हें खा लो, भूख तो लगी होगी? और क्यों न लगे—यहाँ का खाना भला तुम्हारे लायक होता है?"

यह कह दासी ने वही लड्डुओं का पात्र रख दिया। प्रह्लाद लड्डुओं का निरादर नहीं कर सके। देखते-ही-देखते आँखें आँसुओं से सिंच गयीं। रोम-रोम से स्नेह की स्निग्ध रस-धारा प्रवाहित हो चली। माता के मधुर नामोच्चारण के साथ ही उस पवित्र आत्मा में स्वर्गीय विभूति मूर्ति धारण कर विराजमान हो गयी। प्रह्लाद ने कटोरा उठा लिया।

परमप्रिय परमात्मा की याद आयी। जिसके लिए आज कारागार में उन्हें जाना पड़ा, जिसके लिए कल उन्हें प्राण-दण्ड की आज्ञा दी गयी थी, जिसके प्रेम का परिणाम आगे चलकर उनके लिए और भी भयंकर होनेवाला है, उसे छोड़कर अकेले ही वे कब उन लड्डुओं को खा सकते थे? हाथ जोड़, उस प्रियतम का स्मरण कर, पहले उन्हीं की सेवा में प्रह्लाद ने लड्डुओं का समर्पण किया।

भक्त के लिए ही जिन्हें बार-बार अवतार लेना पड़ा, अलख-निरंजन और अविनाशी होकर भी जिन्हें नश्वर संसार में आकर अनेक प्रकार की लीलाएँ करनी पड़ीं, वे प्यारे भक्त की वह प्रेमाश्रुसिंचित तल्लीन अवस्था को देखकर स्थिर न रह सके—उन्हें फिर आना पड़ा। परन्तु अब के ज्योतिर्मय दिव्य रूप धारण कर आये, दूसरों की दृष्टि बचाकर। बड़े प्यार से प्रह्लाद को पुकारकर कहा, "लो भाई, मैं आ गया। तुम्हें यहाँ बड़ा कष्ट हो रहा है न? समय ही तो है और तुम जानते ही हो। हिम्मत न हारना। तुमने मुझे लड्डू खाने के लिए बुलाया है? लाओ भाई, बड़ी दूर से आ रहा हूँ—थक गया हूँ, भूख भी बहुत लगी है।"

यह कह प्रह्लाद के हाथ से श्रीभगवान् ने जहर का कटोरा ले लिया और प्रेमपूर्वक कुछ लड्डू खा गये—कुछ प्रह्लाद को भी स्वयं ही खिला दिये। अपूर्व स्वाद था। प्रह्लाद को इतना मधुर स्वाद और कभी न मिला था। हँसकर कहने लगे, "ये लड्डू माता के दिये हुए हैं, तिस पर तुम्हारा प्रसाद, जान पड़ता है, इन्हीं

कारणों से इनमें इतनी मधुरता आ गयी है।" भगवान् मुस्कराने लगे। कुछ देर में जब कटोरा साफ हो गया, तब बोले, "प्रह्लाद, अब मैं जाता हूँ, जब बुलाओगे तब फिर आऊँगा, परन्तु ये लड्डू तुम्हारी माता के भेजे हुए नहीं थे, तुम्हें मारने के लिए तुम्हारे पिता ने जहर के लड्डू बनवाकर तुम्हारी माता के नाम से दासी के हाथों भिजवाये थे ! अच्छा अब जाता हूँ।" भगवज्जोति वहाँ से अन्तर्हित हो गयी।

इधर महल में रानी कयाधू को खबर लगी कि महाराज हिरण्यकशिपु को प्रह्लाद की ईश्वर-भक्ति मालूम हो गयी। यह भण्डा-फोड़ पाठशाला से हुआ है। सुनते ही रानी का कोमल कलेजा दहल गया। पुत्र-स्नेह की पीड़ा से वे विह्वल हो गयीं। जिस बच्चे को वे अपने प्राणों से भी अधिक प्यार करती थीं, जिसकी सरलता से उनके हृदय में कितनी ही वार स्वर्गीय सुधा-स्रोत उमड़ चुका है, जिसके क्षणमात्र के अदर्शन से उनका मन अधीर हो जाता था, जिसे इस शंका से बचाने के लिए छाया की तरह वे पीछे लगी फिरती थीं, आज उनका वही पुत्र हिरण्यकशिपु के काल-पंजे में फँसकर कारागार-कष्ट झेल रहा है ! सुनते ही उनका मुख सूख गया। अंग-अंग से हिरण्यकशिपु की विरोधी शक्ति सजग हो-होकर उन्हें उसके विरुद्ध उत्साहित करने लगी। जब हिरण्यकशिपु और प्रह्लाद, पति और पुत्र, दोनों की मूर्तियाँ अपने भावों के साथ उनके सामने आती थीं, तब हिरण्यकशिपु की उग्र मूर्ति को उनका सुकुमार मन किसी तरह अपना नहीं सका,—वह वार-वार प्रह्लाद की ओर झुक जाता था। इस सरल शिशु पर अत्याचार करनेवाले अन्यायी हिरण्यकशिपु को वे किसी तरह क्षमा नहीं कर सकीं। हृदय में खलबली मच गयी। खून का हरएक बूंद हिरण्यकशिपु का विरोध कर रहा था-—विपरीत गति से प्रवाहित हो रहा था।

आवेश की अवस्था में प्रह्लाद को देखने की लालसा तीव्र हो गयी। उत्कण्ठा सामने की सम्पूर्ण बाधाओं को कुचलकर अपने मार्ग पर बढ़ने के लिए तैयार हो रही थी। रानी कयाधू ने दासी को बुलाया। पालकी और कहारों को बुला देने की आज्ञा की। आज्ञा के साथ ही बाँदी पालकी और कहारों को बुला लायी। खिड़की के पास पालकी भिड़ा दी गयी।

रानी को जल्लादों के हाथों प्रह्लाद को सौंपे जाने का संवाद भी मिल चुका था। जल्लादों के खड्ग-प्रहार से प्रह्लाद का रोम भी नहीं कटा, यह भी वे सुन चुकी थीं और उन जल्लादों के काम छोड़ने की खबर भी उन तक पहुँच चुकी थी। इस तरह जिस अलक्षित शक्ति के प्रभाव से प्रह्लाद क्रूरता के पंजे से छुटकारा पाते आ रहे थे, उसका एक उज्ज्वल प्रमाण प्राप्त करके भी वे उसी शक्ति के भरोसे प्रह्लाद को छोड़कर निश्चिन्त नहीं रह सकीं। उनका करुणार्द्र हृदय वार-वार अपनी रस-धारा में प्रह्लाद को बहाकर बचा लेने के लिए उद्वेलित हो रहा था।

पालकी कारागार के सामने आ लगी। सिपाहियों को जब मालूम हुआ कि रानीजी स्वयं आयी हुई हैं, तब एक-दूसरे की ओर जिज्ञासा की दृष्टि से कुछ देर

तक चुपचाप ताकते रहे। रानी को रोककर जान खतरे में डालने की हिम्मत किसी में न हुई, सबने सशस्त्र सलामी देकर मार्ग छोड़ दिया। रानी कारागार के अन्दर चली गयीं, जहाँ उनका प्यारा पुत्र अन्धकार में पड़ा हुआ अपनी परीक्षा के दिन पूरे कर रहा था।

अँधेरे में प्रह्लाद को न देख भय-भरे कम्पित कण्ठ से रानी ने पुकारा, "प्रह्लाद!" माता का स्वर प्रह्लाद फौरन पहचान गये—आवाज दी—"माँ, मैं आया—घबराओ न!"

प्रह्लाद माता के गले से लिपट गये। पर रोये नहीं। उस बालक वीर की धीरता अथाह थी। प्राणों का मोह भी जिसने नहीं किया, वह स्नेह-दुःख से भला कब विचलित हो सकता था? उसने संसार में माता-पिता का हक अदा करना ही सीखा था, परन्तु सच्चा प्रेम उसका परमात्मा के पद-पंकजों में ही था।

जिस तरह लक्ष्मण की भक्ति और श्रद्धा पिता-माता पर हक अदा करने के लिए ही थी, किन्तु अन्तर की सच्ची लगन श्रीरामचन्द्रजी ही में, उसी तरह प्रह्लाद भी माता-पिता को पूज्य देवता समझकर अपने जन्म का ऋण-शोध कर रहे थे। किन्तु उनका अन्तर सदा परमात्मा की ओर ही खिंचा रहता था।

प्रह्लाद ने माता का बड़ा सम्मान किया। परन्तु माता का ध्यान तो एक दूसरी ही ओर था, वे सम्मान और श्रद्धा के लिए वहाँ नहीं गयी थीं—प्रह्लाद की भावना उन पर कैसी ही रही हो, परन्तु वे तो प्रह्लाद के लिए अपने प्राणों को भी जरूरत पड़ने पर छोड़ सकती थीं। माता के मनोभाव, माता का स्नेह, माता की आकांक्षा पुत्र के लिए कैसी होती है, यह संसार का कोई पुत्र नहीं सोचता कि एक दिन वह था, जब माता ही मेरे अस्तित्व को बचा रही थी, माता की साँस मेरी साँस थी, माता का हृतकम्प मुझमें हृत्-स्पन्दन-संचार करता था, माता की भूख-प्यास से मेरी भूख-प्यास मिटती थी। प्रह्लाद भी माता के इस महत्व को नहीं समझ सके, परन्तु क्योंकि पिता-माता पुत्र के जीवनदाता हैं, इसलिए उनकी आज्ञा पर अपने जीवन को उत्सर्ग कर देना प्रह्लाद खूब समझ गये थे। इसलिए पिता की आज्ञा का उन्होंने कभी कोई विरोध नहीं किया। रानी एक दृष्टि से अपने पुत्र को देखने लगीं। कहीं कोई घाव न था, किन्तु वार-वार उसके कोमल अंगों को अच्छी तरह देख-भाल रही थीं। प्रह्लाद हँसे। कहा, "माँ, मुझे कहीं भी चोट नहीं आयी, तुम बेफिक्र रहो, राम मेरे रक्षक हैं। सच कहता हूँ माँ, मुझे कोई कष्ट नहीं हुआ। मैं राम की कृपा से बेदाग बच गया हूँ।"

रानी की आँखों में आँसू भर आये। स्नेह-भरे सुकोमल स्वर में उन्होंने कहा, "बेटा, अगर रामजी की भक्ति करने के लिए तुम्हें आना था, तो इस पापी-कुल में तुमने जन्म क्यों लिया? किसी ऋषि-महर्षि का कुल ही तुम्हें पवित्र करना था! यहाँ तो जानते ही हो, तुम्हारे पिता का स्वभाव कितना क्रूर है। बेटा, हम जब तक जियें, तब तक के लिए ही राम-नाम लेना क्यों नहीं छोड़ देते? बेटा, तुम्हारे दुःख से हमें बड़ा कष्ट होता है। मेरी बात मानो, अब कभी राम-नाम जबान पर

न लाना !"

प्रह्लाद ने माता को समझाया। राम-नाम ही एक मात्र जीवन का आधार होना चाहिए, इस पर अनेक उपायों से, अनेक युक्तियों से माता का विश्वास दृढ़ कर दिया। पुत्र के हृदय से राम-नाम का बीज किसी तरह निकाला न जायगा, यह रानी बहुत अच्छी तरह समझ गयीं। कोई वश था ही नहीं। अन्त में पुत्र को गले लगा, राम के ही भरोसे उसे छोड़, आँचल से आँसू पोंछती हुई विवशता समझकर बाहर चली आयीं।

नवम् परिच्छेद

द्विरद-पद-तल

दो परीक्षाओं में प्रह्लाद उत्तीर्ण हो चुके। अब तीसरी परीक्षा सामने थी। परन्तु जिसने अपने लिये कुछ भी नहीं रख छोड़ा था, सर्वस्व तक का समर्पण अपने परम प्रिय राम के पदारविन्दों में कर चुका था, उसे न परीक्षाओं की परवा थी और न उत्तीर्ण होने का आनन्द। वह बस प्रखर धारा दुर्मद-नद के वक्षस्थल पर पड़े हुए तिनके की तरह तरङ्गाघातों से इधर-उधर बह रहा था और महामाया की लीला प्रत्यक्ष कर रहा था—यही उसके जीवन की क्रीड़ा थी और यही उसका संचित ज्ञान। संसार में निर्लिप्त और तटस्थ रहकर लीला-ललित आत्मा के अगणित रूप को वह प्रत्यक्ष करता हुआ, अपने इसी आनन्द में अनादि-वक्ष पर नृत्य कर रहा था।

इधर दैत्यराज हिरण्यकशिपु को खबर मिली कि जहर का प्रह्लाद को अणुमात्र भी नशा नहीं हुआ। वे ज्यों के त्यों ही अपने स्थान पर बैठे हुए भजन कर रहे हैं! सुनते ही हिरण्यकशिपु के आश्चर्य का ठिकाना न रहा। उतना तीव्र जहर और उसे प्रह्लाद न-कुछ की तरह हजम कर गये, यह उसके लिए एक चिन्ता का विषय हो गया परन्तु वह हठी भी एक ही था। मृत्यु ज्यों-ज्यों प्रह्लाद से हटती जाती थी, त्यों-त्यों हिरण्यकशिपु की स्वाभाविक ईर्ष्या प्रह्लाद को मृत्यु के हाथों में जबरन डालने के लिए बढ़ रही थी। इसे दो मनुष्यों के स्वभाव की लड़ाई कहना अधिक सङ्गत जान पड़ता है। अस्तु, जब जहर का घूंट भी प्रह्लाद मुस्कराते हुए पी गये और उनका बाल भी बाँका न हुआ, तब हिरण्यकशिपु को उन्हें मारने का एक दूसरा उपाय करना पड़ा। परन्तु कुछ भी हो, था वह प्रह्लाद का पिता ही। उसने एक वार फिर सोचा कि प्रह्लाद को चलकर समझाऊँ तो सम्भव है कि प्रह्लाद बात मान जाय और राम-नाम लेना छोड़ दे।

इस विचार से हिरण्यकशिपु कारागार के उसी अँधेरे कमरे में गया, जहाँ प्रह्लाद चुपचाप बैठे हुए अपने प्यारे राम का ध्यान कर रहे थे। प्रह्लाद की कोमल कान्ति देखकर हिरण्यकशिपु का हृदय स्नेहार्द्र हो गया। हत्या के भयङ्कर मार्ग से उसे हटाकर कुछ काल के लिए अपनी मृदुल राह पर ले आने पर भी प्रेम की विजय नहीं हो सकी। कारण प्रह्लाद पिता के प्रेम में पड़कर अपने कर्त्तव्य को ताक पर नहीं रख सके। उन्होंने पिता की आज्ञा का उल्लंघन किया। जब हिरण्यकशिपु ने कहा, "बेटा, राम-नाम छोड़ दो—राम हमारा परम शत्रु है, तुम हमारे पुत्र होकर राम की भक्ति करते हो, इससे बढ़कर लज्जा की बात हमारे लिये और क्या हो सकती है ? जिस राम के लिए तुम पागल हो रहे हो, तुम्हारे ताऊ को उसी पापी ने पाताल में मारा, इसलिए तुम्हें इससे बदला लेने का इरादा रखना चाहिए, न कि इस तरह हाथ जोड़कर उसकी खुशामद करनी चाहिए।"

पिता की बात सुन प्रह्लाद के छोटे-छोटे होंठों पर मुस्कान की मधुर मन्द, हृदयहारिणी एक रेखा खिंच गयी। पिता की बुद्धि पर उन्हें पीछे से बड़ा दुःख हुआ। परन्तु वे अपनी उतनी ही उम्र में स्वभाव के पूरे पारखी हो गये। पिता का स्वभाव भी उनका न-जाना हुआ न था। उन्होंने बड़े ही विनय-स्वर में पिताजी से कहा, "पिताजी, आप राम पर अकारण ही दोषारोप कर रहे हैं। राम सदा ही निर्दोष और निर्लिप्त हैं। वे हत्या तो कभी कर ही नहीं सकते। मेरे ताऊ को उनकी मृत्यु ने—काल ने मारा है, राम को तो आप व्यर्थ ही अपराधी समझे बैठे हैं। मनुष्य अपने कर्मों का ही फल-भोग करता है। इसके लिए परमात्मा को दोषी ठहराना सरासर अन्याय है। ताऊ ने जैसे पहले बीज बोये, वैसे उन्हें फल चखने पड़े। आप इस भ्रम को दूर कर दें, और मैं आपको क्या कहूँ—आपको शिक्षा देने की धृष्टता मैं नहीं कर सकता।"

प्रह्लाद की बातों से अमृत टपक रहा था, परन्तु उसके लिए जो अधिकारी हो। हिरण्यकशिपु को अपनी तारीफसुनना और अपने हठ की रक्षा करना जिसका स्वभाव था, यह सिद्धान्त कब जँच सकता था। सुनते ही उसकी वही दशा हुईजो अधिकारियों को अधिकार छिनने की शङ्का से हुआ करती है। स्वभाव-सिद्ध हिताहित ज्ञान-शून्य नशा क्षण-भर में सवार हो गया। गरजकर उसने कहा, "प्रह्लाद, तुम्हें स्मरण रहे कि मेरी बातों पर चीं-चपड़ करनेवाला आज संसार में दूसरा नहीं है और तुम मेरे पुत्र होकर मुझे शिक्षा दे रहो हो ! भविष्य अपना बड़ा ही भयङ्कर समझो। अगर तुम्हें मेरा पक्ष छोड़कर राम का पक्ष लेना है, तो तुम खुशी से उसका पक्ष ले सकते हो, तुम उसकी और तारीफ किया करो, तुम्हें और क्या करना है, मैं अपना धर्म समझता हूँ, पुत्र के धर्म के लिए मैं जिम्मेदार नहीं। साथ ही तुम्हें होशियार किये देता हूँ कि आज से मेरी सम्पूर्ण शक्ति तुम्हारे विरोध में लग जायगी। तुमसे और तुम्हारे राम से हो सके तो उसका विरोध करना या बचने का उपाय सोच निकालना।"

महाराज हिरण्यकशिपु का शरीर मारे क्रोध के काँप रहा था। अपनी बात

समाप्त करके फिर एक क्षण भी वह वहाँ नहीं ठहरा। वहाँ से सीधे अपने मन्त्रणा-भवन में जा मन्त्रियों को बुला भेजा। महाराज हिरण्यकशिपु की आज्ञा सुनते ही खुशामदी मन्त्रियों का दल उसी वक्त वहाँ आकर हाजिर हो गया। हिरण्यकशिपु में अबके उन्होंने कुछ चिन्ता देखी, जैसे किसी विषय का कोई निष्कर्ष न होता हो। मन्त्रियों ने अभिवादन किया, हिरण्यकशिपु ने उँगली के इशारे से बैठने की आज्ञा दी, खुद उसी तरह मौन भाव से सोचता रहा।

कुछ देर तक मन्त्रि-मण्डल चुपचाप बैठा रहा। परन्तु थोड़ी ही देर में अपनी सेवा दिखलाने के गूढ़ अभिप्राय से एक ने उन्हीं में से कहा, "आज दैत्यराज के श्रीमुख पर चिन्ता-सी झलक रही है! क्या कारण है, यह जानने के लिए हम लोगों को बड़ी उत्सुकता हो रही है।"

हिरण्यकशिपु ने सिर उठाया। कुछ रुककर कहा, "प्रह्लाद के लिए सचमुच आज मेरी चिन्ता बढ़ गयी है। बड़े आश्चर्य की बात है कि इतने उपाय उसके मारने के लिए किये, लेकिन कामयाबी किसी से न हुई। क्या सचमुच उसके बदन पर तलवार चोट नहीं कर सकती, क्या यह सच है कि वह जहर हजम कर गया? तलवार कभी किसी के साथ रियायत नहीं कर सकती, जहर कभी किसी को अपना मित्र नहीं मान सकता। फिर प्रह्लाद के न मरने का क्या कारण हो सकता है? जहर पेट में पड़ जाय और उसकी क्रिया न हो, क्या यह कभी सम्भव हो सकता है? तलवार का वार हो जाय और उससे खुला बदन न कटे, यह कैसी बात है? उस दिन दो जल्लादों ने काम भी छोड़ दिया! यह सब क्या है? मैं हैरान हो रहा हूँ।"

मन्त्रियों में से एक ने कहा, "महाराज, आप निश्चिन्त रहें, प्रह्लाद मुमकिन है, जादू-जैसी कोई विद्या जानता हो। मेरे विचार से एक काम किया जाय तो वह किसी तरह मृत्यु के पंजे से नहीं छुट सकता।"

हिरण्यकशिपु को मन्त्री की इस बात से बड़ी आशा हुई। मन्त्री ने कहा, "दैत्यराज, प्रह्लाद को बाँधकर हाथी के पैरों-तले डाल दिया जाय, फिर अपनी आँखों के सामने ही देखिए कि वह मरता है या नहीं, अगर नहीं मरता तो आखिर किस उपाय से बचता है, यह भी तो प्रत्यक्ष हो जायगा।"

बात हिरण्यकशिपु के दिल में बैठ गयी। उसने सोचा, 'बस यही बात ठीक है। अपने सामने ही देखूंगा, अब के उसका राम उसे कैसे बचाता है।'

हाथी सजा लाने का फौरन हुक्म हुआ। उधर प्रह्लाद को बाँधकर ले आने के लिए सिपाही दौड़ाये गये। आज्ञा-मात्र की देर थी। पीलवान मस्त जबरदस्त हाथी पर चढ़कर महल के सामने आ गया। सिपाही भी प्रह्लाद को बाँधकर सामने ले आये। प्रह्लाद के कोमल हाथ-पैर कठिन बन्धनों में बँधे हुए थे। शरीर विवश कर दिया गया था कि उसकी रक्षा अब के किसी प्रकार न हो सके। हिरण्यकशिपु ने प्रह्लाद को देखा, आँखें चार हुईं, परन्तु प्रह्लाद की दृष्टि से क्षमा-प्रार्थना का भाव न निकला, वहाँ केवल सहनशीलता की शान्ति विराज रही थी। इसे गर्वित हिरण्यकशिपु ने अपना अपमान समझा। फौरन हाथी के पैरों-तले डाल देने की

आज्ञा दी।

सिपाहियों ने उठाकर प्रह्लाद को हाथी के पैरों के नीचे डाल दिया! पीलवान ने अंकुश मारकर हाथी को रौंदने का इशारा किया। परन्तु ईश्वर की इच्छा, हाथी को दया आ गयी। उसने प्रह्लाद को सूंड से उठा पीठ पर रख लिया!

दर्शक दङ्ग रह गये। हिरण्यकशिपु ने दाँतों उँगली दबायी। सभा में चारों ओर सन्नाटा छा गया। प्रह्लाद को पीठ पर चढ़ाकर हाथी आनन्द से वहीं झूमने लगा।

72798

दशम परिच्छेद

सर्प-दंश चेष्टा

हिरण्यकशिपु की हिंसा और भी प्रबल हो उठी। इस वार अपनी आँखों उसने प्रह्लाद को बचते हुए देखा। इस वार से कभी हताशाभाव भी आकर कमजोर करने लगा। परन्तु जिस तरह सूर्योदय के लिए ही रात हुआ करती है, उसी तरह यह हताशा भी उसे प्रतिहिंसा के परम शिखर पर ले चलने के लिए क्षण-क्षण में आने-जाने लगी। हिरण्यकशिपु अपना हठ नहीं छोड़ सका। इसका छोड़ना एक तरह उसके लिए मृत्यु ही था। जिस स्वभाव को जन्मकाल से ही उसने अपनाया था और जिसके लिए गर्व था, जिसके आधार पर उसका अब तक का तमाम जीवन ही सङ्गठित हो रहा था, उसे छोड़ना उसके लिए मृत्यु नहीं तो और क्या हो सकता है? परन्तु मृत्यु को मृत्यु के राज्य में बसते हुए भी मनुष्य नहीं चाहते, हिरण्यकशिपु भी अपनी मृत्यु न चाहता था, उसे अपना स्वभाव बदलना मंजूर न था। यह उसकी शक्ति से बाहर की बात थी। फल यह हुआ कि उसके स्वभाव में जहाँ से बाधा आ रही थी, उस बाधा को दूर कर अपने स्वभाव को वह निष्कण्टक कर लेना चाहता था। इसीलिए प्रह्लाद पर उसकी इतनी ईर्ष्या थी। वह प्रह्लाद के मारने का कोई दूसरा उपाय खोजने लगा। मन्त्रियों ने समझाया कि महाराज, अब एक दूसरा उपाय यह किया जाय कि प्रह्लाद जिस कोठरी में कैद हैं, उसमें जहरीले साँप छोड़ दिये जायँ, तो अवश्य ही उनके काटने से प्रह्लाद की मृत्यु होगी।

पूछना क्या था, हिरण्यकशिपु की हिंसा को कुछ शक्ति मिली—उसने जरा देर के लिए एक विश्राम-सुख पाया। निश्चय हो गया कि जहरीले कई पुराने साँप बिलों से आज ही पकड़वा मँगाये जायें। निश्चय के बाद सेवकों को आज्ञा दी गयी। पुरस्कार की घोषणा की गयी कि जिसका साँप जितना पुराना और विषधर होगा,

उसे उतना ही इनाम दिया जायगा। लोभ सब कुछ करा लेता है। क्षण-भर में कितने ही छोटे-बड़े साँप कई पकड़ आये। हिरण्यकशिपु उन्हें देखकर बहुत प्रसन्न हुआ।

कठिन परीक्षाओं से उत्तीर्ण हो, संसार को ईश्वर-प्रेम की शिक्षा देनेवाला वह निरभिमान सरल बालक अपने गुरु की आज्ञा पर दृढ़ विश्वास जमाये तल्लीन हो ईश्वर-चिन्तन कर रहा था। उसी समय खिड़कियों से कई साँप कोठरी में फेंक दिये गये! प्रह्लाद को इसकी कोई खबर नहीं। साँपों की फुफकार से जब ध्यान भङ्ग हुआ, तब उनकी समझ में आया कि यह चौथी परीक्षा सामने आ गयी, प्रह्लाद स्थिरचित्त हो फिर ईश्वर-स्मरण करने लगे। श्वास की गति क्रमशः धीमी हो गयी। अन्त में मन ईश्वर-भावना में बिल्कुल डूब गया। जिसकी कृपा से हाथी की क्रूरता भी कोमलता बन गयी थी, आज साँपों के भीतर भी उसकी अथाह करुणा प्रवाहित हो चली। कुटिल साँपों को भी काटना भूल गया। वहाँ कुछ देर के लिए उनके स्वभाव में भी प्रेम की पराकाष्ठा आ गयी।

एकादश परिच्छेद

पर्वत-शिखर

सुबह हुआ। खबर फैल गयी कि साँपों से भी प्रह्लाद बाल-बाल बच गये। काटना तो दूर, साँपों ने उसकी ओर फुफकारे भी नहीं छोड़े। बल्कि उनके साथ खेलने लगे।

हिरण्यकशिपु का हौसला पस्त हो गया। शरीर की नस-नस ढीली पड़ गयी। उसे ऐसा जान पड़ने लगा कि उसका सम्पूर्ण वीर्य-विक्रम, जिस द्वारा तीनों लोक में उसकी विजय का डङ्का पिट गया था, आज एक छोटे-से दुधमुँहे बालक के आगे बिलकुल निस्तेज हो गया! मस्तिष्क में असह्य भार-सा आकर लद गया। प्रह्लाद की मृत्यु ही एक आराम दे सकती थी, परन्तु हाथ बढ़ाकर चाँद पकड़ने के दुस्साहस की तरह प्रह्लाद की मृत्यु भी हिरण्यकशिपु के लिए अप्राप्य वस्तु हो रही थी। हर तरह से उसने अपना चिन्ता-क्रम दूर करना चाहा, दिलबहलाव के अनेक उपाय किये, परन्तु बस कहीं कुछ न चला, बार-बार मन अपनी पूर्व चिन्तित परिधि में चक्कर काट-काटकर खुद भी हैरान होता था और साथ ही हिरण्य-कशिपु को भी हैरान कर रहा था।

उसकी दुष्ट-बुद्धि ने फिर उसकी मदद की। एकाएक उसे एक युक्ति सूझी और इससे उसे क्षणिक प्रसन्नता भी हुई। क्योंकि इससे प्रह्लाद के नाश का उसे पूर्ण

विश्वास हो गया था। उसने अपने सिपाहियों को बुलाया और आज्ञा दी कि जाओ, प्रह्लाद को पर्वत के ऊँचे शिखर पर से बाँधकर नीचे गिरा दो ! इस तरह वह कदापि न बच सकेगा। न उसका राम उसकी रक्षा कर सकेगा और न कोई मन्त्र-तन्त्र।

दैत्यराज की आज्ञा शिरोधार्य करके पुरस्कार की प्रत्याशा में कुछ सिपाही दौड़े हुए कारागार के द्वार पर गये और प्रह्लाद को वहीं कसकर बाँधा। फिर पहाड़ की चोटी पर से गिराने के लिए चले।

प्रह्लाद ने कुछ भी नहीं कहा। मौन ही उनका महामन्त्र था। न किसी से प्रार्थना की, न किसी को कटु-शब्द कहा। मन-ही-मन उसी परम प्रियतम की स्तुति करने लगे। देखते-देखते पहाड़ भी करीब आ गया और वे अर्थलोभी उस निर्दोष बालक की जान लेने के लिए उसे लादकर पहाड़ पर चढ़ने लगे। ऊपर चोटी पर पहुँच एक बार नीचे की ओर उन्होंने नजर दौड़ायी-- देखा, विस्तृत वसुन्धरा वहाँ से धुएँ की तरह दीख पड़ती है। पेड़-पौधे, घर-द्वार सब एकाकार हो गये हैं। सिपाहियों को विश्वास हो गया कि अबकी प्रह्लाद की मृत्यु अनिवार्य है और दैत्य-राज को प्रह्लाद को बार-बार बच जाने पर जैसी कुछ अशान्ति हो रही है, उसे देखते हुए यह निश्चय है कि हमें कामयाबी होने के साथ अर्थ भी मिलेगा—अब हमारी दरिद्रता बस एक ही दिन में दूर हुई।

उन्हीं में से एक ने देर हो रही है देखकर कहा, "लो प्रह्लाद, अब तैयार हो जाओ—जिसे याद करना-कराना हो, कर लो, अब तुम यहीं से नीचे गिराये जाओगे। किसी को कुछ कहना हो तो जल्दी कह लो, हम लोगों को देर हो रही है।"

प्रह्लाद कुछ न बोले। एक बार शून्य दृष्टि से उन क्रूर-कर्माओं को देखा-भर। बस आँखें मूंद लीं। मनुष्य लोभवश कितना बड़ा दुष्कर्म कर सकता है, अपनी परीक्षा में प्रह्लाद यही सब देख रहे थे। इससे उनका वैराग्य-भाव और दृढ़ होता जा रहा था और अपने पर प्यारे राम की परम कृपा समझते थे। पिता का स्वभाव, माता का स्नेह, सिपाहियों का लोभ, सब प्रह्लाद के लिए स्वप्न की-सी लीला जान पड़ने लगी। सब जगह उन्होंने असारता की ही छाया देखी—एक-न-एक नश्वर वस्तु पर ही सबकी लगन देखी। उनका रोम-रोम संसार से उदास हो रहा था। उन्होंने अन्त में इतना ही कहा, "भाई, मुझे किसी को कुछ नहीं कहना, तुम आनन्दपूर्वक अपना कार्य समाप्त करो--ईश्वर तुम्हारा कल्याण करें।"

सिपाहियों को कल्याण की फिक्र न थी, वे तो बस धन चाहते थे। प्रह्लाद को बाँध-बूंधकर तैयार पहले ही से कर रखा था। बस गिराने-भर की देर थी। सो वह भी सम्पूर्ण हो गया।

कार्य समाप्त कर प्रह्लाद की मृत्यु अपनी आँखों देख राजा को खबर देने के विचार से वे लोग उतरकर उधर से ही होकर निकले। परन्तु उनके आश्चर्य का

और-छोर न रहा, जब उन्होंने प्रह्लाद को एक देवी की गोद में बैठे आनन्द से वार्तालाप करते हुए देखा। सब बहुत डरे और राजा को जाकर खबर दी कि वार अबकी भी खाली ही गया।

द्वादश परिच्छेद

अग्नि-परीक्षा

हिरण्यकशिपु भी पहाड़ के नीचे प्रह्लाद की दशा देखने के लिए गये। देखा, प्रह्लाद प्रसन्न मन से बैठे हुए थे। हिरण्यकशिपु ने उनके अंग-अंग की परीक्षा ली, परन्तु चोट कहीं भी न आयी थी। सब अंग जैसे-के-तैसे ही मक्खन की तरह मुलायम हो रहे थे। अब हिरण्यकशिपु निराश हो गया। दिल हाथों दब गया। प्रह्लाद की शक्ति के सामने वह संसार-विजयी वीर अपने को परास्त समझने लगा। उसने धीमे स्वरों में प्रह्लाद से पूछा, "क्यों प्रह्लाद, तुम हर दफा जो बच जाते हो, इसका क्या कारण है? क्या सच बात तुम हमसे कहोगे?"

प्रह्लाद उसी सरल दृष्टि से पिता के मुख की ओर देखने लगे। कहा, "पिताजी, मैं तो कई वार आपसे विनय कर चुका हूँ, कि सब कृपा राम की है। आप अपनी पाँच ज्ञानेन्द्रियों के फेर में पड़े हुए हैं। इनसे राम को कोई समझ नहीं सकता। वे विश्वास से मिलते हैं। श्रद्धा की भूमि पर उनका सुहावना आसन रखिये, तब अपनी इच्छानुसार वे उस पर आकर बैठें और तभी उनकी कृपा और उनकी शक्ति का आपको ज्ञान होगा। परन्तु आप विचार-युक्ति और नास्तिकता के सहारे अगर उन्हें प्राप्त करना चाहें तो यह आपका व्यर्थ श्रम ही होगा। आप मानें या न मानें, मुझे जो कुछ मालूम है, जिसे मैं सत्य समझता हूँ और प्रत्यक्ष कर चुका, आपसे विनयपूर्वक कह देता हूँ। आगे आपका अधिकार है।"

हिरण्यकशिपु चुप हो गया। उस दिन वह कुछ नहीं बोला। परन्तु प्रह्लाद की बातों पर उसे ज़रा भी सहानुभूति नहीं हुई। जिसे दुश्मन समझकर आज इतने दिनों से वह मिलने की प्रतीक्षा कर रहा है, उसे वह भक्ति-भाव से पुकारे, यह उसके लिए, एक विश्वविजयी वीर के लिए कितनी लज्जा की बात है? हिरण्यकशिपु चला गया। सिपाही प्रह्लाद को बाँधकर वहाँ से फिर कारागार में ले गये।

हिरण्यकशिपु ने इस वार एक और उपाय ढूंढ़ निकाला। प्रह्लाद की मौसी होलिका को यह वरदान था कि वह आग में न जलेगी। हिरण्यकशिपु ने सोचा कि लकड़ियों का ढेर लगाकर उसमें आग लगा दी जाय। जब लपटें आसमान छूने

लगें, तब होलिका प्रह्लाद को लेकर उसी आग में बैठ जाय, तो प्रह्लाद जलकर भस्म हो जायगा और होलिका को तो वर है ही कि उसे आग जला न सकेगी। बस सोचने के साथ ही आदेश भी हो गया। प्रह्लाद भी वहीं लाकर हाजिर किये गये। होलिका भी आयी।

इकट्ठी की हुई लकड़ियों में हिरण्यकशिपु की आज्ञा से आग लगा दी गयी, लपटें बात-की-बात में उठकर आसमान छूने लगीं। यह तमाशा देखने के लिए गांव के बे-शुमार लोग आकर एकत्र हो गये। होलिका, प्रह्लाद को गोद में लेकर जलती हुई प्रचण्ड आग में जाकर बैठ गयी। सब लोग तअज्जुब में आ गये। देखा कि प्रह्लाद का एक बाल भी आग में न जला था। वे आनन्दपूर्वक बैठे हुए ईश्वर का ध्यान कर रहे थे।

हिरण्यकशिपु के होश उड़ गये। उसे स्वप्न में भी विश्वास न था कि कभी ऐसा भी हो सकता है। अब तक और-और जिन उपायों द्वारा प्रह्लाद के मारने की चेष्टा की गयी थी, उन पर उसे अविश्वास हो रहा था, कभी-कभी वह सिपाहियों के धोखा देने की बात भी सोचा करता था। परन्तु आज जब अपनी आँखो से उसने प्रह्लाद का धधकती हुई आग में भी न जलना प्रत्यक्ष कर लिया, तब बिलकुल उसका चेहरा उतर गया, जैसे किसी संग्राम में उसकी घोर पराजय हो गयी हो। उपाय कुछ था ही नहीं। सिर झुकाये हुए चुपचाप वह अपने महल में चला गया।

त्रयोदश परिच्छेद

सागर-गर्भ में

हिरण्यकशिपु की कुल कार्रवाइयाँ मिट्टी में मिल गयीं और उसके परम शत्रु का बाल भी बाँका न हुआ। एक इतने बड़े वीर के लिए यह चुल्लू-भर पानी में डूब मरने की बात थी। परन्तु समय सबकुछ कराता है। जिसके सामने देवेन्द्र का मस्तक भी नीचा हो जाता है, आज एक बालक से उसका कोई बस नहीं चलता! वह सब उपाय करके हार गया, परन्तु सफलता तक उसकी पहुँच न हो सकी। इस सोच-विचार में हिरण्यकशिपु की भूख-प्यास भी मिट गयी। रात को आँख भी न लगने लगी। आठों पहर बेचैनी में गुजरने लगे। मन्त्रियों को राजा की दशा पर बड़ी चिन्ता हुई। आखिर बहुत कुछ आपस में परामर्श करके उन लोगों ने निश्चय किया कि राजा से प्रह्लाद को समुद्र में डुबाने की बात चलकर कहें। इससे प्रह्लाद का बचना अवश्य ही असम्भव होगा।

मन्त्रिमण्डल हिरण्यकशिपु के पास आया और उसे चिन्तित-भाव से उदास

बैठा हुआ देखकर हृदय को बड़ी चोट लगी। सबने एक स्वर से चिन्ता दूर करने का परामर्श दिया। और साथ ही अपना हाल का सोचा हुआ मृत्यु का नुस्खा भी उसके सामने पेश किया। नुस्खा निहायत लाजवाब था, हिरण्यकशिपु बहुत प्रसन्न हुआ। मन्त्रियों को खूब उसने धन्यवाद दिया। अगले दिन उसके अनुसार काम करने की सबको चेतावनी भी दे दी।

सुबह हुआ। नगर-भर में खबर फैल गयी कि आज प्रह्लाद को पहाड़ी पर से समुद्र में ढकेलकर मारने का निश्चय किया गया है। देखने के लिए लोग उतावले हो गये। समुद्र-तट पर लाखों आदमी इकट्ठे हो गये। अपने सभासदों सहित हिरण्यकशिपु भी प्रह्लाद की मृत्यु देखने के लिए आया। उधर प्रह्लाद के हाथ-पैर बाँध, छाती से एक शिला कसकर कुछ आदमी पहाड़ी पर उन्हें उठा ले गये। नीचे समुद्र अगणित जिह्वाएँ पसारे ताण्डव-नृत्य कर रहा था। तरंगों की भैरव-गर्जना सुनकर आतंक से आत्मा काँप उठती थी। तट पर के मुग्ध-दर्शक सोचते, यह न जाने किसके लिए अनादिकाल से लगातार गर्जन हो रहा है।

हिरण्यकशिपु ने नीचे से एक बार पहाड़ी की चोटी पर आँख उठाकर देखा। उसके सिपाही उसकी ओर टकटकी लगाये आज्ञा-प्राप्ति के लिए ताक रहे थे। प्रह्लाद को गिराने के लिए उन्हें हाथ के इशारे से हिरण्यकशिपु ने आज्ञा दी। फिर क्या था ? उस निरीह बालक को उच्च शिखर से घातकों ने समुद्र-गर्भ में छोड़ दिया ! करोड़ों आँखें प्रह्लाद को उत्सुकता-भरी दृष्टि से देखने लगीं। सबने सोच लिया था कि अबकी प्रह्लाद का बचना सर्वथा असम्भव है। परन्तु जिसे परमात्मा उबारनेवाला था, संसार उसका शत्रुताचरण करके क्या बिगाड़ सकता था ? प्रह्लाद उतने ऊँचे से गिरे तो समुद्र के तरंगोत्थित मृत्यु-गर्भ में, पर उन्हें चोट ज़रा भी कहीं न लगी—जैसे रुई के ढेर पर गिरे हों। गिरने के साथ ही हृदय का शिला-बन्धन अगोचर न जाने किसने आकर खोल दिया। हाथ-पैरों के बन्धन भी ढीले होकर अलग हो गये और उन्हें बचाने के लिए बहुत बड़ा एक स्वर्णकमल समुद्र के वक्षस्थल पर उन्हें लेकर तैरता हुआ नृत्य करने लगा। उस पर सुख-आसन से बैठे हुए प्रह्लाद उच्च स्वर से ईश्वर का नाम ले रहे थे। तट के लोगों ने आस्तिकता का जीता-जागता चित्र देख सहर्ष प्रह्लाद का स्वागत किया। करोड़ों कण्ठ वज्र-गम्भीर ध्वनि से प्रह्लाद के स्वर-में-स्वर मिलाकर भगवान् की जयध्वनि करने लगे। कमल उसी प्रकार बहती हुई तरंगों की मधुर थपकियों से धीरे-धीरे तीर की ओर आने लगा। तट पर पहुँच जाने पर प्रह्लाद उससे उतरे। लोगों ने बढ़कर उन्हें उठा लिया और अपनी गोद में डाल गगन-भेदी राम-नाम ध्वनि से उनकी यशोदुन्दुभि बजाने लगे। हिरण्यकशिपु कुछ काल तक तो मनमुग्ध होकर यह दृश्य देखता रहा, फिर अपने सामने ही अपने परम शत्रु की जयध्वनि सुनकर अधीर हो गया।

उसने नियन्त्रण की चेष्टा की, परन्तु उसका मनोभाव चतुर मन्त्रियों से छिपा न रहा। उस समय के लिए उन्होंने धैर्यपूर्वक जनता के कार्य में विघ्न न डालना ही

उचित समझा और राजा से कहा, "कि यह बहुत अनुचित होगा, अगर उत्तेजित जनता के प्रतिकूल आचरण किया जायगा। इस समय नीति के अनुसार अपने मकान में प्रह्लाद को ले चलना ही अच्छा होगा। फिर वहाँ चलकर जैसा करना आप उचित समझें, इच्छानुसार करते रहें। वहाँ से नियन्त्रण में आसानी होगी। यहाँ संघ के संगठित कार्य में तो किसी हालत में भी विरोधाभास न प्रकट होना चाहिए।"

हिरण्यकशिपु बात मान गया। प्रह्लाद को सहर्ष साथ ले मन्त्रियोंसहित अपनी राजधानी की ओर चल पड़ा। पीछे-पीछे करोड़ों कण्ठ से राम-नाम-ध्वनि भी प्रह्लाद के साथ हो ली। राज्य की सोलहो आना प्रजा प्रह्लाद के पक्ष में हो गयी। हिरण्यकशिपु का दुर्द्धर्ष प्रताप दबकर चकनाचूर हो गया। यदि मन्त्रियों ने उसे न समझाया होता, तो समुद्र तट पर ही प्रजा को दबाने के लिए उद्यत हो गया होता। परन्तु बुद्धि से काम निकालना ही मन्त्रियों ने पसन्द किया। हिरण्यकशिपु और प्रह्लाद दोनों को महल में ले गये। इससे प्रजावर्ग को विश्वास हो गया कि अब प्रह्लाद मुक्त कर दिये जायँगे और हिरण्यकशिपु परमात्मा का प्रताप प्रत्यक्ष करके अब उसका भक्त हो जायगा। इस तरह राज्य के लोगों के प्रत्येक के हृदय में प्रह्लाद का आसन जम गया। सब उन्हें अपना आदर्श और आचार्य मानने लगे। हिरण्यकशिपु ने इतने अत्याचार, इतनी हत्याएँ विष्णु के विरोध के लिए कीं तो, पर उसे सफलता न हुई, अन्त में प्रह्लाद की ही विजय हुई और वैष्णव-धर्म का प्रचार बढ़कर फलने-फूलने लगा।

चतुर्दश परिच्छेद

नरसिंह

प्रह्लाद राज-भवन में हैं। बहुत दिनों बाद उन्हें यह सौभाग्य मिला है। अगर प्रजा के बागी होने का भय न होता, तो हिरण्यकशिपु शायद उन्हें राज-भवन में न ठहरने देता। जब से प्रह्लाद महल में आये, तब से हर वक्त हिरण्यकशिपु की आँखों में काँटे की तरह खटकने लगे। अबकी वार किसी दूसरे उपाय से उसने प्रह्लाद के मारने का निश्चय नहीं किया। खुद ही उन्हें तलवार के घाट उतारकर अपने क्रोध को शान्त करना निश्चय किया। उसका धैर्य अब जाता रहा था। किसी उपाय से उसका प्रशमन होना उसे असम्भव जान पड़ता था। इसीलिए अपने पुत्र की सफाई अपने ही हाथों करने के लिए वह इतना उतावला हो रहा था। उसका क्रोध पूर्ण मात्रा में आ गया था और सिर पर अलक्ष्य भाव से मृत्यु भी

मुकाम कूच करने का परवाना लिये खड़ी थी।

दिन की समाप्ति हो रही थी। भगवान् भुवन-भास्कर पश्चिमाकाश में गम्भीर गति से धीरे-धीरे अस्ताचल की ओर जा रहे थे। चिड़ियों की चहक में, पल्लवों की शिथिलता में, गोधूलि के अन्धकार में, किसानों के प्रत्यावर्तन में, श्रम, शयन और मोह की माया हृदय को कर्म-तत्पर संसार से उदासीन कर रही थी। इसी समय दैत्यराज हिरण्यकशिपु का दरबार जमा हुआ था। एक ओर सशस्त्र सिपाहियों का सजग पहरा, एक ओर उच्च कर्मचारियों का गम्भीर मौन, एक ओर दर्शकों के मुख पर सन्नाटा, एक ओर हिरण्यकशिपु के प्रताप की अन्तिम आभा, सब एकसाथ मिलकर उस दिन सभा की अन्तरात्मा में एक अपूर्व करुणा भर रहे थे, उस दिन न-जाने कौन-सी एक अज्ञात वेदना मौन स्वर में अपनी नश्वर रागिनी अलाप रही थी।

हिरण्यकशिपु के पास ही प्रह्लाद भी खड़े थे, शान्त, धीर, अचल-अटल। कहीं कोई ध्वनि उस नीरवता को बाधा देने का साहस नहीं कर रही थी। हिरण्यकशिपु ने ही यह साहस किया, वही वहाँ का स्रष्टा और पालक था, इसलिए वही उस मौन के नाश का भी कारण बना। एकाएक मन्द-मन्द स्वर से लोगों का ध्यान आकर्षित करते हुए उसने प्रह्लाद से पूछा, "प्रह्लाद, आज मैं तुमसे सभाजनों के समक्ष एक सत्य पूछना चाहता हूँ। बताओ किस उपाय से तुम इतनी वार मृत्यु के हाथों से बचते गये ?"

पिता के प्रति अगाध श्रद्धा प्रकट करते हुए नम्र स्वर से प्रह्लाद ने कहा, "पिताजी, जिसकी कृपा से मेरी सृष्टि हुई, जिसने मुझे पाल-पोसकर इतना वड़ा किया, जिसकी इच्छा के बिना किसी में हिलने की भी शक्ति नहीं है, जो सर्व-शक्तिमान है, तीनों काल के ज्ञाता, अजर-अमर होते हुए भी आकर स्वरूप धारण कर भक्तों की इच्छा-पूर्ति किया करते हैं, जिनके बिना किसी के अस्तित्व का कोई दूसरा साक्षी है ही नहीं, वही राम अब तक सब जगह मेरी रक्षा करते आये हैं।"

प्रह्लाद की बातों का न कभी पहले हिरण्यकशिपु को विश्वास हुआ था, न अब हुआ। वह तो उनके मारने की एक वजह खोज रहा था, जो उनकी इस बात से उसे दूसरा प्रश्न करने का मौका मिल गया। उसने कहा, "मैंने किसी एक जगह तो तुम्हें भेजा नहीं, कभी तुम कारागार में थे, कभी पहाड़ की चोटी पर, कभी आग में थे तो कभी अथाह पानी में। तुम्हारे राम को खबर कौन पहुँचता था कि आज प्रह्लाद अमुक स्थान पर भेजे जा रहे हैं, आज उनकी यह दशा है सो चलकर उन्हें बचाइये। तुम सच कहोगे तो तुम्हारा निस्तार हो सकता है अन्यथा—"

"अन्यथा का भय मुझे नहीं है—पिताजी, मैं तो अर्ज कर चुका, पर फिर सुनिए, अपने सन्देह को अगर हो सके तो दूर कर दीजिए। मेरे राम के पास खबर किसी ने नहीं भेजी, वे खुद सबकी खबर लिया करते हैं और ऐसी सच्ची खबर लेते हैं कि उनसे कभी गलती तो होती ही नहीं। जिन्हें मैं त्रिकालदर्शी बतला चुका, उनके पास खबर भेजने की आवश्यकता ही क्या है ?

"भला बतलाइये तो क्या रात को जो अगणित तारे चमकते हैं, वहाँ आपकी पैठ है ? क्या वहाँ आपको कोई जानता है ? समुद्रगर्भ के करोड़ों जीव क्या आपका शासन मानते हैं ? जिस पृथ्वी पर असंख्य पेड़-पौधे उगते, पल्लवित होते और फूलते-फलते हैं, उन पर आपका कोई अधिकार है, उनके लिए आप क्या करते हैं ? कीट-पतंगों में, पशु-पक्षियों में क्या आपका कोई नाम जानता है ? आपने सृष्टि के कितने जीवों पर विजय प्राप्त की है ? मेरे राम इन सबके भीतर हैं—सब जगह हैं।"—प्रह्लाद की सत्योक्ति से हिरण्यकशिपु ने अपना घोर अपमान समझा। अपनी प्रजा के सामने उसे अपना अपमान असह्य हो गया। मारे क्रोध के आँखों से ज्वाला निकलने लगी। तमाम शरीर काँपने लगा।

उसी क्रोधान्ध अवस्था में गरजकर प्रह्लाद से उसने कहा, "मैं युक्ति नहीं सुनना चाहता, मैं प्रत्यक्षवादी हूँ, बतला अगर तेरा राम सब जगह है, अगर सबकुछ तेरे राम का ही बनाया हुआ है, अगर सबमें वह समाया हुआ है, तो क्या उस खम्भे में तेरा राम है ?"

अकम्पित स्थिर कण्ठ से प्रह्लाद ने कहा, "हाँ, क्यों नहीं। अवश्य वे उस खम्भे में हैं !"

बस, क्रोध की पूर्णाहुति में जलकर हिरण्यकशिपु शिहिर उठा, हिरण्याक्ष की याद हो आयी, मन-ही-मन भाई से उसने कहा, 'भैया, आज तुम्हारा बदला लेता हूँ और शत्रु के खून से अपने इतने दिनों की धधकती हुई आग बुझाऊँगा !' झट उसने मियान से तलवार बाहर निकाल ली और वीर की तरह पैंतरा काटकर खम्भे में चोट की। उतना बड़ा मजबूत खम्भा बीच से टूटकर अलग हो गया। टूटने के साथ ही एक विकट गर्जना हुई, जिसे सुनते ही सभा के लोग मूर्च्छित हो गये ! हिरण्यकशिपु ने देखा, उस खम्भे से एक विकट मूर्ति जिसका तमाम बदन तो था आदमी का और मुँह शेर का, बाहर निकल आयी और हिरण्यकशिपु को पकड़ने के लिए उसकी तरफ बढ़ने लगी। हिरण्यकशिपु भी डरनेवाला न था, डर किसे कहते हैं, यह उसने अपने जीवन में सीखा ही न था। झट पैंतरा बदलकर उस मूर्ति पर उसने चोट की। पर वहाँ क्या होता, काल से कोई कब तक लड़ सकता है ? बड़ी देर तक बचते रहने पर भी अन्त में भगवान् नरसिंह ने उसे पकड़कर द्वार पर अपनी जाँघ पर रख तेज नाखूनों से बीच से फाड़ डाला और उसकी अन्तड़ियों की माला बना गले में पहन ली।

क्षण-भर में खबर फैल गयी कि हिरण्यकशिपु मारा गया। देवताओं को तो पहले ही से उत्सुकता थी। सब एकत्र हो गये। पर उस मूर्ति के सामने जाने की किसी को हिम्मत न होती थी, लक्ष्मी ने भी जवाब दे दिया। ब्रह्मा और महेश्वर ने सलाह करके प्रह्ल द को ही उस मूर्ति के सामने जा क्रोध प्रशमित करने के लिए कहा। सरल स्वभाव से प्रह्लाद उस भयानक मूर्ति के सामने खड़े हो, हाथ जोड़ स्तुति-वन्दनाएँ करने लगे। भगवान् नरसिंह का क्रोध भी प्रह्लाद की स्तुतियों से शान्त हो गया। उन्होंने उनके मस्तक पर अपना अभयहस्त धारण किया। देवताओं

ने दुन्दुभी बजायी और पुष्प-वर्षा की ।

भगवान् ने प्रसन्न हो प्रह्लाद से वर-प्रार्थना करने के लिए कहा। प्रह्लाद बोले, "प्रभो, मेरे पिता के सम्पूर्ण अपराध क्षमा कीजिए। और मुझ पर ऐसा ही दया-भाव बनाये रखिए।" 'तथास्तु।' कहकर बड़े समारोह से प्रसन्न मुख देवताओं के साथ भगवान् ने प्रह्लाद को राजगद्दी दी। देवताओं को भी लाभ ही हुआ। उनका छीना हुआ राज्य उन्हें फिर से मिल गया। सब आनन्दपूर्वक वहाँ से विदा हुए।

जिस विधि से राज्य करने के लिए भगवान् नरसिंहदेव प्रह्लाद को आज्ञा दे गये थे, उसी पर अटल भाव से डटे रहकर उन्होंने कई हजार वर्षों तक राज-सिंहासन अलंकृत किया। प्रजा को भी उन्हें पाकर परम सुख और शान्ति मिली।

०००

भीष्म

भूमिका

पितामह भीष्म की तरह का वीर, संसार के सम्पूर्ण इतिहास के पन्ने उलट जाइए, पर न मिलेगा। इतना बड़ा आदर्श भारत में दूसरा न हुआ। इनके बालकाल से ही इनकी सर्वतोमुखी प्रतिभा का परिचय मिलता है। ये वीर ही न थे, इनमें और भी अनेक गुण थे जो बड़े-से-बड़े प्रतिभाशाली पुरुष में नहीं पाये जाते। महाभारत में हजारों चरित्र आये हैं, परन्तु भीष्म के मुकाबिले में वे सूर्य के सामने दीपक की तरह हैं। जन्म से लेकर मृत्यु तक इस महावीर के जीवन-प्रवाह को देखते जाइए, कभी संसार की किसी शक्ति से, उसका प्रवाह नहीं रुका,—उसकी इच्छा की प्रतिकूलता करके उसके गुरु महावीर परशुराम को भी परास्त होना पड़ा—भगवान श्रीकृष्णचन्द्र को भी युद्ध-स्थल में अस्त्र-धारण करना पड़ा। महावीर भीष्म के चरित्र से सब प्रकार की शिक्षाएँ एक साथ मिल जाती हैं। पिता के प्रति पुत्र की कैसी भक्ति होनी चाहिए, माता और विमाता के प्रति उसके क्या कर्त्तव्य हैं, मनुष्यता का आदर्श क्या हो, शास्त्र-अध्ययन, ब्रह्मचर्य और सरल भाव से जीवन के निर्वाह का फल क्या है, समरक्षेत्र में क्षत्रिय का क्या आदर्श है, यथार्थ वीरता किसे कहते हैं, इस तरह से मनुष्यों के मस्तिष्क में मनुष्यता से सम्बन्ध रखनेवाले जितने प्रश्न आ सकते हैं, उन सबका उत्तर भीष्म के जीवन से मिल जाता है। ऐसे महापुरुष को आदर्श रूप से देश के सामने लाना उसके लिए बड़ा कल्याणकर है। बालकों के लिए इस महापुरुष के चरित्र पर लिखी गयी अंग्रेजी, बंगला पुस्तकों के आधार पर यथासाध्य हमने भीष्म के चरित्र-चित्रण की चेष्टा की है, आशा है, पाठक-पाठिकाएँ इससे यथेष्ट लाभ उठायेंगे।

कलकत्ता
15वीं अगस्त सन् 1926

निवेदक—
सूर्यकान्त त्रिपाठी

प्रस्तावना

भारतवर्ष सभ्यता के प्रथम विकास से महाभारत के अन्तिम समय तक अपने गौरव पद पर प्रतिष्ठित रहा है। वीरता और सभ्यता के पर्यायवाची शब्द प्रायः सब देशों में मिलते हैं। संसार में आज भी पृथ्वी वीरों से रहित नहीं है। वीर भी हैं और सभ्यता भी है। सबकुछ है, परन्तु वह आदर्श अब नहीं रहा। जिस तरह के महापुरुष की जीवन-घटनाओं पर यह पुस्तिका लिखी जा रही है, उस तरह का महावीर, उस तरह का सत्यवादी और पूर्ण ब्रह्मचारी अब तो क्या, पहले भारतवर्ष में भी दो-एक ही हुए हैं। महावीर भीष्म पितामह के चरण-रज के स्पर्श से भारत-भूमि चिरकाल के लिए पवित्र है, हिन्दू जाति अनादि काल तक के लिए अमर है। इस तरह का चरित्र, इस तरह का त्याग, इस तरह की पितृ-भक्ति, इस तरह का ब्रह्मचर्य, ऐसी सहिष्णुता, इतना प्रबल पराक्रम; साथ ही ऐसा गम्भीर ज्ञान, आप संसार का इतिहास देख डालिए, कहीं नहीं मिलेगा। आज तक की मनुष्यों की सृष्टि में महावीर भीष्म, चमत्कार के तौर पर—मनुष्य सृष्टि की सर्वांगीण उन्नति के पूर्ण विकास-से होंगे। निस्सन्देह भीष्म की तुलना नहीं हो सकेगी।

महाभारत के समय का अभी तक पूरा पता नहीं लगा है। अनुमानतः पाँच हजार वर्ष कहा जा सकता है। हिन्दुओं के युग-प्रवर्तन की दृष्टि से वह द्वापर का अन्त समय था। इस समय कौरवों और पाण्डवों में आपस की लड़ाई लगातार अठारह दिनों तक हुई थी, जिसमें दोनों पक्ष की अठारह अक्षौहिणी सेना जलकर राख हो गयी, भारत के बच्चे-बच्चे को याद है। क्षत्रियों की विजय वैजयन्ती इस लड़ाई में एक बार जो गिरी, फिर नहीं उठ सकी। उठने पर भी उसकी शान फिर नहीं रह गयी। महाभारत में चिरकाल के लिए क्षत्रिय शक्ति के पतन का एक जबर्दस्त कारण था। उस समय देश के नेता साक्षात भगवान् वासुदेव थे। भगवान् वासुदेव जैसे देश और जाति के हितैषी, जिन्होंने स्वयं कितने ही दुष्टों का वध किया,—कंस को विध्वंस कर दिया, कभी देश का अकल्याण नहीं कर सकते थे। उन्होंने जो कुछ किया था, उसे देश का कल्याण समझकर ही किया था। दोष जनता का है और अवश्यम्भावी पतन के परिणाम का। न जनता उनके आदर्श के अनुसार चली, न उसका पतन रुका। जाति में जिन दुर्गुणों की उत्पत्ति होने पर वह नाश की तरफ मुड़ती है, महाभारत काल में जाति के भीतर उसके रक्षक क्षत्रियों में वे दुर्गुण समा चुके थे। क्षत्रियों में शूरता और वीरता की जगह द्वेष-फूट-कलह-हिंसा-संकीर्णता-

दुराचार, असंयम, विलासिता-मिथ्याभिमान आदि दुर्गुणों ने ले ली थी। क्षत्रिय जाति को भगवान् वासुदेव इस रोग से मुक्त करना चाहते थे। इसका उपाय उन्होंने यह सोचा था कि इन आसुरी प्रवृत्तिवाले क्षत्रियों का नाश और धर्मराज्य की स्थापना होने पर निश्चय ही भारत की नाड़ियों से दूषित रक्त का प्रवाह बहुत दिनों के लिए रुक जायगा। इसीलिए, कंस, शिशुपाल, जरासन्ध और दुर्योधन आदि का नाश हुआ। धर्मराज्य की स्थापना भी हुई। महाराज युधिष्ठिर, भीमार्जुन आदि पाण्डवों में क्षत्रियोचित भाव विद्यमान थे। वे वीर थे, धीर थे, प्रजावत्सल थे, प्रजा के सुख के लिए अपने सर्वस्व तक का त्याग कर सकते थे। इसीलिए वासुदेव को हम उनके पक्ष में रहकर उनकी सहायता करते हुए देखते हैं। इस धर्मराज्य की स्थापना में दुर्योधन की बाधा विशेष उल्लेख योग्य न होती, न उसका नाश ही होता, अगर वह पाण्डवों का हक न दबा बैठता। भीष्म ने मृत्यु के समय तक दुर्योधन को समझाया था। युद्ध के परिणाम का दृश्य उन्होंने मानस-नेत्रों से प्रत्यक्ष कर लिया था। उन्हें अभीप्सित न था कि कौरवों की चिरकाल से संचित की हुई महान् शक्ति एक ज़रा से बन्धु-विरोध के कारण सर्वथा नष्ट हो जाय। शक्ति कभी आत्म-हनन के लिए नहीं हुआ करती, यह तो एक साधारण मनुष्य भी समझता है। शक्ति का इस तरह दुरुपयोग होने पर भीष्म को महान् दुःख हुआ, वे अन्त तक इसके लिए शोक करते रहे। भगवान् वासुदेव भी, दुर्योधन के न मानने पर, युद्ध के सिवा और कोई उपाय न निकाल सके। उपाय और था भी नहीं। लड़ाई हुई। दुष्ट मारे गये। जो कुछ शक्ति बच रही, उससे भारत बलवान न हो सका। चिराग चिरकाल के लिए गुल हो गया।

अगर यह लड़ाई न होती और दुष्ट प्रकृतिवाले वे कुल मनुष्य बचे रहते, तो भी भारत कल्याण-मार्ग पर न रह सकता। महाभारत के बाद भारत की जो दीन-दशा हो गयी थी, उनके रहने पर भारत की यह दीनता कदाचित् और बढ़ जाती। कारण लड़ाई और वैमनस्य जिस प्रकृति की बुनियाद से उठता है, वह प्रकृति तब भी मौजूद रहती। तब भी वे आपस में लड़ते-भिड़ते और एक-दूसरे के खून के प्यासे बने रहते। इससे न देश का कल्याण होता, न जाति का। दीर्घकाल तक के लिए यह आग भारत की छाती पर सुलगती रहती। इस विचार से, महाभारत-समर बहुत अंशों में भारत के लिए कल्याणकारी ही हुआ। पाण्डवों की सात अक्षौहिणी और कौरवों की ग्यारह अक्षौहिणी सेना पर जब हम विचार करते हैं, तब भी हमें मालूम हो जाता है, कि धार्मिक क्षत्रियों के नाम पर कलंक लगानेवाले द्वेषी-दुष्टों की ही संख्या अधिक थी। इसलिए, ग्यारह के विनाश के लिए सात का बलिदान न्यायानुसार ठीक ही हुआ है। बाकी मनुष्यों के दिन सुखमय ही हो जाते हैं। देश में दीर्घकाल के लिए शान्ति का साम्राज्य रहता है। इस दृष्टि से भी कृष्ण का युद्ध की शिक्षा देना ठीक ही हुआ।

चाहे जिस केन्द्र से विचार किया जाय, भगवान् श्रीकृष्ण की नीतिज्ञता में कहीं फर्क नहीं जान पड़ता। फर्क सिर्फ समय में था। सत्य, त्रेता और द्वापर के

अन्त तक भारत का समय सक्रिय था, उसके बाद से जीवों की निद्रित अवस्था की तरह, भारत के लिए भी समष्टिगत निद्रित अवस्था की आवश्यकता थी, यह प्राकृतिक नियम है। जिस किसी के अस्तित्व का परिचय हमें मिलता है, हम उसकी सक्रिय और निष्क्रिय दोनों अवस्थाएँ प्रत्यक्ष करते हैं। भारत का निष्क्रिय काल, तन्द्रा और सुप्ति समय आ रहा था। महाभारत के समय से इसका आरम्भ भी हो चुका था, वह होकर रहा। नीति से, महापुरुषों से, वीरों के बलिदान से वह रुक नहीं सका। वह आया। महाभारत का परिणाम स्त्रियों के लिए बड़ा भयानक हो गया। करोड़ों की तादाद में असूर्यम्पश्या कुल-बालाएँ अकालहत-कलियों की तरह वैधव्य की ज्वाला से झुलसने लगीं। उनके आर्तनाद से भारत का आकाश विदीर्ण होने लगा। इस लड़ाई ने क्षत्रियवीर्य के नाश के साथ स्त्रियों के लिए भी बड़ा भयानक परिणाम लाकर खड़ा कर दिया। अर्जुन ने भगवान् कृष्ण से स्त्रियों के परिणाम पर जो कुछ कहा था, अन्त में वही होकर रहा। पतन को रोकने के लिए जो एक उपाय निकाला गया, उसी के अन्दर से पतनरूपी राक्षस सहस्र-स्कन्ध होकर निकला। रक्त दूषित हो चला, वर्णसंकरों की संख्या बढ़ने लगी, व्यभिचार और अत्याचार का ताण्डवनृत्य आरम्भ हो गया। अवश्य, यह घोर पाप महाभारत के बहुत काल बाद से हुआ, परन्तु इसका जन्म महाभारत के समर से ही हुआ था। देश में राजशक्ति का अभाव हो जाने पर अत्याचारों को जोर पकड़ने का मौका मिला। वे बढ़े और कलिकाल की जयजयकार होने लगी।

महाभारत को जिस हद तक हम पतन का इतिहास कह सकते हैं, उसी हद तक हम उसे आदर्श भी मानते हैं। हमारे सामने आज हमारी जाति, धर्म और समाज के अन्दर जितने दुर्गुण आ गये हैं, इनके निराकरण की औषधि भी हमें महाभारत से मिलती है। जब हम अपने पतन पर विचार करते हैं, तब हमारे पतन के कारण भी साथ ही हमारी दृष्टि के सामने आ जाते हैं। उन कारणों का दूरीकरण ही जाति, समाज और धर्म के पतन के गढ़े से निकालना है। जिस महाभारत में हमारे पतन का चित्र खिंचा हुआ है, उसी में हमारे उत्थान का नक्शा भी मौजूद है। उत्थान के आदर्श भीष्म पितामह हैं। यदि उनके चरित्र का आदर्श हम अपने और अपनी सन्तानों के सामने रखें, यदि उसी तरह हम अपने पिता और माता की सेवा करें, यदि उसी आदमी को अपना ध्येय समझकर हम ब्रह्मचर्य की साधना के लिए तत्पर हों, यदि उन्हीं की तरह हम बड़े-बड़े लाभों का त्याग कर सकें, यदि वैसा ही हमारे अन्दर निष्काम कुटुम्ब-प्रेम पैदा हो, यदि वैसी ही शूरता की हम साधना करें, यदि शास्त्रों आदि पर हम वैसी ही निष्ठा रखते हुए उसका अध्ययन करें, यदि वैसे ही धैर्य की प्राप्ति के लिए हम सहनशील होना सीखें, तो इसमें सन्देह नहीं कि हमारी रगों से दूषित रक्त का प्रवाह दूर हो जाय, जड़त्व की ओर ले चलनेवाली वर्तमान शिक्षा का विकार नष्ट हो जाय, चालबाजी, धूर्तता और कपट-नीतिज्ञता के सहारे देश का महोपकार करनेवाले पाखण्डी नेताओं के इन्द्रजाल से मुक्ति मिले। हम अपने को समझें, देश के विराट चेतन स्वरूप को समझें और

देश के नाम से जड़ मिट्टी और कंकड़-पत्थर को समेटने की मूर्खता से छुटकारा हो।

प्रथम परिच्छेद

भीष्म का बाल्यकाल

महाराज महाभिष बड़े प्रतापी राजा थे। अपने वंश-मर्यादा की इन्होंने खूब रक्षा की थी। ये इक्ष्वाकुवंशी थे। सत्यवादिता के लिए उन्हें भी बहुत बड़ी प्रसिद्धि मिल चुकी थी। अपने राज्यकाल में उन्होंने सहस्र अश्वमेध यज्ञ किये और पूरे एक सौ राजसूय। यज्ञ-भाग खाते-खाते अन्त में देवताओं ने इन पर प्रसन्न होकर कहा, "वर-प्रार्थना करो।" महाराज महाभिष ने स्वर्ग में स्थान-प्राप्ति की अभिलाषा सूचित की। ऐसा ही हुआ, देवताओं ने सहर्ष उन्हें अपने साथ स्वर्ग में रहने की जगह दी। ये आनन्दपूर्वक उनके साथ आमोद-प्रमोद में समय पार करने लगे।

इसी समय, एक दिन ऐसा हुआ कि ब्रह्मा के दरबार में अधिकांश देवता ब्रह्मा को प्रसन्न करने के लिए उनकी पूजादि और स्तुति पाठ कर रहे थे। एक ओर कुछ राजर्षि और उन्हीं में महाराज महाभिष भी बैठे हुए थे। इतने में एक परम सुन्दरी देवी-मूर्ति, सामने से आती हुई नजर आयी। ये प्रसिद्ध मुनि-कन्या, गंगा थीं। किसी प्रयोजन से उस दरबार में ब्रह्मा से मिलने गयी थीं। मन कुछ चंचल रहने के कारण अपनी देह की खबर इन्हें न थी। देव-समाज के अदब का खयाल भी जाता रहा। इतने में जोर से हवा का एक झोंका लगा और इनका आँचल उड़कर स्थान-स्खलित हो गया। उन्हें उस अर्द्ध-नग्न अवस्था में देखकर देवताओं ने शर्म से गर्दन झुका ली, पर महाराज महाभिष नजर गड़ाकर उन्हें देखते ही रहे।

यह देव समाज की मर्यादा के अनुकूल न था। देवराज इन्द्र होते तो इस बेअदबी का कुछ बचाव भी होता। परन्तु नहीं, यह ब्रह्मा की बैठक थी। यहाँ इतनी बड़ी त्रुटि का कैसे क्षालन हो सकता था ? ब्रह्मा ने सभा की शिष्टता को कायम रखने के लिए महाभिष को शाप दे कहा, "तुमने देवलोक की शिष्टता के खिलाफ कार्य किया है। अब तुम यहाँ रहने लायक नहीं रहे। जाओ, तुम्हें मृत्युलोक में फिर जन्म लेना पड़ेगा। तुम्हारे हृदय में वासना का अंकुर उग चुका है, अब यहाँ तुम्हारा गुजारा न होगा। लेकिन हाँ, वहाँ से भोग समाप्त करके फिर तुम स्वर्ग-राज्य में रह सकोगे।" ब्रह्मा की आज्ञा सत्य के आधार पर थी। महाभिष समझ गये कि इसका उल्लंघन असम्भव है। अस्तु, वे सोचने लगे कि किसके यहाँ जन्म लें। कितने ही राजर्षियों, महर्षियों की याद आयी। परन्तु मन वहाँ कहीं न रमा।

अन्त में, महाराज प्रतीप के यहाँ पुत्र रूप से जन्म लेने का उन्होंने निश्चय कर लिया। उधर उनका भाव गंगा के हृदय में भी बस गया था, वे उन्हीं की चिन्ता में डूबी हुई अपने घर की ओर चलीं।

रास्ते में गंगा ने विकृत कलेवर वसुओं को देखा। इनकी दुर्दशा का कारण पूछने पर गंगा को मालूम हुआ कि एक साधारण से अपराध के लिए महर्षि वशिष्ठ की शापाग्नि से वे विदग्ध हो रहे थे। उन्होंने कहा, "एक दिन शाम को महर्षि वशिष्ठ प्रच्छन्न वेश धारण किये बैठे हुए थे। हमें इसका कुछ ज्ञान था ही नहीं, हम लोग उनका यथोचित सम्मान बिना किये ही उधर से निकल गये। इस पर महर्षि को क्रोध आ गया। उन्होंने शाप दिया, कि मनुष्य योनि में जन्म लो। उनका शाप व्यर्थ न होगा। माता, हम लोगों की प्रार्थना है, कि आप भी हमारे उद्धार के लिए नारी-शरीर धारण करें। हम लोग साधारण स्त्री के गर्भ से पैदा होने में संकुचित हो रहे हैं।" वसुओं की प्रार्थना पर गंगा ने स्वीकृति दे दी। वसुओं ने कहा, "हे देवी, हमारे पिता हों, ऐसी योजना मृत्युलोक में प्रतीप राजा के पुत्र शान्तनु में ही होगी और आपसे एक प्रार्थना और है, जब हम आपके गर्भ से भूमिष्ठ हों, तब उसी समय आप हमें अपने प्रवाह-वक्ष में छोड़ दिया कीजियेगा। इससे हमारी जन्मज्वाला मृत्यु के साथ ही शान्त हो जायगी।" गंगा ने उनकी इस प्रार्थना को भी स्वीकार कर लिया। कुछ देर सोचकर कहा, "लेकिन एक बात है, मेरा सहवास कभी निष्फल न होना चाहिए। पुत्र की इच्छा राजा की व्यर्थ न होगी।" इस पर वसुओं ने कहा, "माता, हम लोग अपने-अपने वीर्य का अष्टमांश देंगे, जिससे राजा को पुत्र की प्राप्ति होगी, परन्तु उस पुत्र से फिर वंश न चलेगा। आपके उस पुत्र की कीर्ति अमर होगी।" यह कहकर निश्चिन्त हो आठों वसु अपने-अपने स्थान की ओर चल दिये। गंगा भी वहाँ से चली आयीं।

समय के आने पर महाराज प्रतीप सुविशाल पृथ्वी के अधीश्वर हुए। एकाएक उनके हृदय में तपस्या की इच्छा बलवती हो गयी। बस, राज्य छोड़कर, भागीरथी के मनोहर तट पर वे पद्मासनस्थ हो तपस्या करने लगे। महाराज प्रतीप बड़े ही रूपवान थे। उन्हें देखकर गंगा का चित्त विचलित हो गया। हृदय में प्रेम की अजेय वासना प्रबल हो उठी। वे मनोभिरामा षोड्शी मूर्ति धारण कर जल से बाहर निकलकर राजा के पास आयीं और उनकी ध्यानस्थ-अवस्था में ही उनकी दाहिनी जाँघ पर बैठ गयीं। महाराज प्रतीप ने ध्यानमग्न मुँदी हुई आँखें खोलकर देखा, तो अपार सौन्दर्य-भावना की मूर्ति, लावण्य की अलौकिक छटावाली एक स्त्री को अपनी जाँघ पर बैठी हुई देखा। राजा को बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने पूछा, "क्यों सुन्दरी, तुम यहाँ क्यों आयी हो?" उत्तर मिला, "महाराज, मैं और किसी वस्तु की प्रार्थना नहीं करती, केवल मेरी यौवन विह्वलता शान्त कीजिए। मैं आपके प्रेम की ही प्रार्थना करती हूँ। आशा है, आप मुझे निराश न करेंगे।" प्रतीप ने कहा, "अब तुम्हारी आशा मैं पूरी न कर सकूँगा। इससे शास्त्रों की मर्यादा नष्ट होगी। तुमने पहले ही से शास्त्र-विरोधी कार्य किया है। अगर तुम्हें

सफल मनोरथ होना था, तो प्रेमिकाओं के उचित आसन, बायीं जाँघ पर बैठना था। दाहिनी जाँघ तो केवल पुत्रियों और पुत्र-वधुओं के बैठने का स्थान है। परन्तु चूँकि तुमने दाहिनी जाँघ को अपना आसन बनाया है, इसलिए तुम मेरी पुत्र-वधू हुई। मैं स्वीकार करता हूँ कि मेरी आज्ञा से मेरा पुत्र तुम्हें अपनी सहधर्मिणी बनायेगा।" महाराज प्रतीप की धर्मानुकूल हृदय-ग्राहिणी सत्योक्ति सुनकर गंगा बोलीं, "महाराज, आपकी आज्ञा शिरोधार्य है। आप ससागरा धरित्री के एकछत्र सम्राट् हैं। आपके अनुशासन के अनुकूल चलना मुझे स्वीकार है। परन्तु साथ ही एक अर्ज मैं आपसे करूँगी। वह यह कि आपके पुत्र को मेरी अभिलाषा के प्रतिकूल कोई कार्य न करना होगा। मेरा और उनका प्रेम-सम्बन्ध तभी तक दृढ़ रहेगा और यों तो मुझे परम आनन्द है कि मैं भरत कुल की कामिनी हो सकूँगी, यों भी आपको विश्वास रहे, मैं कोई साधारण स्त्री नहीं हूँ। मेरे साथ परिणय-सम्बन्ध दृढ़ करके आपके पुत्र संसार में अमर कीर्ति के अधीश्वर हो सकेंगे। आपका कुल भी पवित्र हो जायगा। अगर आपके पुत्र ने कभी मेरे प्रतिकूल कोई आचरण किया तो मैं उन्हें छोड़कर चल दूँगी।" यह कहकर गंगा वहाँ से चली गयीं।

पुत्र-प्राप्ति की आशा से महाराज प्रतीप सस्त्रीक कठोर तपस्या करने लगे। विधाता की इच्छा से महाराज प्रतीप एक परम रूपवान तेजस्वी पुत्र के पिता हुए। यह पुत्र वही महाभिष हैं, जिन्हें ब्रह्मा की सभा में नर-कलेवर धारण करने का शाप मिला था। राजा के शीतल मुहूर्त में पुत्र हुआ, इसलिए उसका नाम शान्तनु रक्खा गया।

शान्तनु के पूर्व-जन्मार्जित संस्कार बड़े ही बली और दृढ़ थे, इसीलिए शैशव काल से ही उनका रुख अक्षय स्वर्ग की ओर रहता था। जब समय पाकर शान्तनु तरुण हुए, यौवन की प्रभा अंग-अंग में श्वेत सरसिज की तरह चित्ताकर्षक होने लगी, हरएक के हृदय में कुछ देर तक उन्हें देखने की लालसा जगने लगी, तब गंगा की पिछली बातों का स्मरण करके एक दिन एकान्त में प्रतीप ने उनसे कहा, "बेटा, बहुत दिनों की बात है, एक दिव्य देवांगना पुत्रार्थिनी होकर मेरे पास आयी थी। अगर वह सरोज-सुकुमारी कभी पुत्रार्थिनी होकर तुम्हारे पास आवे तो हरगिज उसका परिहार न करना। उसे अपनी सहधर्मिणी स्वीकार करके अवश्य घर ले आना। इससे तुम्हारा कल्याण होगा और देवता भी तुम्हारे यश की दुन्दुभी बजायेंगे, संसार में तुम्हारी कीर्ति अमर होगी। परन्तु तुम्हें उसके मनोविनोद के अनुकूल चलना होगा, जिस दिन तुम उसकी प्रतिकूलता करोगे, उसी दिन वह तुम्हें छोड़कर चली जायेगी।" शान्त स्वभाव शान्तनु ने पिता की आज्ञा को अमिट वेदवाक्य की तरह मान लिया। रह-रहकर बहुत दूर की—न जाने कैसी मधुर स्मृति उनके मस्तिष्क में जगने लगी। एक अभाव-सा थोड़ी देर के लिए चित्त को न जाने कैसा कर जाने लगा। परन्तु वह क्षणिक रेखा नवजीवन के कर्म-प्रवाह पर कोई साफ निशान नहीं लगा सकी। इधर धीरे-धीरे शान्तनु के हाथों में तमाम राज्य का भार आ गया। उनके वृद्ध माता-पिता ने अभिषेक द्वारा उन्हें सिंहास-

नाधिरूढ़ करके तपश्चर्या के लिए वानप्रस्थ आश्रम धारण कर जंगल को प्रस्थान किया।

शान्तनु असाधारण मेधावी थे। उनके शासन समय में प्रजा को किसी प्रकार का कष्ट नहीं हुआ। उनके अदम्य उत्साह से राजकीय शासन की शृंखला ही कुछ और हो गयी। कुल कार्य नियत समय पर होने लगे। भारत के एकछत्र सम्राट् प्रजा की सुख-समृद्धि के लिए नित्य ही नये कानून की सृष्टि करने लगे। प्रजा को उनकी अवस्था के अनुसार चलने में कोई कष्ट न होता था। राजस्व के रूप से जो कुछ वे प्रजा वर्ग से वसूल करते थे, वह प्रजा के ही हितार्थ ही खर्च होता था। कहीं किसी प्रकार की अव्यवस्था नहीं हो पाती थी। न कहीं अत्याचार था, न अनाचार, न कहीं चोरी का डर था, न कहीं डाका पड़ता था। किसानों को राज्य से सब तरह की सहायता मिलती थी। महाजनों से सताये जाने की उन्हें कोई शंका न थी। विचारालयों में दूध-दूध पानी-पानी अलग कर दिया जाता था। कहीं पक्षपात का नाम भी न था। सब लोग सुख की नींद सोते थे। पुलिस और सैनिक प्रजा को सम्मान की दृष्टि से देखते थे। शान्ति स्थापना में अगर राजकर्मचारियों की ओर से कोई त्रुटि होती थी तो महाराज शान्तनु उनकी पूरी खबर लेते थे। न ब्राह्मणों के वेद-पाठ में विघ्न होता था, न समर-शूर-क्षत्रियों की अस्त्र चालना में, न वैश्यों के विदेशी तथा अपर देशी व्यवसाय में, न किसानों के कृषि कार्य में। ब्रह्मचर्य, सत्यनिष्ठा, धर्माचरण, सत्साहित्य-चर्चा जहाँ देखिए वहीं देख पड़ते थे। इस तरह सूर्य के प्रताप से भी महाराज शान्तनु का प्रताप प्रचण्ड हो उठा, चन्द्र की किरणों से भी उनका स्वभाव मधुर हो गया। समस्त भू-मण्डल में महाराज शान्तनु की कीर्ति-ध्वजा फहराने लगी।

राज्य-शासन के साथ ही शान्तनु की मृगया रुचि भी बढ़ती गयी। जहाँ कहीं उन्हें विकट जंगल का पता चलता,—शेर, बराह और हिरनों के झुण्डों का संवाद मिलता, वहीं वे सशस्त्र शिकार के लिए दाखिल हो जाते। मृगया द्वारा मनोरंजन-प्रिय महाराज शान्तनु एक दिन अचानक भागीरथी के मनोहर तट पर जा पहुँचे। एक दिन शिकार खेलकर अपने तम्बू में लौट रहे थे कि स्वच्छ सलिला भागीरथी के तट पर स्वर्गीय सौन्दर्य पर इतराती हुई, नवयौवना, परम रूपवती एक सुकुमारी षोडशी को देख चकित हो गये। स्त्री क्या थी चाँदनी की मूर्ति थी। अंग-अंग से लावण्य की सुकुमार धारा बह रही थी। उसकी वे आँखें थीं या सूर्य-बिम्ब पर दो विकसित रश्मियाँ क्रीड़ा कर रहीं थीं। मुख-मण्डल शान्त सरोवर की तरह उदार हो रहा था, कपोल युगल शीशे की तरह साफ नजर आते थे और उनके उस सुन्दर मुख पर निष्पाप आभा की झलक, झलक रही थी। आभूषणों के बिना भी सुन्दर रूप में तीनों लोक की दृष्टि आकर्षित करने की शक्ति थी। कलिकाओं से व्याकुल लहलही लता-सी उसकी देह मानो यौवन के अपार भार से दब रही थी। चम्पा के दलों-सी कनक-कान्ति छीननेवाली उसकी अँगुलियाँ, लचीली डालियों-सी बाँहें, पीनोन्मत्त उरोज, उस नितम्बिनी की शोभा और भी बढ़ा

रहे थे। सबसे अधिक मोहक उसके खुले वायु में तरंगें भरते हुए आजानुलम्बित काले-काले घुँघराले बाल थे। श्वेताम्बरा-षोडशी की मनोमोहिनी मूर्ति पर महाराज शान्तनु मुग्ध हो गये। उन नयनों में शयन करने के लिए जी व्याकुल हो गया। क्षण-क्षण में शरीर रोमांचित होने लगा। उस प्रफुल्ल पद्म पर बैठने के लिए महाराज का मन भौंरे की तरह विकल होकर गुंजार करने लगा—कितनी ही कल्पनाएँ उसने कर डालीं।

उधर उस निराभरणा सुन्दरी सुकुमारी की दशा भी और ही हो गयी। महाराज शान्तनु जैसा वृषस्कन्ध, योद्धा, सुदर्शन-वीर उसने कभी न देखा था। वह एक दृष्टि से इन्हें देखने लगी। दृष्टि थक गयी, पर मन का लालच न थका। दिल हाथ से छूट गया। चार आँखें एक हुईं और मन को मौका मिला। उसने मौन-प्रार्थना सुना दी। दोनों को एक-दूसरे के दिल में जगह मिल गयी। दोनों की कण्ठ तक पहुँचती हुई तृष्णा पर दो बूंद और कण चू पड़े। प्यास और बढ़ गयी। मन्त्र सिद्ध हो गया, परन्तु उसके प्रयोग के लिए जी तड़पने लगा। महाराज शान्तनु ने वीर क्षत्रिय की तरह अपने धर्म का पालन किया। स्वयं ही उस सुन्दरी के पास उसके प्रणय-प्रार्थी बनकर गये। कहा, "हे कृशोदरी, तुम कौन हो? देवी, दानवी, गान्धर्व-कन्या, यक्षकुमारी, कौन हो? तुम्हारे परिचय के लिए हृदय में बड़ी तीव्र लालसा है। मैं चाहता हूँ कि यह मधुर यौवन काल तुम्हारे सहवास द्वारा सुखपूर्वक व्यतीत हो—तुम्हारे पाणि-ग्रहण की मुझे प्रबल अभिलाषा है।"

महाराज शान्तनु के स्वर में किसी प्रकार की कृत्रिमता न थी। वह हृदय का सच्चा और निश्छल उद्गार था। वे सचमुच ही गंगा के सौन्दर्य पर अपना सर्वस्व वार कर चुके थे। अपने मधुर-यौवन का लोभ भी उन्हें न था, उसे भी वे गंगा की नजर कर चुके थे। उनकी दृष्टि में प्रकृत-सौन्दर्य की जगह गंगा की मनोमोहिनी मूर्ति आ बिराजी थी, हृदय में अन्तरात्मा के आसन पर स्वच्छ सरोवर में चन्द्र-बिम्ब की तरह, गंगा का चित्र पड़ रहा था। नवयुवक शान्तनु ने अपनी नवीन आकांक्षा को रोका नहीं, किन्तु उसके साथ स्वयं भी बहते गये और पिता की आज्ञा का स्मरण करके, इसे वे अपना सौभाग्य समझ रहे थे।

गंगा ने शान्तनु की ओर परीक्षक की-सी दृष्टि से एक बार देखा। नारी-हृदय वासना से मुक्त न था। महाराज शान्तनु में जिस तरह वैसे ही गंगा के हृदय में भी प्रणय-कीट प्रवेश-पथ समाप्त कर चुका था। खलबली वहाँ भी मची हुई थी। परन्तु अपने प्रेमपात्र के भाव की परीक्षा के लिए कुछ देर तक गंगा ने उसकी प्रार्थना पर मंजूरी नहीं दी। एक बात और भी है। शान्तनु गंगा को देखकर जितने मुग्ध हो गये थे, उतना मोह गंगा को नहीं हुआ, यद्यपि गंगा की अन्तरात्मा भी शान्तनु से मिलने के लिए अत्यन्त व्याकुल हो रही थी। यह शक्ति गंगा में देवत्व की थी और शान्तनु की वह दुर्बलता, जिसके कारण एकाएक सर्वस्व तक का समर्पण करके वे महाराज से एक मनुष्य की श्रेणी में अपने को समझने लगे थे, मानवीय थी। इसीलिए इस प्रेम के परिणाम में विजय गंगा की ही रही, क्योंकि शान्तनु को गंगा की

शर्त मानकर चलना पड़ा। वह शर्त थी—

वसुओं के शाप को स्मरण करके गंगा ने कहा, "महाराज, आपकी इच्छा के अनुसार मैं आपकी सहधर्मिणी होना स्वीकार करती हूँ। मुझे विश्वास है, मेरे साथ रहकर आपको आमोद-प्रमोद में हर तरह की सुविधा होगी। आपके मनोरंजन के लिए मैं सदा ही उत्सुक रहा करूँगी। परन्तु मेरी एक बात अभी से सुन लीजिए। मेरी स्वतन्त्रता पर आपको किसी तरह की रुकावट डालने का अधिकार न रहेगा, न आप मुझे किसी अप्रिय सम्बोधन से बुला सकेंगे। आप अभी से सोचकर निश्चय कर लीजिए। अगर इस शर्त पर आप दृढ़ रहेंगे, तो मेरा और आपका सम्बन्ध अमिट है, और अगर आपसे इस शर्त का पालन न हो सका, जिस दिन आपकी ओर से उदासीनता या किसी तरह की उपेक्षा का भाव पैदा होगा, उसी दिन मैं आपको छोड़कर अपने अभीप्सित स्थान को चली जाऊँगी।"

प्रेम के भूखे शान्तनु को शर्त की दृढ़ता पर उस समय विचार का समय नहीं मिला। वे प्रेमान्ध हो रहे थे। स्नेह-लालसा इतनी प्रबल थी कि स्त्री की शर्त को ठुकराकर वे वहाँ से चले नहीं आ सके। उस समय शर्त की कठोरता, पुरुष पर स्त्री का प्रभाव, इनमें किसी विषय पर भी विचार करने की शक्ति भी उनके अन्दर नहीं रह गयी थी। सिर झुका गंगा की शर्त को उन्होंने मंजूर कर लिया। देवत्व के सामने मनुष्यत्व का मस्तक नत हो गया, लालसा संयम के सम्मुख परास्त हो गयी, पुरुष स्त्री का गुलाम बन गया।

शान्तनु को रूप का लोभ दिखा गंगा ने प्रेम के फन्दे में खूब कसकर बाँधना शुरू कर दिया। जब महाराज शान्तनु प्रतिज्ञा-बद्ध हो चुके, तब गंगा को अपनी लालसा-सिद्धि की सूझी, साथ ही हृदय की दबी हुई वासना ज्वालामुखी के भीषण विस्फोट की तरह नारी-सौन्दर्य की हरएक झलक में, हरएक हाव-भाव में, हर-एक अंग से शतमुखी होकर फूट निकली। महाराज शान्तनु उस अनुपम सुन्दरी पर मुग्ध थे ही, उसे पाकर उन्हें स्वर्ग-प्राप्ति से भी बढ़कर सुखानुभव होने लगा। महाराज गंगा को अपने महल में ले आये। कितने वर्ष, कितनी ही ऋतुएँ, दोनों की नयी-नयी केलि-क्रीड़ाओं में पार हो गयीं। दीर्घ समय स्वप्न की तरह क्षण-भर में व्यतीत हो गया।

इसी समय जब दोनों केलि-प्रांगण में सुखपूर्वक विहार कर रहे थे, क्रम-क्रम से गंगा के सात पुत्र हुए। परन्तु पुत्रों के जन्म लेने के साथ ही गंगा उन्हें अपने प्रवाह-गर्भ में ले जाकर डाल देती थीं। जब कोई पुत्र पैदा होता, तब अपनी अभिलाषा सिद्धि के पहले गंगा शान्तनु को यह कहकर शान्त करती थीं, कि मैं तुम्हें प्रसन्न करूँगी। परन्तु प्रसन्नता तो भाड़ में गयी, महाराज शान्तनु को पुत्रों की हत्या पर क्रमशः दुःसह दुःख होने लगा। अन्त तक जी की जलन इतनी बढ़ गयी कि कभी-कभी वे प्रतिज्ञा-भंग के लिए भी मन को दृढ़ करने लगे। उधर गंगा के प्रेम का पाश भी कम मजबूत न था। उसे तोड़ना महाराज के लिए कदाचित् पुत्र शोक से अधिक दुःखप्रद हो रहा था। इसलिए दो-चार वार हिम्मत करके भी मन मसोसकर रह

गये ।

अब की आठवें बार गंगा के गर्भ से जो अन्तिम पुत्र हुआ, उसे देखकर गंगा मुस्कुराने लगीं । पुत्रों की हत्या से महाराज को बड़ा दु:ख था । इस पुत्र को देखकर उन्हें बड़ी दया आयी । साथ ही, गंगा की पुत्रघातिनी मूर्ति का स्मरण हो गया । रोंगटे खड़े हो गये । उस दिन स्त्री के लिए महाराज के हृदय का संचित अपार प्रेम पुत्र-स्नेह के निकट परास्त हो गया । यह पुत्र सुन्दर भी बड़ा था । सुकुमार आँखों से उसे अपनी ओर देखते हुए देखकर बिना बोले शान्तनु से न रहा गया । उसके जीवन के लिए, अजानी राह से होकर न जाने वह कैसा एक प्रबल स्नेह था, आया और उनके सम्पूर्ण अन्तरात्मा पर अधिकार जमा लिया । पुत्र को बचाने की बड़ी इच्छा हुई । पत्नी के प्रति विजातीय भाव-सा पैदा हो गया । गंगा से उन्होंने कहा, "देखो, इस पुत्र पर अपने अधिकार का दावा न करो । पुत्रों की हत्या देखते-देखते मेरा कलेजा टुकड़े-टुकड़े हो गया है । अब आँखों में पट्टी बाँधकर तुम्हारी स्वेच्छाचारिता मैं नहीं देख सकता । जिस पाप के जोड़ का कोई दूसरा पाप शास्त्रों में नहीं है, तुमने पुत्र-हत्या सरीखा वह महापाप तक भी कर डाला । अब बस करो ।"

इस बच्चे को भी दूसरों की राह लगाने की गंगा की इच्छा न थी । इसके जीवन की सूचना पहले ही उनके पुत्रों की फिहरिस्त में दर्ज हो चुकी थी । वे शान्तनु के निषेध वाक्यों की ही बाट जोह रही थीं । शान्तनु की आज्ञा के पूर्ण विराम पर गंगा ने कहा, "महाराज, तुम्हें पुत्र की अभिलाषा है । अच्छा, यह लो, तुम्हारा पुत्र तुम्हारे पास, मैं जाती हूँ । आज से तुम्हारे साथ मेरे सहवास का अन्त हुआ । परन्तु सुनो, जिन पुत्रों की हत्या पर तुम्हें खून के आँसू बहाने पड़े, उन्हें तुम साधारण मनुष्य मत समझो, वे महातेजस्वी वसु हैं । शापग्रस्त होकर संसार में आये थे और मैं, महाराज, ऋषि-मुनि भी मेरी पूजा करते हैं---मैं गंगा हूँ । अब मैं चली, मेरे इस पुत्र को गंगादत्त कहकर पुकारना !"

गंगा चली गयीं । इधर शान्तनु को नश्वर-संसार से वैराग्य हो गया । जिस अनुपमा सुन्दरी को अपनी आत्मा से भी वे अधिक प्यार करते थे, जिसके लिए दु:सह पुत्र-शोक को भी कलेजा थामकर सह लिया, आँखों का सुरमा, स्वरूप का दर्पण, लालसा की हरी-भरी वासन्ती-वल्लरी और प्रेम की प्रत्यक्ष मूर्ति समझते थे, उसे न देखकर चिरकाल की अर्जित तपस्या-वृत्ति स्वभावत: उन्हें अपनी ओर झुका ले गयी । महाराज शान्तनु राज्य का सम्पूर्ण भार मन्त्रियों के सुपुर्द करके तपस्या के लिए अरण्यवासी हो गये । गंगा के मनोहर तट पर तपस्या में दीर्घकाल व्यतीत हो गया, परन्तु राज्य में लौटने की उन्हें सुध भी न रही ।

एकाएक विरक्त हुए महाराज शान्तनु के चले जाने पर राज-कर्मचारियों को बड़ी असुविधा हुई । परन्तु बालक गंगादत्त को देखकर राजधानी के लोग बहुत कुछ सब्र कर लेने लगे । पण्डितों ने गंगादत्त का नाम देवव्रत रखा । हस्तिनापुर के लोग बालक को देवव्रत के नाम से ही पुकारते थे। देवव्रत बचपन से ही बड़े होनहार

थे। उनके दमकते हुए मुखमण्डल पर बचपन से ही आत्म-गौरव की रेखा झलक जाया करती थी। भरा हुआ मुख प्रसन्नता का आईना हो रहा था। जो कोई उसे देखता, उसी के अन्दर से प्रसन्नता फूट पड़ती थी। सब लोग बच्चे को बड़ा होनहार कहते थे। सब लोग उसकी तेजो-गर्व-मण्डित प्रसन्न दीप्ति पर मुग्ध थे।

महाराज शान्तनु के चले जाने पर बच्चे का भार गंगा ने लिया। हस्तिनापुर से देवव्रत को अपने साथ ले गयीं। उसकी शिक्षा का विचार करके महर्षि वशिष्ठ के आश्रम में अध्ययन के लिए बच्चे को छोड़ आना उन्होंने दूसरी जगहों से उत्तम समझा। बालक देवव्रत माता के साथ प्रसन्नतापूर्वक वशिष्ठ के आश्रम में चले गये। बालक होनहार था ही, महर्षि वशिष्ठ भी त्रिकालज्ञ थे। बच्चे को देखते ही उन्होंने उसकी भविष्य-कीर्ति का ज्ञान-नेत्रों से अध्ययन कर लिया और बड़े आग्रह से उसे पढ़ाने के लिए तैयार हो गये। इस तरह बालक देवव्रत को वशिष्ठ के संरक्षण में छोड़कर गंगा अपने स्थान को चली गयीं। इधर यथाविधि देवव्रत की शिक्षा-दीक्षा होने लगी। पूर्वजन्मार्जित संस्कारों के कारण अल्पकाल में ही देवव्रत शास्त्रों में पारंगत हो गये। महर्षि को सर्व-शास्त्र-पारदर्शी बालक देवव्रत का उज्ज्वल भविष्य मालूम था ही, उन्होंने उसे दिल खोलकर पढ़ाया, अपनी संचित अगाध विद्या का सम्पूर्ण दान कर दिया। जब किसी विषय की कोई त्रुटि न रह गयी, तब शुभाशीर्वाद देकर महर्षि ने अपने परम-शिष्य बालक देवव्रत को विदा किया। गंगा ने बड़े स्नेह से बच्चे का कपोल-चुम्बन किया और क्षात्र वीर-मण्डल-विजयी धनुर्वेदवारिधि परशुराम की सेवा में पहुँचकर क्षत्रियोचित धनुर्विद्या प्राप्त करने का उपदेश दिया। देवव्रत भगवान् परशुराम के आश्रम में गये। बड़ी श्रद्धा से दण्डवत् प्रणाम किया। परशुराम ने आने का कारण पूछा। समर-शिक्षा का अभिप्राय जान बालक के जोशीले चेहरे की ओर आँख उठाकर देखा। वैसा सुसंगठित होनहार बालक उनसे शिक्षा ग्रहण करने के लिए तब तक न आया था। परशुराम के रोम-रोम से आनन्द की धारा बह चली। हृदय में अगाध स्नेह उमड़ आया। बड़े प्यार से देवव्रत को वे अस्त्र-शिक्षा देने लगे। निशाने पर अचूक वार करना, दोनों हाथों से बराबर तीर चलाना, विपक्षी के वारों से बचना, चलते-फिरते निशाने पर तीर बेधना, व्यूह-रचना, सैन्य समावेश सब प्रकार के अस्त्रों का प्रयोग, और भी अनेक तरह की सामरिक शिक्षाएँ देवव्रत को दी गयीं। अपने समय के सर्वश्रेष्ठ वीर पुरुष ने शिक्षा ग्रहण में आचार्य को पूर्णतया सन्तुष्ट कर दिया। जब शिक्षा पूरी हो गयी, तब आचार्य, भगवान् परशुराम ने देवव्रत को हृदय के अन्तस्तल से आशीर्वाद दे सहर्ष विदा किया। शिष्य की योग्यता पर परशुराम को परम सन्तोष था। उन्होंने अपने शिष्य को अभय करते हुए कहा, जाओ, तुमसे समर में जीतनेवाला संसार में कोई न होगा।

एक दिन की बात है कि देवव्रत मृगया के लिए निकले। बड़ी देर तक तलाश करते-करते दूर निकल गये। उन्हें कुछ दूर पर एक मृग दिखायी पड़ा। धनुष पर चढ़ाकर मृग का लक्ष्य करके देवव्रत ने वाण छोड़ दिया। वाण-विद्ध हो जाने

पर मृग भागा, देवव्रत ने पीछे से उसे खदेड़ दिया। इस तरह उसके पीछे दौड़ते-दौड़ते देवव्रत गंगा के तट पर आ पहुँचे। यहाँ उन्होंने इतने तीर चलाये कि चारों ओर का आकाशमण्डल तीरों से छा गया। गंगा का पानी, वाणों से जान पड़ने लगा कि अब सूखना ही चाहता है।

महाराज शान्तनु वहीं तपस्या कर रहे थे। गंगा की यह दशा देखकर उन्हें बड़ी चिन्ता हुई। वे इसका कारण विचारने लगे। थोड़ी ही देर में उन्होंने देखा कि एक परम सुन्दर राजकुमार दिव्य शस्त्रों से सुसज्जित यम-दण्ड के समान कठिन कोदण्ड लिये हुए गंगा के तट पर खड़ा है। उस तरुण युवक की दृढ़ प्रतिज्ञा, अचल चितवन और साहसी विशाल उन्नत वक्ष:स्थल देखकर महाराज शान्तनु चकित हो गये। परन्तु पहचान नहीं सके। देवव्रत को बिलकुल बचपन में उन्होंने छोड़ा था। लेकिन देवव्रत पिता को फौरन पहचान गये। उन्हें शंका हुई कि पिता को कहीं मालूम न हो जाय। संकोचवश वे वहाँ से अन्तर्हित हो गये।

इस होनहार युवक की छवि महाराज शान्तनु की आँखों में बस गयी थी। वे उसके परिचय के लिए उतावले हो गये। गंगा से उन्होंने अपने पुत्र को देखने की प्रार्थना की। महाराज की प्रार्थना पूरी करने के लिए गंगा देवव्रत को महाराज के पास ले आयीं और कहा, "राजन्, यह वही आठवाँ बालक है, जिसके लिए आपने प्रार्थना की थी। इन्हें आप कम न समझिए, ये महापुरुष हैं। महर्षि वशिष्ठ के पास रहकर सर्वशास्त्रों में इनका प्रवेश हो चुका है और भगवान् परशुराम के निकट अस्त्र-संचालन की ये पूर्ण शिक्षा प्राप्त कर चुके हैं। समर-क्षेत्र में इनका मुकाबला करने लायक इस समय संसार में कोई वीर नहीं है, न इनके रहते समय तक होगा। ये इन्द्र से अधिक शक्तिमान हैं। शास्त्रों में भी इनका अथाह ज्ञान है। असुर-गुरु शुक्राचार्य ने जिन-जिन शास्त्रों का अध्ययन किया है, देवगुरु बृहस्पति को जिन-जिन विषयों की पारदर्शिता प्राप्त है, ये उन सब शास्त्रों का अध्ययन कर चुके हैं। धर्म, नीति, राजनीति, समरनीति और अर्थनीति इन चारों में इन्हें आप अद्वितीय समझिये। अब अपने सर्वगुणाधार पुत्र को लेकर आप आनन्दपूर्वक अपनी राजधानी लौटें।"

महाराज ने ऐसा ही किया। वे सर्व-गुण समन्वित प्रिय पुत्र को लेकर अपने राज्य को लौट आये।

द्वितीय परिच्छेद

भीष्म की भीषण भीष्म-प्रतिज्ञा

महाराजको राजधानी में आये हुए देखकर प्रजाजनों के मुरझाये हुए हृदय प्रसन्नता से प्रस्फुरित हो गये, जैसे वासन्ती-सरोवर के नव विकसित कमल फूल। मन्त्रियों को राजा के फिर से राज्य-भार ग्रहण करने की लालसा से अपार हर्ष हुआ, जैसे एक असह्य बोझ सिर से उतर रहा हो। महाराज और महाराजकुमार देवव्रत, एकाएक राजधानी में पहुँचे थे, इसलिए उनके स्वागत का पहले से कोई प्रबन्ध नहीं हो सका था। नगरवासियों और मन्त्रियों ने एक शुभ-दिन राजपुरोहित से पूछकर, महाराज और महाराजकुमार के शुभागमन पर उत्सव मनाना निश्चित किया।

क्रमश: वह निश्चित दिन भी नजदीक हो आया। राजधानी में नयी शान से सजावट होने लगी। मकान लीप-पोतकर झक कर दिये गये, जगह-जगह आम के पत्ते रस्सियों में बाँधकर हर मकान के चारों ओर से वह वन्दनवार घेर दिया गया। राजद्वार से जल भरे कलश, ऊपर से आम के पल्लव और कच्चे नारियल सिन्दूर-विन्दु से लगाकर रख दिये गये। भाँति-भाँति के बाजे, तरह-तरह के राग-रागिनियाँ सुनकर प्रजाजन, राजकर्मचारी और राजा के छोटे-बड़े सरदार प्रफुल्लचित्त हो हस्तिनापुर की गलियों और सड़कों पर टहलने लगे। कहीं अखाड़े में पहलवानों की कुश्ती हो रही थी, तो कहीं मंच पर कुशल अभिनेतागण अपने-अपने कला-कौशल दिखा रहे थे। कहीं दस-पाँच भँगेड़ी भंग घोंटते हुए विजयाविषयक तरह-तरह के पद्य कह रहे थे और विजया के निन्दकों की एक साँस में लम्बी-चौड़ी प्रशंसा सुना रहे थे।

नाच-रंग, आदर-सत्कार समाप्त हो गया। महाराज ने पुन: राज्य-भार ग्रहण किया। मन्त्रियों को फुरसत मिली। कुमार देवव्रत भी पिता को काफी मदद देते थे। देवव्रत के रूप, अमित विक्रम, असीम साहस, अपार मेधा और दृढ़ चरित्र-बल की हर जगह प्रशंसा हुआ करती थी। रास्ता चलते समय देवव्रत किसी ओर आँख नहीं उठाते, वार्तालाप करते समय अहंकार का एक भी लक्षण नहीं मिलता, सबको वे समान दृष्टि से देखते हैं, युद्ध में बेजोड़ होने पर भी वे अपने वीर महारथियों को सम्मान की दृष्टि से देखते हैं, दीन और असहाय प्रजा की हर तरह से सहायता करने के लिए तैयार रहते हैं, आदि अनेक बातों की चर्चा हुआ करती थी। क्रमश: राज्यवासी देवव्रत के आगे शान्तनु को भूल से गये। सबके चित्त पर समान भाव से कुमार ने अपना अधिकार जमा लिया।

इस तरह पूरे चार वर्ष व्यतीत हो गये। महाराज ने स्थिर चित्त से लगातार चार वर्षों तक राज्य का प्रबन्ध किया, विश्राम बहुत थोड़ा ही किया था। देवव्रत

को राज्य-कार्य में दक्ष देखकर उन्हें पुत्र की योग्यता पर पूर्ण विश्वास हो गया। इधर कुछ दिनों से वे कुछ शिथिलता भी दिखलाने लगे थे। सारा काम देवव्रत को करना पड़ता था।

एक दिन महाराज के मन में मृगया की इच्छा पैदा हुई। शिकार खेलने के इरादे से वे यमुना के किनारे चले गये। एक दिन वे जंगल में प्रकृति की शोभा देखते हुए इधर-उधर विचरण कर रहे थे कि एकाएक उनका हृदय मस्त हो गया। सैकड़ों फूलों की सुगन्ध एकसाथ मिलकर आने लगी। महाराज को बड़ा आश्चर्य हुआ। वे इसका कारण कुछ समझ न सके। कहाँ से वह सुगन्ध आ रही थी, इसका पता लगाने के लिए चित्त चंचल हो गया। बड़ी देर तक वे उसकी तलाश में फिरते रहे। जब यमुना के बिल्कुल तट पर जा पहुँचे, तो एक परम सुन्दरी स्त्री को सामने खड़ी हुई देख वे मुग्ध हो गये। देखते ही हाल-बेहाल हो गया। उसकी सूरत से महाराज को मालूम तो हो गया कि वह किसकी लड़की है, परन्तु निश्चय कर लेने के विचार से पूछा कि वह किसकी लड़की है। महाराज की भड़कीली पोशाक देखकर वह युवती समझ गयी कि ये कोई साधारण मनुष्य नहीं हैं। उसने बड़े ही नम्र-शब्दों में उत्तर दिया। कहा, "महाशय, मैं मल्लाह की लड़की हूँ। पिता की आज्ञा से खेवा पार किया करती हूँ।" उसकी सरल बातें शान्तनु के कलेजे में चोट कर गयीं। उसे पाने के लिए, उसके साथ विवाह तक करने के लिए शान्तनु तैयार हो गये। वे उसके पिता के पास इस प्रस्ताव को लेकर गये।

धीवराधिप ने धीरतापूर्वक शान्तनु की कुल बातें सुनीं। आकांक्षा के वशीभूत होकर वे विवाह के लिए तैयार हो रहे हैं, इसके समझने में उसे देर न लगी। उसने कहा, "महाराज, सुनिए—मैं आपसे विनयपूर्वक कुछ कहना चाहता हूँ। यह तो सर्वसम्मत है कि जिस घर में कन्या होती है, वह कहीं-न-कहीं उसका विवाह करता ही है। फिर भी माता-पिता अपनी प्यारी कन्या को जहाँ तक उसे हो सकता है योग्य वर के हाथों ही सौंपते हैं। आपकी योग्यता में भला क्या सन्देह है? मेरा तो यह परम सौभाग्य है कि आप मेरी कन्या के पाणि-ग्रहण के लिए खुद प्रस्ताव कर रहे हैं। नहीं तो भला मुझे वह साहस कहाँ था कि मैं इस विवाह के लिए स्वयं आपसे प्रस्ताव करता। यह कन्या बड़ी ही भाग्यवती है। इसके भाग्य से आज मेरी कुटिया आपके चरण-स्पर्श से पवित्र हो गयी। परन्तु, महाराज, मेरी एक विनय पहले सुन लीजिए। मुझे विवाह कर देने में कोई उज्र नहीं।

"सिर्फ एक बात है। वह यह कि मेरी कन्या के गर्भ से जो बच्चा पैदा होगा, आपके पश्चात् राज्य का अधिकारी वही होगा। इस शर्त को आप मंजूर कर लीजिए, विवाह में यह इतनी अड़चन है।"

शुरू से आखीर तक धीवर की बातें महाराज ने धैर्यपूर्वक सुन लीं। परन्तु इसका कुछ उत्तर उन्होंने नहीं दिया। देते भी कैसे? नीति का विरोध जो हो रहा था। महाराज के एक पुत्र और परम योग्य पुत्र, देवव्रत राज्यसिंहासन के उत्तराधिकारी थे ही। धीवर की बातों से महाराज के हृदय को बड़ी चोट लगी। वे कुछ

देर तक के लिए तो पहले बहुत व्याकुल हो गये थे। परन्तु नीति की मर्यादा पर अटल रहने के कारण एक बल भी उनके भीतर से पैदा हुआ, जिससे काम-ज्वाला बहुत कुछ प्रशमित हो गयी। परन्तु अनंग का रंग रह-रहकर महाराज को अपना प्रभाव जता देता था। वे उस नव-यौवना सुन्दरी की रूप-माधुरी को एक क्षण के लिए भी नहीं भूल सके। हृदय को जितना भी सँभालते थे, वह उतना ही टूटता जाता था। आखिर को वहाँ से चुपचाप महाराज हस्तिनापुर चले आये।

राजधानी में आते ही महाराज की चिन्ता उन्हें और विकल करने लगी। घटने के बजाय वह बढ़ती ही गयी। अन्त तक हाल यह हुआ कि राजपाट से उन्हें एक प्रकार की उदासीनता-सी हो गयी। कुमार देवव्रत को पहले ही से राज्य का प्रबन्ध करना पड़ता था, इसलिए बहुत दिनों तक तो लोगों को महाराज की बेकली का कुछ हाल मिला ही नहीं। मन्त्रियों को भी महाराज से मिलने की प्रायः जरूरत न होती थी। कारण देवव्रत स्वयं मन्त्रियों से सलाह वगैरह कर लिया करते थे।

महाराज की उदासीनता पर सबसे पहले देवव्रत का ध्यान गया। वे पिता की रोज सेवा किया करते थे। सेवकों की कमी न रहने पर भी पिता की सेवा करना देवव्रत अपना प्रथम कर्त्तव्य समझते थे। पहले-पहल पिता के उदास भाव पर उन्होंने विशेष कुछ नहीं विचार किया। उसे निष्कारण ही हुआ समझते थे। परन्तु जब उनका वह भाव दिन-दिन बढ़ता हुआ दिखायी दिया, तब बिना पूछे देवव्रत से न रहा गया। कई दिन तो संकोचवश पूछने का इरादा करके भी वे पूछ नहीं सके। शान्तनु की चेष्टाएँ कुछ ऐसी हो रही थीं, जिन्हें देखकर उनके सम्बन्ध में कुछ प्रश्न करते हुए देवव्रत को एक अज्ञात संकोच हो आता था। जब किसी तरह उन्होंने पिता के भाव को बदलते हुए न देखा और न उन्हें स्वयं उस सम्बन्ध में किसी से कुछ कहते हुए सुना, तब निश्चय कर लिया कि आज पिता से मानसिक पीड़ा का कारण अवश्य पूछूंगा।

उस दिन जब सेवा के लिए देवव्रत पिता के पास हाजिर हुए और उन्हें उसी तरह चिन्ताक्लिष्ट पड़े हुए देखा, तो हाथ जोड़ विनय स्वर में पूछा कि, "पिताजी, जब से आप मृगया करके लौटे हैं, तब से मैं आपको चिन्ताग्रस्त देख रहा हूँ। क्रमशः आपकी भावुकता बढ़ती जा रही है। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि आप उदासीन रहते हैं। आप न तो इसकी कोई दवा कराते हैं और न किसी दूसरे से कहते ही हैं कि आपको क्या हो गया है। पहले तो मुझे पूछने की हिम्मत ही नहीं होती थी। परन्तु आपकी अवस्था देखकर अन्त में मुझसे रहा भी न गया। बतलाइये, आपको क्या कष्ट है? मुझे आपके कष्ट से बड़ी पीड़ा होती है। आप कहिए, मैं आपके रोग-प्रशमन का कोई उपाय करूँ।"

देवव्रत की बातों में भक्ति थी, पिता के प्रति उनकी अगाध श्रद्धा प्रकट हो रही थी। शान्तनु उनके आग्रह को हटा नहीं सके। अपनी व्यथा की कहानी पुत्र के निकट प्रकट कर दी। कहा, "बेटा, तुम मेरे पुत्र हो। मेरी उदासीनता का कारण जानना चाहते हो। तुम मेरे वंश के दीपक हो। विद्या और अस्त्र-शिक्षा में तुम

बेजोड़ हो। तुम्हारे संस्कार जबरदस्त हैं। परन्तु, यह इतना सब होते हुए भी न जाने क्यों मुझे तुम्हारे लिए चिन्ता लगी रहती है। कारण, संसार में सबकुछ नश्वर है। सबसे अधिक चिन्ता का कारण तो यही है। अगर तुम्हारा किसी तरह कोई अनिष्ट हो गया, तो हमारा कुल उजड़ जायगा। तुम्हारे लिए मुझे दृढ़ विश्वास है कि तुम अकेले सौ पुत्रों के बराबर हो, बल्कि उनसे भी बढ़कर हो। इसलिए तुम्हारे रहते अब विवाह करना उचित नहीं है। परन्तु बेटा, धार्मिक सिद्धान्त कुछ और है। वंश के अनुशासन में एक पुत्रवाला निस्सन्तान कहा जाता है, तुम्हें मैं ज्यादा क्या समझाऊँ, तुम स्वयं सब शास्त्र-पारंगत हो। तुम्हारे हृदय में किसी प्रकार का कलुष भी नहीं है, तुम महारथी वीर हो। मैं आशीर्वाद देता हूँ, तुम्हारा शरीर समर-क्षेत्र को छोड़ अन्यत्र कहीं भी नष्ट न होगा, अधिक और क्या कहूँ, मुझे तुम्हारे लिए बड़ी चिन्ता रहती है। यही कारण है कि मेरा शरीर दुर्बल और मस्तिष्क क्षीण होता जा रहा है!"

देवव्रत को पिता की बातों से बड़ी चिन्ता हो गयी। पिता की खिन्नता का कारण वे स्वयं हैं, यह उन्हें और दुःखदायी हो गया। यह हाल उन्होंने अपये वयो-वृद्ध एक मन्त्री से कहा। महाराज की उदासीनता का कारण सुनकर पहले वे स्वयं महाराज से मिलने के लिए गये। उस समय देवव्रत से उन्होंने कुछ नहीं कहा। महाराज से मिलने पर उन्हें धीवर-कन्या का कुल हाल मालूम हो गया। उसके प्रति महाराज की आसक्ति भी जाहिर हो गयी। मन्त्री ने महाराज की बातें तो चुपचाप सुन लीं, परन्तु उनका कुछ उत्तर या आश्वसन उन्होंने नहीं दिया। कारण, देवव्रत को वे हृदय से प्यार करते थे। देवव्रत के गुणों पर वे इतने मुग्ध थे कि धीवर की शर्त को सुनकर उनके हृदय में आग-सी लग गयी थी। देवव्रत जैसे सुयोग्य राजपुत्र को गद्दी न मिले, इस शर्त पर महाराज का दूसरा विवाह हो, यह उन्हें किसी भी तरह वांछित न था। इसलिए, महाराज की बातों में अपनी राय बिना दिये ही वे चुपचाप वहाँ से उठकर चले आये। उनके आने पर देवव्रत उनसे फिर मिले। पिता के लिए अब क्या करना उचित होगा, इसके सम्बन्ध में उनसे विचार करने लगे। महाराज शान्तनु की मानसिक अवस्था, सत्यवती के प्रति उनका अनुराग, धीवरराज की शर्त, महाराज का देवव्रत के प्रति प्रेम, ये सब बातें मन्त्री ने देवव्रत को विस्तारपूर्वक सुनाकर कहा, अगर सत्यवती किसी तरह आ सके तो महाराज की आधिव्याधि सब तत्काल दूर हो जाय।

देवव्रत मन्त्री की बात सुनकर कुछ देर तक विचार करते रहे। मन में उन्होंने निश्चय कर लिया कि अपनी तरफ से पिता को सुखी करने में वे कोई कोर-कसर न उठा रखेंगे। मन्त्री से उन्होंने कहा, "मैं धीवरराज से मिलने के लिए जाता हूँ। पिता को सुखी करना ही मेरा धर्म है। मैं यथासाध्य इस धर्म का पालन अवश्य करूँगा।" देवव्रत का अविचल भाव देखकर मन्त्रमुग्ध की तरह मन्त्री एकटक उन्हें ताकते रह गये। उनसे कुछ कहा नहीं गया। धीर-भाव से देवव्रत ने वहाँ से चल-कर सारथि को रथ तैयार करने के लिए कहा। बात-की-बात में रथ तैयार कर

लाया गया। उनके साथ उनके सामन्त-सरदार भी हो लिये। सबको साथ ले, रथ पर सवार हो, यमुना तट की ओर चलने के लिए उन्होंने सारथि को रथ बढ़ाने को कहा।

रथ यमुना के मनोहर तट पर पहुँचा। देवव्रत रथ से उतरकर धीवरराज की कुटिया की तलाश करने लगे। पता उन्हें मन्त्री से मालूम हो चुका था। इसलिए यथास्थान पहुँचने में उन्हें देर नहीं लगी। धीवरराज ने कुमार का बड़ा स्वागत किया। बड़ी भक्ति दिखलायी। देवव्रत ने धीवर से कन्या के लिए प्रार्थना की। उसने सामन्त-राजाओं के सामने हाथ जोड़कर देवव्रत से कहा, "हे कुमार, आप महाराज शान्तनु कुल के कुलदीपक हैं। आपकी प्रशंसा राज्य के एक छोर से दूसरे छोर तक फैली हुई है। आपकी तरह यशस्वी पुत्र शायद ही कभी किसी को मिलता है। परन्तु आप स्वयं विचार कीजिए कि इस तरह का सम्बन्ध छोड़कर किसे दुख नहीं होता। मैं तो एक साधारण मनुष्य हूँ, साक्षात् इन्द्र भी ऐसा सम्बन्ध छोड़कर दुख करेंगे और सत्यवती भी किसी साधारण मनुष्य की कन्या नहीं है। उसके पिता आप ही की तरह गुणवान् हैं। उन्होंने वारम्वार मेरे पास आपके पिता की तारीफ की है और कहा है कि सत्यवती के साथ विवाह करने के एकमात्र वही अधिकारी कहे जा सकते हैं। परन्तु मैंने कन्या का पालन किया है। उस पर मेरा सम्पूर्ण अधिकार है। उसकी शुभकामना के विचार से एक बात मैं आपसे कहूँगा। आप बुद्धिमान हैं, धार्मिक हैं, मुझे इस विवाह में एक संकोच हो रहा है। वह यह कि विवाह के हो जाने पर आपके घर में कलह की आग लग जायेगी। आप वीर हैं। आपके जोड़ का योद्धा इस समय संसार में कोई नहीं है। देवता भी आपका बल-विक्रम देखकर घबराये हुए हैं। मुझे भय है कि आप बिगड़ जायेंगे तो क्षण-भर में ही आपके शत्रुओं का विनाश हो जायगा। बस इतना ही मुझे डर है। इसके अलावा इस विवाह में मुझे और कोई दोष नहीं दीख पड़ता, न मुझे कोई संशय है।"

देवव्रत के पूर्वजन्मार्जित संस्कार धीवर की बात सुनते ही जाग्रत हो उठे। पिता के प्रति अगाध भक्ति की आड़ में उनकी चिरकाल की तपस्या क्षण-भर में प्रगट हो गयी। उन्होंने राजाओं के सामने धीवर को उत्तर देते हुए कहा, "हे सत्यवादी, मेरा सत्यव्रत सुनो। मैं निश्चयपूर्वक कहता हूँ, तुम जैसा कहोगे, मैं उसी के अनुसार कार्य करूँगा। इस कन्या के गर्भ से जो बालक पैदा होगा, हम उसे ही अपना राजा बनायेंगे।" धीवर ने कहा, "कुमार, आपकी प्रतिज्ञा मैंने सुनी। यह आपकी शक्ति के लिए कोई बड़ी बात नहीं है। अस्तु, अब आप पर मुझे ज़रा भी सन्देह नहीं है और क्योंकि इतना बड़ा उत्तरदायित्व आपने अपने ऊपर ले लिया है, इसलिए अब से इस कन्या के अभिभावक भी आप ही हुए। यह सब तो ठीक है। परन्तु फिर भी मुझे एक सन्देह हो रहा है। मेरी बातों से निरा बचपन प्रकट होगा, तो भी मुझे वह बात आपसे कहनी होगी। हे कुमार, आप पर तो मेरा सन्देह नही रहा, परन्तु आपके पुत्र सत्यवती के पुत्र-कलत्रों के साथ अपने हक के लिए

लड़ सकते हैं।" धीवर का मतलब देवव्रत समझ गये। पिता की प्रीति के लिए सर्वस्व तक का त्याग करना उनके लिए ज़रा-सी बात थी। नि:संकोच भाव से उन्होंने कहा, "इससे पहले मैं साम्राज्य का त्याग कर चुका हूँ, अब मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि विवाह भी न करूँगा! चिरकाल तक ब्रह्मचारी बनकर रहूँगा।" देवव्रत की इस कठोर प्रतिज्ञा से सामन्त-मण्डल में एक प्रकार की खलबली पैदा हो गयी। देवव्रत की महत्ता सबके रोम-रोम में व्याप्त हो गयी। धीवर तो मारे प्रसन्नता के पागल-सा हो गया। इतनी बड़ी महत्ता का उदाहरण उसने कभी न देखा था। उसने कहा, "कुमार, अब मैं तुम्हारे ही पिता को कन्यादान करूँगा।"

देवताओं ने भी देवव्रत की कठोर प्रतिज्ञा सुनी। सबको परम प्रसन्नता हुई। सबके हृदय में स्वजाति अभिमान की धारा बहने लगी। इस कठोर प्रतिज्ञा के करने के कारण देवताओं ने देवव्रत को 'भीष्म' की उपाधि से सम्बोधित किया। उसी दिन से देवव्रत को लोग 'भीष्म' कहकर पुकारने लगे।

सत्यवती से भीष्म ने कहा, "माता, रथ पर सवार हूजिए। हमें अब घर चलना चाहिए।" सत्यवती को लेकर सामन्त-राजाओं के साथ भीष्म हस्तिनापुर में आये। पिता को प्रणाम किया। सामन्त-राजाओं से भीष्म की प्रतिज्ञा सुनकर महाराज शान्तनु को बड़ा हर्ष हुआ। पुत्र की कीर्ति पर उन्हें और भी श्रद्धा हो गयी। भीष्म को उन्होंने यह कहकर आशीर्वाद दिया, "महात्मन्, स्वेच्छा के बिना तुम्हारी मृत्यु न होगी।"

तृतीय परिच्छेद

प्रतिज्ञा-पालन

पुरुवंश में उपरिचर नाम के एक राजा हुए हैं। इनका एक और नाम पशु भी था। एक बार ये मृगया के लिए बाहर जंगल की ओर निकल गये थे। वहीं एक अशोक के पेड़ की सुशीतल छाया में बैठे हुए वे अपनी प्रेयसी की चिन्ता में मग्न हो रहे थे कि वसन्त की श्रीसुरभि और मधुर-मधुर हवा के झोंकों से इनकी उद्दीपना बढ़ गयी और वहीं इनका वीर्यपात हो गया। उस समय इनकी प्रेयसी रानी ऋतुवती थी। शुक्र निष्फल न हो, इस विचार से उसे एक दोने में रखकर पास के एक बाज से इन्होंने कहा कि इसे लेकर मेरी पत्नी को दे आओ। राजा की प्रार्थना पर बाज ने उसे शुक्र-विन्दु को अपनी चोंच से उठा लिया। परन्तु मार्ग में जब वह उड़ता हुआ रानी के महल की ओर जा रहा था, तब एक दूसरे बाज से

उसकी मुलाकात हुई। इस दूसरे ने इसे कुछ ले जाते हुए देखकर इससे अपना भोजन छीन लेना चाहा। दोनों में लड़ाई छिड़ गयी। फल यह हुआ कि वह शुक्र-विन्दु बाज की चोंच से छूटकर नीचे, यमुनावक्ष पर आ गिरा। यमुना की एक मछली उस शुक्र-विन्दु को खा गयी। वह मछली पूर्वजन्म की अप्सरा थी। नाम था अद्रिका। ब्रह्मशाप से मछली होकर यमुना में रहती थी। उस विन्दु से उसके गर्भ रह गया। दसवें महीने में एक मछुए ने जाल से उस मछली को पकड़ा। उसके पेट से दो वच्चे निकले—एक कन्या और एक लड़का। दोनों को लेकर वह राजा उपरिचर के पास गया। राजा ने लड़के को तो ले लिया, परन्तु लड़की को उसे ही दे दिया। इसी लड़की का नाम मत्स्यगन्धा पड़ा। एक वार मत्स्यगन्धा यमुना के तट पर यात्रियों को पार उतार रही थी। उसी समय पराशर-ऋषि पार जाने के लिए यमुना के तट पर आये। उन्हें जब वह पार उतार रही थी उस समय महर्षि को उसे देखकर कामोद्दीपन होने लगा। उन्होंने मत्स्यगन्धा से अपने अन्दर की बात कही। सुनकर उस अविवाहित युवती कन्या ने कहा, "प्रभो, आपकी इच्छा की पूर्ति कैसे करूँ। दोनों किनारे पर ऋषि-मुनि खड़े हुए हम लोगों को देख रहे हैं।" पराशर ऋषि ने कहा, "अच्छा, तुम्हें लज्जा होती है, तो यह लो, हम कुहरे की सृष्टि करते हैं।" महर्षि की इच्छामात्र से दोनों तट कुहरे से समाच्छन्न हो गये। तब उस कुमारी ने कहा, "भगवन्, मैं अविवाहिता हूँ, मेरा सतीत्व नष्ट होगा तो मेरा कुमारीपन फिर नष्ट हो जायेगा।" महर्षि बोले, "शुभे, मेरी इच्छा पूरी होगी तो तुम्हारा कौमार्य नष्ट न होगा। मैं तुम पर प्रसन्न हूँ। तुम मेरी कामना पूरी करो।" अस्तु, महर्षि ने उस कन्या के साथ अपनी वासना पूरी की और उसे वरदान दिया कि तुम्हारी देह से जो यह मछली की बू निकलती है यह अब न रह जायगी, बल्कि उसकी जगह तुम्हारी देह से सदा सुगन्ध निकलती रहेगी और दो-चार कोस तक के मनुष्य तुम्हारी सुगन्धि से मुग्ध हो जायँगे। महर्षि के प्रसंग के पश्चात् सत्यवती गर्भवती हो गयी। उसके उसी गर्भ से व्यासदेव की उत्पत्ति हुई। सत्यवती का यही इतिहास है।

उसी सत्यवती को भीष्म हस्तिनापुर में ले आये। उसे पाते ही महाराज शान्तनु की कुल व्याधियाँ दूर हो गयीं। महाराज शान्तनु से सत्यवती का विवाह भी सानन्द समाप्त हो गया। दोनों सुखपूर्वक रहने लगे। महाराज शान्तनु को कुछ दिनों के लिए फिर सारा संसार राज-पाट, सब भूल-सा गया। दिन-रात वे प्रमोद-उद्यान में ही रहने लगे। कुछ काल पश्चात् सत्यवती गर्भवती हुई। यथा-समय एक परम रूपवान कुमार चित्रांगद का जन्म हुआ। पिता के समान ये भी बड़े बली और तेजस्वी हुए। एक पुत्र सत्यवती के और हुआ। इसका नाम विचित्रवीर्य रक्खा गया। महाराज शान्तनु संसार-उद्यान के पके-फल हो रहे थे, काम-समीर के कुछ झोंकों के लगते ही वृक्ष से च्युत हो गये। उनके शरीर छोड़ने पर कुरु-परिवार एकाएक एक अथाह शोक-समुद्र में गिर गया। सत्यवती जवानी में ही विधवा हो गयी। भीष्म के सामने अब एक बहुत ही बड़ा कर्त्तव्य

आ गया। पिता की श्राद्ध-क्रिया, माता को आश्वासन प्रदान, भाइयों की शिक्षा, उधर निस्पृह भाव से राज्य शासन, सब काम एक साथ ही भीष्म पर मानो उनके धैर्य की परीक्षा के लिए नियति की अजेय सेना की तरह टूट पड़े। उस समय भी भीष्म को किसी ने विचलित होते नहीं देखा। एक-एक करके अपने कुल कर्त्तव्यों को वे पूरा करते गये।

महाराज शान्तनु के बाद, सत्यवती की आज्ञा के अनुसार भीष्म ने चित्रांगद को राजगद्दी दी। इन्होंने अपने बाहुबल से तमाम राजाओं पर विजय प्राप्त कर ली। उसी समय चित्रांगद नाम का एक दूसरा राजा था। वह गन्धर्व था। उसके बल की थाह न थी। चारों ओर उसके बल-विक्रम की तारीफ हो रही थी। यह प्रशंसा सुनकर, समर में परास्त करने के लिए कुरुवंशी चित्रांगद ने अपनी फौज और सामन्त सरदारों के साथ उस पर चढ़ाई का डंका पिटवा दिया। समर-भूमि में प्रचण्ड प्रतिद्वन्दिता छिड़ गयी। आखिर शान्तनु के पुत्र, चित्रांगद, उस गन्धर्व के हाथों मारे गये। भीष्म को इसका अत्यन्त शोक हुआ। परन्तु विधि की इच्छा पर किसी का क्या वश। भीष्म मन मारकर रह गये। इधर राजगद्दी बिना नरेश के हो गयी। सत्यवती का दूसरा लड़का, विचित्रवीर्य उस समय बच्चा था। भीष्म ने उसी को राजगद्दी दी। सारा प्रबन्ध खुद करते।

धीरे-धीरे विचित्रवीर्य बडे हुए। भीष्म को इनके विवाह की चिन्ता होने लगी। परन्तु कहीं किसी योग्य कन्या का पता न लग रहा था। एकाएक भीष्म ने सुना कि काशी नरेश की कुमारियों का स्वयंवर होनेवाला है। उन्हें इससे बहुत कुछ आशा हो आयी। सत्यवती की आज्ञा लेकर भीष्म काशी चलने के लिए तैयार हो गये। काशी में भारत भर के बड़े-बड़े राजा-महाराजा इकट्ठे थे। स्वयंवर सभा का दिन भी आ गया। काशी नरेश ने सब राजाओं का उचित स्वागत किया। सभा में अपने-अपने आसनों पर, देश-देश के राजा-महाराजा बैठे हुए थे। भीष्म भी अपने आसन पर विराजमान थे। काशी नरेश की तीन लड़कियाँ, सखियों के साथ एक ओर बड़ी साज-सज्जा से खड़ी हुई थीं। भाट उनके सामने सब देश के राजाओं की तारीफ कर रहा था। भीष्म को अब अधिक विलम्ब करना अनुचित जान पड़ा, क्योंकि वे कुछ अपने विवाह के लिए तो गये ही न थे, उनका उद्देश्य कुछ दूसरा था। वे उठे, और तीन कुमारियों को जबरन अपने रथ पर बैठा लिया। सब राजा भीष्म का मुँह ताकते रह गये। भीष्म ने कहा, "आमन्त्रित राजाओ, भारत में विवाह की कितनी ही प्रथाएँ प्रचलित हैं। कोई तो अपनी कन्या को वस्त्र और अलंकारों से सुसज्जित करके किसी योग्य पात्र को कन्यादान करते हैं, कोई गो-मिथुन का दान करके, फिर कन्यादान करते हैं, कोई दहेज देकर कन्या का विवाह करते हैं, कोई बलपूर्वक विवाह करते हैं, कोई प्रेम-संभाषण द्वारा अविवाहित युवती को मुग्ध करके उसका पाणि-पीड़न करते हैं, कोई प्रमत्ता कुमारी स्वेच्छा से विवाह करती है, कोई आर्ष-विवाह विधि के अनुसार विवाह करते हैं। कोई कन्या के पिता-माता को बहुत-सा धन देकर कन्या से विवाह करते

हैं। इतनी विधियों में स्वयंवर ही सबसे उत्तम विवाह-विधि है और इस स्वयंवर प्रथा में कन्या को बलपूर्वक हरण कर ले जानेवाला, लोगों में बहुत बड़ी प्रशंसा का पात्र समझा जाता है। अतएव हे राजाओ, मैं इन कुमारियों को बलपूर्वक लिये जा रहा हूँ, अगर किसी में दम हो तो मेरे पंजे से इन्हें छुड़ा ले जाय।"

इतना कहकर सारथि को भीष्म ने रथ बढ़ाने की आज्ञा दी। सभा में खलबली मच गयी। राजाओं की भौंहें तन गयीं। भीष्म से कन्याओं को छुड़ा लेने के लिए सब एक-दूसरे को ललकारकर बढ़ावा देने लगे। काशी के वहिर्भाग में भीष्म के साथ राजाओं का घनघोर समर छिड़ गया। पर कोई भीष्म का एक बाल भी बाँका न कर सका। सबको भीष्म से परास्त होकर लौट आना पड़ा। तब कुमारियों को लेकर भीष्म हस्तिनापुर पहुँचे। राज्य की प्रजा ने अपने विजयी राजकुमार का सोत्साह स्वागत किया। कन्याओं को देखकर सत्यवती के आनन्द का तो ठिकाना न रहा।

विवाह की तैयारियाँ होने लगीं। एक दिन हँसते हुए अम्बा ने कहा, "मैं मन-ही-मन शाल्वराज को वर चुकी हूँ, उन्होंने भी मुझे ग्रहण करने के लिए वचन दिया था, मेरे पिता भी राजा थे। अब आपको जैसा उचित जान पड़े, धर्मानुसार मेरे साथ आप वैसा ही व्यवहार कीजिए।" भीष्म को बड़ी चिन्ता हुई। ब्राह्मणों से विचार करके उन्होंने काशी-नरेश की बड़ी लड़की अम्बा को इच्छानुरूप, स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य करने की आज्ञा दे दी। अम्बिका और अम्बालिका का विचित्र-वीर्य के साथ विवाह कर दिया। एक तो विचित्रवीर्य स्वयं बड़े रूपवान थे, दूसरे उन्हें रूपवती दो पत्नियाँ भी मिल गयीं, तीसरे वैभव की कोई कमी थी ही नहीं—एक विशाल राज्य के वे राजा थे। अस्तु, अपनी पत्नियों के साथ वे घोर विलास में डूब गये। इससे उनका स्वास्थ्य क्षीण होने लगा और कुछ ही दिनों के बाद उन्हें राजयक्ष्मा हो गया। रोग की बड़ी चिकित्सा करायी गयी। बड़े-बड़े वैद्य बुलाये गये। परन्तु फल कुछ न हुआ। अकाल में ही उन्हें काल कवलित हो जाना पड़ा।

भीष्म को भाई के शोक के साथ ही राज्य की भी बड़ी चिन्ता हुई। सत्यवती को अपने कुल की और पिण्डोदक की चिन्ता थी। एक दिन उन्होंने भीष्म से कहा, "महात्मन्, तुम्हारा यश संसार-प्रसिद्ध ही रहा है। तुम अजातशत्रु वीर धनुर्धर हो, साथ ही वेद और वेदान्त के ज्ञाता भी हो। सोचो कि अब तुम्हारा कुल डूब रहा है। तुमने विवाह न करने की प्रतिज्ञा की है, परन्तु वंश-रक्षा के लिए अब कोई उपाय नहीं रह गया है। इसलिए यदि तुम इन दोनों विधवाओं से पुत्रोत्पादन करोगे तो तुम्हें धर्मशास्त्र के अनुसार दोषी न होना पड़ेगा। क्योंकि पितृलोक की रक्षा का उपाय तुम्हें पहले सोचना होगा।"

सत्यवती की बातें समाप्त हो जाने पर महावीर भीष्म ने कहा, "माता, यह तो हरगिज न होगा। मैं जिसके लिए प्रतिज्ञा कर चुका हूँ, उस कार्य को कदापि न कर सकूँगा। आज मैं आपके समक्ष एक और प्रतिज्ञा करता हूँ, सुनिए, मैं तीनों

लोक की प्राप्ति छोड़ सकता हूँ, स्वर्ग-भोग छोड़ सकता हूँ, इन्द्रत्व का त्याग कर सकता हूँ, इससे भी बड़ी अगर कोई पदवी हो तो मैं उसे भी छोड़ सकता हूँ, परन्तु सत्य का त्याग कभी न कर सकूँगा।"

सत्यवती और भीष्म में बड़ी देर तक धर्म-शास्त्रानुसार वाद-विवाद होता रहा। भीष्म अपनी प्रतिज्ञा पर अटल रहे। पुत्रोत्पादन के लिए उन्होंने एक शास्त्रीय युक्ति बतलायी। कहा कि किसी अमोघ-वीर्य ब्राह्मण को बुलाइये और वंश-रक्षा के लिए उनसे प्रार्थना कीजिए तो उपाय हो सकता है।

भीष्म की बात सत्यवती के दिल में जम गयी। उन्हें अपने प्रथम पुत्र व्यासदेव की याद आयी। व्यास को उन्होंने बुलाया और उनके वंश की रक्षा के लिए उनसे प्रार्थना की। व्यास माता की आज्ञा मानने के लिए तैयार हो गये। वे एक रात अम्बिका और अम्बालिका के शयनागार में रहे। चलते समय व्यासदेव ने अपनी माता से कहा, "माता, आपकी आज्ञा का पालन तो मैंने किया, परन्तु, इससे आपको पूरा सन्तोष न होगा। युवतियों ने मेरा हृदय से स्वागत नहीं किया। पहली ने मेरे आते ही आँखें मूँद लीं और दूसरी को मुझे देखकर इतना डर लगा कि उसका तमाम बदन पीला पड़ गया। इसलिए पहला बालक अन्धा होगा और दूसरा पाण्डु-रोग ग्रसित।" सत्यवती सुनकर हताश हो गयी। इन दो अयोग्य बालकों से राज्य का प्रबन्ध होना उसे असम्भव दिखायी दिया। इसलिए इन दोनों की सहायता के लिए एक चतुर सहकारी की आवश्यकता प्रतीत हुई। उन्होंने व्यासदेव से फिर प्रार्थना की और एक दासी के साथ सहभोग करने का अनुरोध किया। माता की आज्ञा पर व्यासदेव सहमत हो गये। उस दासी ने व्यासदेव की बड़ी आवभगत की, हृदय से उनका स्वागत किया। व्यासदेव ने प्रसन्न होकर उसे वरदान दिया कि तुम्हारे गर्भ से जो पुत्र होगा वह बड़ा धर्मात्मा और राजनीति का पारंगत विद्वान् होगा।

इस तरह, धृतराष्ट्र, पाण्डु, और विदुर की उत्पत्ति हुई। विदुर दासी के पुत्र थे। मुरझायी हुई आशा की कली फिर हरी-भरी हो गयी। भीष्म को राज्य की चिन्ता से मुक्ति मिली। महर्षि व्यास की आज्ञानुसार धृतराष्ट्र अन्धे हुए और पाण्डु पाण्डु-रोग ग्रस्त। केवल विदुर तन्दुरुस्त थे। यह देखकर भीष्म को एक प्रकार की चिन्ता बनी ही रही। धृतराष्ट्र का विवाह उन्होंने गान्धार देश की राज्य-कन्या गान्धारी के साथ कर दिया। गान्धारी को जब मालूम हुआ कि उनके पति अन्धे हैं, तब उन्होंने भी आँखों में पट्टी बाँध ली और अपना सम्पूर्ण जीवन इसी अवस्था में बिता दिया। पर-पुरुष का उन्होंने कभी मुखावलोकन भी नहीं किया। पाण्डु के दो विवाह हुए। उनकी प्रथम पत्नी कुन्ती थी और दूसरी माद्री। धृतराष्ट्र के सौ पुत्र हुए, जिनमें दुर्योधन सबसे बड़ा था। और पाण्डु के पाँच पुत्र हुए, तीन कुन्ती के गर्भ से और दो माद्री के गर्भ से। युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन कुन्ती के पुत्र थे और नकुल और सहदेव माद्री के। विचित्रवीर्य की तरह पाण्डु को भी यौवन की प्रथम अवस्था में ही कालग्रस्त हो जाना पड़ा। इन्हें एक ऋषि का ऐसा

ही शाप था। पाण्डु की मृत्यु हो जाने पर माद्री अपने पुत्रों को कुन्ती के हाथ सौंपकर पति के साथ चिता में जल गयी। माद्री मद्र देश के राजा की कन्या थी और कुन्ती श्रीकृष्ण के पिता वसुदेव की बहन।

धृतराष्ट्र अन्धे थे, इसलिए पाण्डु को ही राजगद्दी मिली थी। पाण्डु के मर जाने पर सिंहासन फिर खाली हो गया। भीष्म का प्यार पाण्डु के पुत्रों पर अधिक था। इसके कई कारण थे। एक तो पाण्डु के पुत्र बिना पिता के ही रहे थे, दूसरे वे बड़े विनयी, उदार और बड़ों का अदब करनेवाले धर्मात्मा थे। युधिष्ठिर तो इतने सरल थे कि अपने समय के सर्वश्रेष्ठ धार्मिक महापुरुष माने जाते थे और उनकी ऐसी गति आज तक संसार में किसी को मिली भी नहीं। वे सदेह स्वर्ग को चले गये थे। उनका शरीर ऐसा ही निष्पाप था। भीम, अर्जुन आदि पाण्डु के और चार लड़के भी बड़े सरल और मिलनसार थे। युधिष्ठिर की आज्ञा के बिना एक मामूली से मामूली काम भी ये न करते थे। और भी इनमें कितने ही गुण थे, जिनके कारण भीष्म की सदा इन पर कृपा-दृष्टि रहती थी।

उधर दुर्योधन वैसा ही उत्पाती था। वह हमेशा घरवालों को छकाया करता। उसके और भाई भी उसकी मदद किया करते। दुःशासन तो इतना उद्दण्ड था कि गुरुजनों की आज्ञा को समझता ही न था कि क्या चीज है। पिता के राज्य के लिए अक्सर ये लड़के घर में तकरार किया करते थे। राज-परिवार के नाकों-दम आ गया। इनके अत्याचार से सत्यवती बहुत घबरायीं। उन्होंने भीष्म से सलाह कर अपनी दोनों विधवा बहुओं को लेकर जंगल चले जाने का निश्चय किया। भीष्म की भी यही राय रही। अस्तु, उन्हें भीष्म रथ पर चढ़ा पास ही के एक तपोवन में ऋषि परिजनों के बीच में छोड़ आये। वे प्रसन्नतापूर्वक वहाँ रहने लगीं। वहीं उनकी सांसारिक आयु भी पूरी हुई और इसके पश्चात् तीनों अपने-अपने पति-लोक को चली गयीं।

चतुर्थ परिच्छेद

महाभारत का सूत्रपात

धीरे-धीरे धृतराष्ट्र और पाण्डु के लड़के बड़े होने लगे। इनकी शिक्षा का भार भी भीष्म पर आ पड़ा। भीष्म के सिवा राज्य परिवार में कोई दूसरा और था ही नहीं, जो उचित रीति से बालकों को पढ़ाने का प्रबन्ध करता। धर्म और राजनीति की शिक्षा राजकुमारों को भीष्म स्वयं देते थे। दुर्योधन की दुष्ट प्रकृति को वे पहले ही पहचान गये थे, और इसकी दवा मार-पीट या दमन से न होगी, यह उन्हें

निश्चय हो चुका था। वे जानते थे कि काँटा काँटे से ही निकलता है, इसलिए दुर्योधन और दुःशासन की प्रकृति में सुधार करने की आवश्यकता है। शासन से काम न चलेगा। बल्कि ये उससे और असंयत हो जायँगे। इसी विचार से धृतराष्ट्र और पाण्डु के पुत्रों का धार्मिक और राजनीतिक शिक्षा का भार उन्होंने अपने सिर ले लिया था। कुछ दिनों के बाद उन्हें मालूम हो गया कि दुर्योधन की प्रकृति रस्सी की तरह से है जिसके जल जाने पर भी ऐंठन बनी ही रहती है। युधिष्ठिर को भीष्म बहुत प्यार करते थे। ये शान्त तो थे ही, किन्तु धार्मिक और राजनीतिक सिद्धान्तों को इतना जल्द समझ लेते थे कि भीष्म को उनसे बहुत बड़ी-बड़ी आशाएँ होने लगी थीं। वे समझ गये कि कुरुवंशीय सिंहासन युधिष्ठिर से धन्य हो जायगा। युधिष्ठिर धर्मनीति और राजनीति में आशातीत सफलता प्राप्त करने लगे। अर्जुन भी उनकी तरह कुशाग्रबुद्धि थे। पर कभी-कभी उनमें आवेश आ जाता था। भीम को इस विद्या से सख्त नफरत थी। कुछ दिनों के बाद भीष्म को दूसरे राजकुमारों की अपेक्षा सहदेव से अधिक आशा होने लगी। ये शान्त तो थे, पर प्रखर अत्यन्त थे, इनकी प्रकृति में पाण्डित्य था।

भीष्म को धार्मिक शिक्षा के अलावा राजनीति की शिक्षा भी देनी थी, परन्तु यह काम वे किसी दूसरे मान्य मनुष्य को सौंपना चाहते थे। तलाश करने पर भी कोई योग्य पुरुष न मिल रहा था। एक दिन उनकी इच्छा एकाएक पूरी हो गयी। आचार्य द्रोण हस्तिनापुर आये। भीष्म ने उनका बड़ा स्वागत किया और राजकुमारों की अस्त्र-शिक्षा का भार इनके हाथों सौंपकर निश्चिन्त हो गये। आचार्य द्रोण आये भी बड़े मौके से थे।

एक दिन सब राजकुमार मिलकर गेंद-बल्ला खेल रहे थे। खेलते-ही-खेलते किसी ने पाँव मारा और गेंद कुएँ के अन्दर चली गयी। लड़के कुएँ के ऊपर से नीचे की ओर झाँकते और हताश भाव से एक-दूसरे का मुख ताकने लगते। वहाँ साठ हाथ नीचे किसी का क्या बस था। लड़के बहुत घबराये। इतने में कुछ लड़कों ने देखा कि तरकस बाँधे और हाथ में धनुष लिये जनेऊ-धारी एक वृद्ध उसी तरफ आ रहा है। लड़कों ने उस वृद्ध को घेर लिया और स्वार्थभरी विनय से कहा, "बाबा, हमारा गेंद कुएँ में गिर गया है, क्या निकाल न दोगे ?" वृद्ध को बच्चों पर दया आ गयी। उन्होंने अपने तरकस से तीर निकाला और निशाना साधकर तीर मारा कि गेंद तीर के साथ बाहर आ गया! लड़के तो मारे प्रसन्नता के पिघल गये। कुछ भीष्म के पास दौड़े हुए गये और एक साँस में लगातार उस वृद्ध की तारीफ करते गये। इस अचम्भे की बात सुनकर भीष्म को भी उस वृद्ध को देखने की इच्छा हुई। मन में तरह-तरह की भावनाएँ उठने लगीं। वे उस कुएँ के पास आये और दूर से द्रोण को खड़े हुए देखा तो बड़े प्रसन्न हुए।

कुछ लड़के द्रोण को बड़े गौर से देख रहे थे। लड़कों के सरल आश्चर्य पर द्रोण खड़े मुस्कुरा रहे थे। इसी समय भीष्म आये। द्रोण को भीष्म ने हृदय से लगा लिया और राजकुमारों को प्रणाम करने की आज्ञा दी। फिर द्रोण को साथ

ही वे राजपुरी में ले गये। द्रोण ने अपनी सारी दुःख की कहानी भीष्म को सुनाकर अपने भोजन के लिए उनसे प्रबन्ध कर देने की प्रार्थना की। ब्राह्मण के दुःख पर भीष्म के आँसू आ गये। उस समय क्षत्रिय समाज की जैसी अधोगति हो रही थी, उसके लिए भीष्म को बड़ा दुःख हुआ। अन्त में द्रोण से सपरिवार हस्तिनापुर में रहने और राजकुमारों को धनुर्वेद-विद्या सिखलाने की उन्होंने प्रार्थना की। द्रोण ने यह कार्य स्वीकार कर लिया। उसी दिन से द्रोण राजकुमारों को धनुर्विद्या सिखलाने लगे।

समय के बीतने में देर नहीं लगती। देखते-देखते द्रोण को हस्तिनापुर में रहते कई साल हो गये। राजकुमार भी अब निरे बालक नहीं रह गये। उनकी देह पर से किशोर काल की छाया धीरे-धीरे हटती जा रही थी। जवानी का जोश चढ़ता आ रहा था। बालपन में, अस्त्र शिक्षा के समय, धृतराष्ट्र के पुत्रों और पाण्डु के पुत्रों में कई बार मुठभेड़ हो चुकी थी। दुर्योधन आदि धृतराष्ट्र के पुत्रों को पाण्डु के पुत्रों पर हार्दिक घृणा रहा करती थी। वे एक तो स्वभाव के ही कुटिल थे, दूसरे राज्य का लोभ उन्हें अत्यन्त प्रबल था। वे जानते थे कि इसमें युधिष्ठिर को ही राज्य मिलेगा, क्योंकि उम्र में यह सबसे बड़ा है और पितामह भी इसका पक्ष लेते हैं।

ईर्ष्या की यह आग निरन्तर बढ़ती ही गयी। खेल-कूद में भी यह भाव प्रायः प्रकट हो जाया करता था। पाण्डु के और चार पुत्र तो शान्त थे, पर भीम बड़े उत्पाती थे। ये दुर्योधन आदि का अत्याचार एक क्षण के लिए भी न सहते थे। चपत का जवाब हमेशा घूंसे से दिया करते थे। कभी-कभी तो ये सौ भाइयों को अकेले ही छका दिया करते थे। एक बार 'गुलहर' का खेल हुआ। भीम उसमें न थे। इन पाँचों में नकुल ही छटकर खेलने चले गये थे। उन सौओं की चालबाजी से नकुल चोर हुए। फिर क्या था; महीनों तक रोज नकुल को चोर रहना पड़ा, कभी इन्हें दाँव ही न मिला। नकुल दुबले पड़ने लगे। एक दिन अखाड़े में नकुल को लड़ाते हुए भीम ने पूछा, "क्यों रे! कमजोर क्यों पड़ता जा रहा है?" नकुल लज्जा के मारे कुछ कह न सके। परन्तु भीम ने भी न छोड़ा। अन्त को नकुल खेल में अपने हारने और महीनों से दाँव देते रहने की बात कही और कहते हुए रोने लगे। भीम ने कहा, 'अच्छा, आज तेरा दाँव मैं दूंगा। आज घर से बाहर न निकलना।" पता पूछकर 'गुलहर' खेलने के लिए उस रोज भीम गये। वे सबसे पहले ही से वहाँ डट गये थे। इन्हें देखते ही सब पूछने लगे कि नकुल कहाँ है, हमारे दाँव क्यों नहीं देते। भीम ने कहा, "उसकी तबीअत आज अच्छी नहीं, उसके बदले में मैं चोर रहूँगा, मुझसे ही दाँव लो। सब पेड़ पर चढ़ गये। नीचे घेरे के अन्दर गदा रखा था। भीम ने सोचा कि मेरे भाई को इन लोगों ने जिस तरह हैरान किया है, अब मुझे भी चाहिए कि इन सबको एक साथ खूब छकाऊँ और अपने भाई का बदला लूं। यह सोचकर भीम ने पेड़ की डाली पकड़कर उसे जोर से हिलाया कि सबके सब पके आम की तरह चू पड़े, भीम ने सबको एक साथ छूकर डण्डा चूम लिया और कहा कि अब तुम सब चोर हो और मेरा दाँव दो। यह कहकर उन्होंने

डण्डा फेंका। डण्डे ने मीलों की खबर ली। दौड़ते-दौड़ते दुर्योधन आदि का दम फूलने लगा। भीम ने उस रोज सबकी पूरी कसर निकाली। यह क्रम कई दिन तक जारी रहा। इस तरह भीम से धृतराष्ट्र के लड़के बहुत घबराये रहते थे। एक बार तो जलविहार करते समय भीम को इन लोगों ने जहर ही खिला दिया था। नदी में बहा दिया, भीम पाताल को चले गये, पर वहाँ नाग कन्या के अमृत पिलाने पर बच गये और उसके साथ विवाह कर आनन्दपूर्वक घर लौटे। कौरवों का द्वेष-भाव धनुर्वेद की शिक्षा देते समय द्रोण को अच्छी तरह मालूम हो गया था। परन्तु वे निष्पक्ष भाव से ही शिक्षा देते थे। किसी पर अधिक और किसी पर कम स्नेह-वाला उनका भाव न था। परन्तु फिर भी वे अर्जुन को ज्यादा प्यार करते थे। अर्जुन की अस्त्र-शिक्षा पर जैसी निष्ठा थी, उससे द्रोण मुग्ध हो गये थे। शिक्षा सुपात्र पर ही प्रभाव डालती है, तब गुरु की प्रतिभा स्वभावतः उस ओर ज्यादा झुकती है, यही कारण है कि द्रोण को अर्जुन ने मुग्ध कर लिया था।

एक दिन राजपुत्रों की परीक्षा का दिन स्थिर किया गया। पेड़ पर एक काठ की चिड़िया रख दी गयी। वही निशाना था। पहले युधिष्ठिर को धनुष और तीर दिया गया। द्रोण ने युधिष्ठिर से पूछा, "क्या देखते हो?" युधिष्ठिर ने कहा, "पेड़, पत्तियाँ सबकुछ देख रहा हूँ।" द्रोण ने युधिष्ठिर के हाथ से धनुष ले लिया। एक-एक करके उन्होंने सब राजपुत्रों को दिया, पर पूछने पर, सन्तोषजनक उत्तर कोई न दे सका। अन्त में अर्जुन को तीर देकर द्रोण ने पूछा, "अर्जुन, क्या देखते हो?" अर्जुन ने कहा, "पक्षी की गर्दन।" "छोड़ो तीर" अर्जुन ने वाण मारा। तीर निशाने पर अचूक बैठा। द्रोण ने अर्जुन को बाँहों में भरकर छाती से लगा लिया। एक बार भीष्म के सामने भी परीक्षा ली गयी। उस बार रंगशालाएँ बनी हुई थीं, राजकुमारों को आपस में ही अपनी कुशलता दिखलानी पड़ती थी। उस बार भी अर्जुन ने नामवरी हासिल की।

इस तरह पाण्डवों की प्रतिष्ठा दिन-दूनी रात-चौगुनी बढ़ने लगी। सब प्रजा भी पाण्डवों को चाहती थी। उन्हें ही राजा बनाने की सबकी लालसा थी। भीम भी सत्य और सरलता की ओर आकर्षित थे। यह बात दुर्योधन आदि को खटकती थी। परन्तु दुर्योधन का पक्ष गिरा रहता था। उसे न तो भीष्म ही हृदय से प्यार करते थे और न आचार्य द्रोण ही हृदय खोलकर शिक्षा देते थे। कभी-कभी वह इस बात की शिकायत अपने पिता के पास भी किया करता था और उनके अन्दर भी द्रोह का जहर भर रहा था। पिता को पुत्र स्वभावतः प्यारा होता है। कभी-कभी वे पुत्र के अभियोगों को उचित और न्यायानुकूल समझने लगते थे। उसकी बातों में आकर कभी-कभी उसे प्रोत्साहन भी दिया करते थे। दुर्योधन के लिए आग में घृताहुति पड़ती थी। उसे स्वेच्छाचार करने का बढ़ावा मिल जाता था।

दुर्योधन की इच्छा की आग भड़कानेवाला उसे एक जबरदस्त सहायक मिल गया। ये कर्ण थे। कर्ण कुन्ती के ही पुत्र थे, परन्तु कुन्ती के सिवा और किसी को यह बात मालूम न थी। केवल भीष्म यह भेद जानते थे। कुन्ती को वर मिला था।

वह किसी भी देवता का आह्वान कर सकती थी। परीक्षा के लिए, उसने मन में ही सूर्यदेव को आकर्षित किया। उन्हीं के आशीर्वाद से कर्ण पैदा हुए। कुन्ती उस समय क्वारी थी। वह घबरायी कि लड़का होने की बात लोग जानेंगे तो मुझे व्यभिचारिणी कहेंगे। इस भय से कर्ण को वह नदी के तट पर उनके पैदा होने पर, रख आयी। रथ हाँकनेवाले सारथि की स्त्री कर्ण को नदी के किनारे से उठा लायी और पुत्रवत् कर्ण को पाला-पोसा। कुछ बड़े होकर कर्ण परशुराम के पास अस्त्राभ्यास करने के लिए चले गये। वहाँ से पारंगत होकर लौटे। रंगशाला में जिस दिन अर्जुन की विजय रही, उस दिन कर्ण भी वहाँ मौजूद थे। ये अर्जुन से लड़ना भी चाहते थे। परन्तु द्रोण के यह कहने पर कि राजपुत्र के साथ सूतपुत्र को स्पर्धा का भाव न रखना चाहिए, [उन्हें रुक जाना पड़ा।] इससे कर्ण के हृदय को चोट लगी। परन्तु कर्ण को पाण्डवों का समकक्ष वीर समझकर दुर्योधन उनका आदर करने लगे। उनसे मैत्री कर ली। उन्हें अंगदेश का राजा बना दिया। बराबर आसन पर बैठाने लगा। हर तरह से जाहिर करने लगा कि हम लोगों की तरह कर्ण भी इज्जतदार हैं और राजा हैं। कर्ण भी अर्जुन की तरफ हमेशा नजर रखते थे। वास्तव में कर्ण की वीरता में कोई कसर न थी। एक तो वे भी उसी गुरु के चेले थे, जिससे भीष्म और द्रोण को शिक्षा मिली थी, दूसरे अभी तरुण थे, इसलिए बल-पराक्रम भादों के सोन-नद की तरह बाढ़ पर ही था।

कर्ण कूटनीतिज्ञ थे। दुर्योधन की सहायता ने उन पर शान रख दी। उनकी नीतिमत्ता सहस्रमुखी होकर पाण्डवों की नींव खोदकर बहा देने के विचार में तल्लीन रहने लगी। दुर्योधन की लालसा-लता के लिए वसन्त ऋतु आ गयी। कर्ण के साथ विचार करके उसने निश्चय किया कि लाख का घर बनाकर उसमें पाण्डवों से रहने के लिए कहा जाय। जब ये उसके अन्दर जायँ, तब बाहर से उसमें आग लगा दी जाय। बस, इस तरह साँप भी मर जायेगा और लाठी भी न टूटेगी।

भीष्म को दुर्योधन की तरफ से पूरी उदासीनता हो गयी थी। उसकी रग वे परख गये थे। मेल अब कुरुवंश के लिए चाँद का खिलौना है, यह उन्हें निश्चित हो गया था। इसलिए अब किसी पक्ष की तरफ वे ध्यान न देते थे। उनकी उदासीनता धृतराष्ट्र को खटकती थी। उन्हें यह सन्देह था कि भीष्म सबको एक आँख से नहीं देखते। यह भाव दुर्योधन के दर्द की खासी दवा हो गया। 'एक तो तलवार तिस पर दुश्मन के हाथ' वाली कहावत चरितार्थ हो गयी।

जब लाख का मकान बन गया, तब धृतराष्ट्र ने अपने भतीजों को बुलाया और कहा कि, "तुम लोगों ने वारणावत-नगर तो अभी नहीं देखा? हाल ही में बना है। बड़ा अच्छा है, जाओ, देखो, ऐसा सुन्दर नगर कभी न देखा होगा। सब लोगों को साथ ले जाना ही अच्छा होगा।" अपने ताऊ की आज्ञा युधिष्ठिर कब टाल सकते थे। उनको प्रणाम कर, देखने की स्वीकृति देकर वे वहाँ से चले आये।

वारणावत चलने की तैयारी होने लगी। चलने के समय विदुर ने युधिष्ठिर को एक कृत्रिम भाषा में वहाँ का कुल गुप्त भेद बतला दिया। वह भाषा युधिष्ठिर

भी जानते थे। युधिष्ठिर को विदुर ने बतला दिया कि बचने का एक ही उपाय है। बीच में एक स्तम्भ लगा हुआ है। उसे उखाड़ डालना। उसके नीचे सुरंग मिलेगी। उसी से होकर बाहर निकल जाना। अस्तु, युधिष्ठिर उस मकान में गये। उनकी परीक्षा लेने के लिए कि वे उस मकान में रहते हैं या नहीं, उनके साथ पुरोचन नाम का एक गुप्तचर कर दिया गया था। रात को उस लाख के भवन में आग लगा दी गयी। देखते-ही-देखते भवन धधकने लगा। उससे गलकर लाख चूने लगी। पाण्डवों के प्राणों पर संकट आ पड़ा। युधिष्ठिर ने भीम से कहा, "भीम, बीच में यह खम्भा गड़ा है, इसे उखाड़ डालो। भीम उससे भिड़ गये, खम्भे में कुछ बल तो था ही नहीं, वह एक बाहरी दिखावा-भर था, ज़रा-सा जोर मारते ही उखड़ गया। नीचे राह दिखायी दिया। उसी से पाण्डव निकल भागे। पुरोचन मकान में रह गया था। सुबह को उसकी जली हुई हड्डियाँ मिलीं। उस दिन एक विषादी अपने पाँच पुत्रों के साथ वहाँ आकर रही थी। लाख के गलकर टपकने पर उसके साथ उसके पाँचों पुत्र वहीं स्वाहा हो गये। सुबह को वारणावत नगर के लोग पाण्डवों की तलाश में आये और लाख कुरेदने लगे तो पहले पुरोचन और पीछे से निषादी के साथ उसके पाँचों पुत्रों की लाशें मिलीं। लोगों का दिल दहल गया। लोग कलेजा थामकर रह गये। धृतराष्ट्र को सब कोसने लगे। सबको विश्वास हो गया कि यह बूढ़े की ही चाल है। उनके मत्थे कलंक मढ़कर, उनके पुत्रों के बुरे परिणाम पर विचार करते हुए लोग लौट आये।

इधर लाख भवन से निकलकर गंगा पार हो पाण्डव लगातार दक्षिण की ओर बढ़ने लगे। किसी को कभी चलने की आदत तो थी ही नहीं, कुन्ती और चारों भाई बहुत थक गये थे। भीम ही उनमें मजबूत और सारी विपत्तियों को झेलने-वाले तन्दुरुस्त जवान थे। इन्होंने सबको अपने ऊपर चढ़ा लिया और रास्ते का घोर वन पार करने लगे। वहाँ एक राक्षस हिडिम्ब नाम का रहता था। उसे मार-कर उसकी बहिन के साथ भीम ने विवाह कर लिया। वहाँ से चलते हुए सब लोग एक गाँव में पहुँचे। यहाँ भीम ने बक राक्षस का संहार किया।

यहाँ पाण्डवों को द्रौपदी के स्वयंवर की खबर मिली। भीम और अर्जुन दोनों स्वयंवर देखने गये। देश विदेश के राजा-महाराजा वहाँ एकत्र थे। दुर्योधन भी कर्ण के साथ आया था। द्रौपदी के विवाह की एक शर्त थी। आकाश मार्ग में एक मछली रखी गयी थी। उसके नीचे एक चक्र अविराम भाव से घूमता था। उसमें एक छेद कर दिया गया था। नीचे जल में उसकी छाया पड़ रही थी। उसी छाया को देखकर लक्ष्य वेधना था। कहा गया कि जो कोई इस लक्ष्य को बेधेंगे, उन्हीं के साथ द्रौपदी का विवाह होगा। जितने राजा थे, एक-एक वार सबने आजमाइश की, पर बहुतों से तो धनुष भी न उठा। सब राजा जब हार गये, तब ब्राह्मणों के बीच से अर्जुन लक्ष्यबेध करने के लिए उठे। ब्राह्मणों ने शंख-ध्वनि द्वारा उनको प्रोत्साहन दिया। अर्जुन ने बात-की-बात में धनुष उठा लिया। धनुष उठा पाँच शर संयोजित किये। नीचे छाया में लक्ष्य का प्रतिबिम्ब देखकर तीर छोड़ दिये।

निशाना ठीक लगा। मछली नीचे आ गयी। चारों ओर जय-जयकार होने लगी। द्रौपदी ने अर्जुन के गले में जयमाला डाल दी। राजा इस पर बहुत बिगड़े। पर कोई अर्जुन का बालबाँका न कर सका। भीम और अर्जुन दोनों ने सब राजाओं को परास्त कर दिया। निस्सहाय पाण्डवों को महाराज द्रुपद की सहायता मिली। इसके बाद माता की आज्ञा से द्रौपदी के साथ विवाह किया गया।

इधर दुर्योधन हस्तिनापुर वापस आया और ब्राह्मणवेशधारी लक्ष्य भेद करने-वाले का पूरा परिचय जानने के लिए व्याकुल हो उठा। अन्त में यही विश्वास किया कि पाण्डव जीवित हैं। कर्ण के साथ उसने कितने ही उपाय सोचे। पाण्डवों के मारने के लिए बड़ा प्रबन्ध किया। धृतराष्ट्र को खूब उभाड़ा। उनके दिल में अच्छी तरह यह बात जमा दी गयी कि पाण्डव अगर जीते रहेंगे, तो हमें हस्तिना-पुर में सुख से न रहने देंगे। वे बाहर-बाहर लड़ाई का प्रबन्ध कर रहे हैं। हम लोगों को सावधान हो जाना चाहिए। दुर्योधन की बातों पर धृतराष्ट्र को विश्वास हो गया। उन्होंने कहा कि भीम के रहते पाण्डवों से लोहा लेना बहुत मुश्किल है। भीम अगर पश्चात् भाग की रक्षा करता रहे, तो त्रिलोक भी एकत्र होकर अर्जुन को परास्त नहीं कर सकता।

सलाह के लिए भीष्म भी बुलाये गये। भीष्म ने कहा, "पाण्डवों से बैर करना हमें बिलकुल अनुचित जँच रहा है। मेरे साथ जो सम्बन्ध गान्धारी के पुत्रों का है, वही उनका भी है। धर्मानुसार उन्हें आधा राज्य बाँट देना ही ठीक है। जिस तरह दुर्योधन सोचता है कि यह मेरे पिता का राज्य है, उसी तरह पाण्डव भी सोचते होंगे। इसलिए मित्र भाव से भाई को उसका हिस्सा दे देना हर तरह से उचित होगा। हमें विश्वस्त सूत्र से मालूम हुआ है, लाख भवन में पाण्डवों के जल जाने की खबर फैलने के साथ ही तुम्हारी अख्याति भी फैली थी। लोग तुम्हीं को दोषी बतलाते थे और यह निश्चय समझो कि पाण्डव अगर बचे रहेंगे तो इन्द्र भी सहायता करके तुम्हारी रक्षा न कर सकेंगे। वे अपने पिता का राज्य अवश्य ले लेंगे। इसलिए अगर अपनी भलाई चाहते हो तो पाण्डवों को आधा राज्य जरूर दे दो। द्रोण की भी यही राय है।"

पंचम परिच्छद

कौरवों का षड्यन्त्र

पाण्डवों को आधा राज्य मिल गया। पाण्डवों ने अपनी राजधानी इन्द्रप्रस्थ में कायम की। इन्द्रप्रस्थ हस्तिनापुर के पास ही है।

तब से कुछ काल शान्तिपूर्वक बीता। कृष्ण से पाण्डवों की गहरी दोस्ती थी। वे अक्सर पाण्डवों से मिलने आया करते थे। एक तो मजबूत रिश्ता था—कृष्ण पाण्डवों के ममेरे भाई थे, दूसरे इधर, अर्जुन के साथ श्रीकृष्ण की बहिन सुभद्रा का विवाह भी हो गया। इससे रिश्ता और भी गाढ़ा हो गया। इसके अलावा श्रीकृष्ण धर्मराज्य की स्थापना चाहते थे। वे अपने समय के भारतवर्ष में सर्वश्रेष्ठ मनुष्य थे। क्षत्रिय और ब्राह्मण सब लोग उनकी इज्जत करते थे। ये भारत में धर्मराज्य की स्थापना चाहते थे। उस समय क्षत्रिय समाज बहुत ही गिरा हुआ था। इसके उद्धार के लिए कृष्ण ने बड़ा प्रयत्न किया। भारतवर्ष को सुधरी हुई दशा में देखने के लिए उन्होंने बड़ा परिश्रम किया। और उनकी उद्देश-सिद्धि के लिए एकमात्र पाण्डव ही उनके साधन थे।

महाराज युधिष्ठिर के दिल में आया कि हो न हो राजसूय-यज्ञ का अनुष्ठान किया जाय। उन्होंने कृष्ण से सलाह ली। कृष्ण तैयार हो गये। उन्हें इस उपाय से एक दूसरी सिद्धि करनी थी। मारे आनन्द के वे फूले अंग न समाये। दिल का पुराना हौसला पूरा होता दिखायी दिया। इस राजसूय के सूत्र से विक्षिप्त क्षत्रिय-शक्ति को एक धागे में बाँधने का उन्हें अवसर मिला।

जोरों से राजसूय की तैयारियाँ होने लगीं। भारत के चारों ओर पाण्डवों की विजयपताका फहराने लगी। देश-विदेश के राजा निमन्त्रित होकर इन्द्रप्रस्थ आये। जरासन्ध आदि जितने आसुरी प्रकृति के राजा-महाराजा थे, भीम और अर्जुन की सहायता से कृष्ण ने सबको काल-कवलित कर दिया। दो-एक राजाओं के मारे जाने पर दूसरों ने घबराकर पाण्डवों की श्रेष्ठता स्वीकार कर ली और प्रचुर धन-रत्न देकर उन्हें विदा किया और सभा में हाजिर होने का पक्का वादा भी किया। देश-देशान्तरों से पाण्डव इतना धन बटोर लाये थे कि सोने-चाँदी का पहाड़ लग गया। सभा भवन और उद्यान आदि की रचना का भार मय दानव को सौंपा गया। उस समय वह भारतवर्ष का सर्वश्रेष्ठ कारीगर था।

राजसूय से पाण्डवों की धाक जम गयी। भारत के सब राजाओं पर उनका आतंक छा गया। दुर्योधन पर तो इतना प्रभाव पड़ा कि यज्ञ की चिन्ता के मारे रात को उसकी आँख भी न लगने लगी। पाण्डवों की दौलत उसके लिए आँखों की किरकिरी हो गयी। उसे हड़प लेने के लिए दिन-रात जी मचलने लगा। परन्तु कोई उपाय न सूझता था। राजसूय यज्ञ में दुर्योधन को भी न्यौता गया था। मय दानव की विचित्र रचना देखकर उसके छक्के छूट गये। एक जगह तो उसकी समझ में न आया कि यह जल है या स्थल। एक जगह स्थल को जल समझकर धोती सिकोड़ने लगा था। यह देखकर भीम कहीं हँस पड़े थे। इससे वह भी जल गया। बदला चुकाने के लिए दिन-रात जी खौलने लगा। पाण्डवों की बढ़ी हुई प्रभुता उसके लिए शूल हो गयी।

राजसूय की सभा लग रही थी। सब राजा एकत्र थे। भीष्म भी थे। प्रश्न उठा कि सबसे पहले किसको अर्घ्य दिया जाय। भीष्म ने कहा, "इस समय कृष्ण

सर्वश्रेष्ठ पुरुष हैं, उन्हीं का सम्मान सबसे पहले होना चाहिए।" महाराज युधिष्ठिर ने भीष्म की आज्ञा के अनुसार कृष्ण को अर्घ्य देना आरम्भ किया, तो शिशुपाल बहुत बिगड़ा। बड़ी उल्टी-सीधी उसने श्रीकृष्ण को सुनायी। श्रीकृष्ण उसकी सौ गालियाँ तक सहते गये। उसकी माता ने श्रीकृष्ण से प्रार्थना की थी कि मेरे पुत्र के शत अपराध क्षमा करना। गाली का नम्बर एक सौ एक पर पहुँचा नहीं कि सुदर्शन चक्र से शिशुपाल के दो खण्ड हो गये। बस शिशुपाल के दल के जो दो-एक राजा थे वे भी, दब गये। फिर श्रीकृष्ण के विरोध में कोई आवाज नहीं उठी। यज्ञ भी सकुशल समाप्त हो गया। राजा लोग अपनी-अपनी राजधानियों में लौट गये।

इधर दुर्योधन के दिल की दिल ही में रह गयी। कसक मिटाने का उसे कोई उपाय न सूझता था। उधर राजसूय में मामा शकुनि भी आये थे। ये बड़े पक्के जुआड़ी थे। दुर्योधन ने इनकी खातिर की। दुर्योधन को उपकार का बदला देना इन्होंने अपना धर्म समझा। अस्तु, दुर्योधन से मिलकर कुछ देर तक बातचीत करने पर इनको मालूम हो गया कि दुर्योधन पाण्डवों की प्रभुता पर जल रहा है। शकुनि ने उसके दर्द की खासी दवा की। दुर्योधन को जब मालूम हो गया कि पाण्डवों को नेस्तनाबूद कर देने के लिए अकेले मामा काफी हैं, तब वह एक तरह से शकुनि का गुलाम बन गया, उनके हाथ की कठपुतली हो गया।

मामा साहब ने फरमाया कि सुनो—लड़ना-भिड़ना मेरा काम नहीं। इसके लिए तो किसी शूरवीर की शरण लो। मैं तुम्हें एक बात से मदद करूँगा। मैं जुआड़ी पक्का हूँ। मेरे हाथ से बाजी मार ले जाय ऐसा विरला ही मनुष्य संसार में होगा। युधिष्ठिर को भी जुआ खेलने का शौक है। पर वह सीधे तौर पर खेलता है। निरा कुन्द जेहन है। पासा फेंकने का शऊर भी नहीं है। वह अगर मेरे साथ जुआ खेले तो मैं निःसन्देह उसे खेल में हरा दूंगा। इस तरह उसकी कुल दौलत तुम्हारे हाथ लग जायेगी। तुम्हारी यह चिन्ता भी दूर हो जायगी।

मामा का उपदेश दुर्योधन के चित्त पर चढ़ गया। एक दिन जुआ खेलने के लिए स्थिर करके दुर्योधन ने युधिष्ठिर को न्योता दिया। युधिष्ठिर आये। खेल शुरू हो गया पर जुए में धर्म कहाँ रहता है, धर्मराज धर्म के नाम पर पासा फेंकते थे और शकुनि टट्टी की ओट से शिकार खेलता था। फल यह हुआ कि युधिष्ठिर अपना सर्वस्व हार गये। भाइयों और द्रौपदी को भी हार गये। एक शर्त थी कि जुए में जो कोई हारे वह बारह वर्ष के लिए वनवास और एक वर्ष का अज्ञातवास करे। इस समय यदि किसी तरह पता लग जाय तो फिर बारह वर्ष तक वनवास और एक वर्ष का अज्ञातवास पूरा करे। इस शर्त पर युधिष्ठिर को धोखा दिया गया। चालबाजी की विजय हुई। पाण्डवों को राज्य छोड़कर द्रौपदी के साथ उनके लांछन और अपमान को मौन गम्भीरता से बर्दाश्त करके, बदले की आशा पर सांस लेते हुए, राज्य से वनवास के लिए निकल जाना पड़ा।

षष्ठ परिच्छेद

दुर्योधन का हठ

बड़े कष्ट से तरह-तरह की विपत्तियाँ झेलकर, ईश्वर की इच्छा से पाण्डवों ने बारह वर्ष का वनवास और एक साल का अज्ञातवास पूरा कर लिया। अज्ञातवास इन लोगों ने विराटपुर में पूरा किया था। वहाँ एक घटना ऐसी हो गयी कि उससे कौरवों को पाण्डवों के रहने के सम्बन्ध में शंका हुई। विराट राजा अपने साले के प्रभाव पर राज्य करते थे। वह कीचक था। वीरों में उसकी शूरता की बड़ी धाक थी। वह द्रौपदी पर मोहित हो गया। द्रौपदी विराट की रानी की दासी होकर रहती थी। द्रौपदी ने कीचक को बहुत समझाया, भय भी दिखाया कि पाँच गन्धर्व मेरे स्वामी हैं, अगर तुम मुझे बुरी निगाह से देखोगे तो वे तुम्हें मार डालेंगे। कीचक ने उसकी एक न सुनी। द्रौपदी बहुत घबरायी। विराट की शक्ति न थी कि वे उसे कीचक के पंजे से छुड़ा लेते। वे खुद उससे डरते थे। द्रौपदी युधिष्ठिर, अर्जुन, नकुल और सहदेव के पास गयी। ये उस समय अपना नाम बदलकर विराट के यहाँ नौकरी करते थे। इनमें से किसी ने द्रौपदी की पुकार पर ध्यान न दिया। सबको डर था कि कहीं दुर्योधन को पता लग गया तो 13 वर्ष और मुसीबत झेलनी पड़ेगी। सबने द्रौपदी को समझाया। पर कोई उपाय न था। कीचक रोज उसे सताता था। अन्त में वह भीम के पास गयी। भीम उसकी रक्षा करने के लिए तैयार हो गये। बड़े भाई की आज्ञा की भी उन्होंने अपनी इज्जत के सामने बिलकुल परवाह न की। वनवास के लिए भी उन्हें चिन्ता न हुई। वे कीचक के पास जनाना वेश में, द्रौपदी का बहाना करके गये और उसका संहार किया। खबर जब दुर्योधन को मिली कि कीचक मारा गया तब उसे पाण्डवों के विराटपुर रहने का सन्देह हुआ। उसने विराट नगर पर चढ़ाई की। उसे घेर लिया। अर्जुन और भीम ने भी उसकी सेना से लड़कर विराट की गौवें छुड़ा लीं। सबको मालूम तो हो गया, पर तब तक पाण्डवों के अज्ञातवास के दिन भी पूरे हो चुके थे। इसलिए दुर्योधन की आशा अधूरी रह गयी। उधर विराट को जब पाण्डवों के अज्ञातवास का हाल मिला, पाण्डवों से परिचय हुआ तो मित्रता का भाव और बढ़ गया। अन्त में मित्रता रिश्तेदारी में दाखिल हो गयी। विराट की लड़की उत्तरा के साथ अर्जुन के पुत्र अभिमन्यु का विवाह हो गया।

पाण्डवों की विपत्ति के दिन इस तरह से पूरे हो गये। वे अपने नष्ट राज्य का फिर से उद्धार करने की फिक्र में लगे। युद्ध की तैयारियाँ होने लगीं। कृष्ण से युधिष्ठिर ने राय ली कि अब हम लोगों को क्या करना चाहिए। धर्मानुसार कृष्ण ने पहले पाण्डवों को सुलह कर लेने का उपदेश दिया। पाण्डव राजी हो गये। परन्तु सुलह में कोई शर्त भी होती है। वह शर्त श्रीकृष्ण के विचारों पर रख दी गयी। तय हुआ कि पहले किसी को भेजकर दुर्योधन के अभिप्राय का पता लेना

चाहिए। इसी फैसले के अनुसार कार्यारम्भ किया गया।

पहले पांचाल महाराज के पुरोहित को भेजना उचित समझा गया। वे गये, भीष्म-द्रोण ने उनका यथोचित आदर किया। सभा में दूसरे-दूसरे राजाओं-महाराजाओं और नीतिज्ञों के सामने उन्होंने पाण्डवों की अभिलाषा जाहिर की। उन्होंने कहा, "आप लोग सनातन धर्म की मर्यादा के रक्षक और मर्मज्ञ हैं। मैं आप लोगों को पाण्डवों की राज सम्बन्धी इच्छा सूचित करता हूँ। आप लोगों को विदित है कि धृतराष्ट्र और पाण्डु इन दोनों भाइयों को राज्य का बराबर हक है। परन्तु पाण्डवों को उनका पैत्रिक राज्य नहीं दिया गया। आप लोगों को यह भी मालूम है कि धृतराष्ट्र ने उनका बहुत-सा हक पहले ही से दबा रखा है। उनके लड़कों ने पाण्डवों के प्राण लेने में कोई कसर नहीं रख छोड़ी। भीम को जहर दिया गया, लाख-भवन में बेचारों को जीते ही जला देने की चेष्टा की गयी, शकुनि की सहायता से जुए में उनके साथ बेईमानी की गयी, उनकी धर्मपत्नी की आबरू तक उतारने के लिए दुर्योधन वगैरह तुल गये, वन में उन्हें लांछित करने के अभिप्राय से भेजा गया, विराट नगर में जहाँ नौकर की हैसियत से, पिंजड़े के शेर की तरह महादु:ख से उन्हें दिन गुजारने पड़े थे, चढ़ाई करके उनका पीछा किया गया। पग-पग पर उन्हें बेइज्जती और अपमान सहते आना पड़ा है। अब वे चाहते हैं कि उनका हक उनको दे दिया जाय। वे शान्ति से काम लेना चाहते हैं। आपस में बैर करना उन्हें पसन्द नहीं है। वे हर तरह से पराक्रमी हैं, लोहा लें तो आसानी से अपना राज्य ले सकेंगे। भीम का पराक्रम आप लोगों को मालूम है। नकुल, सहदेव को आप अच्छी तरह जानते हैं कि लड़ाई में कभी पीठ नहीं फेरते। सात्यकि, धृष्टद्युम्न की शूरता भी आप सुन चुके होंगे। उनके साथ सात अक्षौहिणी सेना लड़ने के लिए तैयार है, जिनमें एक-एक महारथी ऐसे हैं जो अकेले आपकी ग्यारह अक्षौहिणी सेना को परास्त कर सकते हैं। महावीर अर्जुन की कीर्ति छिपी हुई नहीं है। अस्तु, वे प्रार्थना करते हैं कि उनका प्राप्य हक शान्तिपूर्वक उन्हें दे दिया जाय। बैर का फल बड़ा कटु होगा।"

पुरोहित अपना सन्देश सुनाकर चुप हो रहे। सभा में कुछ काल के लिए सन्नाटा छा गया। कुछ लोग नत-नेत्रों से विचार करने लगे। कुछ ने एक-दूसरे के कानों में बतलाना शुरू कर दिया। उस सभा में भीष्म भी थे। पुरोहित की उचित बातों की उन्होंने प्रशंसा की। कहा, "आप सत्य कहते हैं। धर्मबल से पाण्डवों ने अपने सम्पूर्ण कष्ट झेल लिये। आपका यह आज्ञा करना भी बहुत सच है कि अर्जुन का सामना करनेवाला संसार में इस समय कोई नहीं है। मनुष्यों की तो बात ही क्या, साक्षात इन्द्र भी उनका सामना नहीं कर सकते। उनसे बैर करना हरगिज अच्छा न होगा। उनका हक उनको दे देना ही ठीक है।"

भीष्म की बातें कर्ण न सह सके। उनकी नसों में बिजली-सी दौड़ने लगी, खून खौल उठा। कहा, "ब्रह्मन्, सुनिए, अधर्माचरण यहाँ पाण्डव खुद कर रहे हैं। महाराज दुर्योधन ने अधर्म को आश्रय नहीं दिया। युधिष्ठिर के बिना इच्छा के कभी द्यूत-

क्रीड़ा नहीं हुई। जुए की शर्त के अनुसार युधिष्ठिर अपना राज्य हार चुके हैं। क्या पाशे में धर्म नहीं था? जबरन उनसे राज्य छीन लिया गया है? वे वनवास के लिए गये तो क्या किसी ने उन्हें दिया था? आखिर शर्त पर ही तो हारे थे? उसी तरह राज्य शर्त पर हारे। अब क्यों उसके लिए हाथ फैलाते हैं? क्या यह धर्म है? धर्म की डींग हांककर यह सरासर अन्याय किया जा रहा है और महाराज दुर्योधन पर अपने बल का सिक्का जमाया जा रहा है। जिसकी लाठी, उसकी भैंस, इसे ही कहते हैं। लेकिन इस तरह रोब गाँठने से काम न होगा। महाराज दुर्योधन भी ऐसे डरपोक नहीं हैं, कि आँख दिखाने से राज्य छोड़ दें, न ये अपने को उनसे किसी तरह कमजोर समझते हैं। पाण्डव जितना बनते हैं, महाराज दुर्योधन वास्तव में उनसे कहीं बढ़े-चढ़े उदार हैं। वे अगर कृपा करने के लिए कहें, दीनतापूर्वक हाथ जोड़कर माँगें, तो महाराज दुर्योधन अपना सर्वस्व तक उनको दे सकते हैं। परन्तु स्मरण रहे, आँख दिखाने से वे एक फटी कौड़ी भी न देंगे।"

कर्ण की आवेश में कही गयी तमाम बातों को सुनकर भीष्म ने कहा, "कर्ण, तुम्हारी बातों से अहंकार टपकता है। तुम न्यायपूर्वक वार्तालाप नहीं कर रहे हो। तुम अपने पक्ष को बहुत बली सिद्ध करना चाहते हो। पाण्डवों को कहते हो कि आँखें दिखाकर राज्य लेना चाहते हैं। यह अहंकार नहीं तो क्या है? क्या अकेले अर्जुन ने छः महारथियों को विराटपुर में परास्त नहीं किया था? क्या उस समय तुम न थे? क्या पाण्डवों के बल की थाह उस समय तुमको नहीं मिली? क्यों, अकारण उत्तेजना फैलानेवाली बातों पर इस तरह बहक रहे हो? ब्राह्मण ने जैसा कहा है, अगर उसी के अनुसार हम लोग कार्य न करेंगे, तो इसका परिणाम बहुत बुरा होगा, इसमें कोई सन्देह नहीं है।"

सन्धि के प्रस्ताव पर कई दिनों तक बहस होती रही। परन्तु कुछ फैसला न हुआ कि क्या किया जाय! भीष्म और द्रोण आदि कौरवों के सच्चे हितैषियों की तो शान्ति स्थापना की ही इच्छा थी, परन्तु कर्ण और दुर्योधन आदि का इस ओर ज़रा भी रुख न था। वे बिना लड़ाई के एक बिस्वा जमीन भी नहीं देना चाहते थे। कई रोज तक सभाएँ हुईं, रोज इस प्रश्न पर तर्क और वाद-विवाद होते रहे। एक दिन धृतराष्ट्र के दरबार में कर्ण ने कहा, "महाराज, यह तो आपको मालूम ही हो चुका है कि न्यायानुसार पाण्डवों का कोई हक नहीं रहा। जिस राज्य के लिए वे इस समय त्योरियाँ बदल रहे हैं, उसे क्या वे दाँव पर रख नहीं चुके? रही पाण्डवों से डरकर उन्हें जीता हुआ हिस्सा देना, सो इसके लिए मैं आपसे एक निवेदन करना चाहता हूँ। भीष्म और द्रोण को जिस महापुरुष ने अस्त्र-शिक्षा दी है, वह मेरे भी आचार्य हैं। वे ब्राह्मणों के सिवा दूसरे को धनुर्विद्या नहीं सिखलाते थे। मुझे उन्हीं से शिक्षा प्राप्त करनी थी। उनके जाति-सम्बन्धी प्रश्न का मैंने झूठा उत्तर दिया। इस तरह उनसे धनुर्विद्या सीखी है। शिक्षा पूरी हो जाने पर उन्हें मेरी जाति का पता लग गया। उन्होंने मुझे शाप दिया। परन्तु मेरी सेवा पर सन्तुष्ट हो मुझे वरदान भी यथेष्ट दिया। उन्होंने मुझे कुछ ऐसे अस्त्र दिये हैं, जिनका प्रयोग मैं करूँगा तो

अर्जुन किसी तरह न बच सकेगा। अतः पाण्डवों का भय दूर कर दीजिए।"

कर्ण की आत्म-प्रशंसा से भरी इस तरह की बातें सुनकर महावीर पितामह भीष्म से न रहा गया। उन्होंने कहा, "कर्ण, वीरों को चाहिए कि दूसरे वीर की कद्र करे। तुम रथी हो, परन्तु अर्जुन महारथी है। उसका मुकाबला तुम कदापि न कर सकोगे। खाण्डव वन को अकेले अर्जुन ने दग्ध करा दिया। तेतीस करोड़ देवता उसका कुछ नहीं बिगाड़ सके। दूसरे अर्जुन के साथ भगवान् वासुदेव हैं। तुम्हें जो शक्ति मिली है, तुम वासुदेव के चक्कर में पड़ोगे तो वह निस्सार हो जायेगी। वह तुम्हें कोई काम न दे सकेगी। अर्जुन के दिव्य वाणों की तुम्हें खबर नहीं है। अपने वाणों से और वासुदेव की सहायता से अर्जुन संसार-भर के वाणों का सामना कर सकता है।"

अर्जुन की प्रशंसा सुनकर कर्ण की देह में आग लग गयी। क्रोध का पारा अपनी अन्तिम सीमा तक पहुँच गया। कर्ण झुँझलाकर उठे और कहा, "महात्मा भीष्म, वासुदेव के लिए आपने जो कुछ कहा है, मैं विनयपूर्वक स्वीकार करता हूँ। परन्तु अपने सम्बन्ध में मैंने जो कुछ कहा है, उसमें ज़रा भी अत्युक्ति नहीं थी। इस सभा में आज से मैं धनुष रक्खे देता हूँ। अब मैं भीष्म के जीवित रहने तक धनुष न उठाऊँगा। इनके बाद ही मैं वीरों को अपनी योग्यता का परिचय देना चाहता हूँ।"

यह कहकर महावीर कर्ण कौरवों की सभा से उठकर चले गये। भीष्म मुस्कुराये। दुर्योधन से स्नेहपूर्वक कहा, "राजन्, यह प्रतिज्ञा तो तुमने सुन ली। मेरा निधन जब तक न हो जायगा, तब तक कर्ण धनुर्धारण न करेंगे। अच्छा है। जब मैं न रहूँगा, तब कर्ण की वीरता का पता लगाना। परन्तु अगर तुम युद्ध करना ही मंजूर करोगे तो सुनो, मेरे रहते कोई तुम्हारी छाया भी स्पर्श न कर सकेगा और मैं द्रोण, विदुर, अवन्तिकाधिप, चेदिराज, जयद्रथ आदि के सामने प्रतिज्ञा करता हूँ कि अगर तुम युद्ध करना ही मंजूर करोगे, तो मैं जब तक संग्राम करूँगा, हर रोज अकेले दस हजार सेना का विध्वंस करूँगा।

सप्तम परिच्छेद

भीष्म की सत्यनिष्ठा

पाण्डव और कौरवों में शान्ति स्थापना के उद्देश्य से इस बार भगवान वासुदेव कौरवों की सभा में गये। भीष्म ने उनका आदरपूर्वक स्वागत किया। श्रीकृष्ण ने दुर्योधन को वैर का परिणाम अच्छी तरह समझाया। भाई का हक भाई को दे देना चाहिए, इस पर अनेक प्रकार के तर्क और युक्तियाँ दर्शायीं। कुछ फटकारा

भी। कहा, "अगर सन्धि के प्रस्ताव में तुम राजी न होगे; तो लोग कहेंगे कि तुमने नीचता की। ऐसा कार्य नीच जनोचित हुआ करता है। तुम्हें अपयश होगा। अगर तुम अपने हठ पर अड़े रहोगे, तो क्षत्रिय वंश का लोप हो जायगा। विधवाओं के हाहाकार से देश की श्री जाती रहेगी, घोर अनाचारों को प्रोत्साहन मिलेगा। शक्ति से रहित होकर देश स्वधर्म रक्षा से विमुख होगा। अगर पाण्डवों से तुम्हारी मैत्री हो जायगी, तो तुम्हारे संसर्ग-दोष मिट जायँगे। अभी तुम अपने-आपको धोखा दे रहे हो। तुम चाहते हो कि कर्ण, शकुनि और दुःशासन तुम्हारे राज्य का प्रबन्ध करें और तुम सुख के स्वप्न में मग्न रहो। यही तुम्हारी आत्मा को पतित कर रहा है। दूसरे जिनका तुम्हें भरोसा है, वे पाण्डवों के सामने ठहर न सकेंगे। केवल इतना ही नहीं, तुम्हारी सम्पूर्ण सेना क्रुद्ध भीमसेन की ओर आँख उठाकर ताक भी न सकेगी। तुम्हारी सम्पूर्ण सेना और द्रोण, कर्ण, कृपाचार्य, अश्वत्थामा, भूरिश्रवा, सोमदत्त और जयद्रथ आदि अर्जुन के सामने फूक से उड़ जानेवाले तिनके हैं। सुरासुर भी अर्जुन के विरुद्ध अस्त्र धारण नहीं कर सकते।

श्रीकृष्ण की बातें समाप्त हो जाने पर भीष्म ने दुर्योधन को समझाया कि पाण्डवों को आधा राज्य दे देना चाहिए। द्रोण और कृपाचार्य ने भी भीष्म की बातों को दुहराया। पर दुर्योधन टस से मस न हुआ। श्रीकृष्ण की अप्रिय बातों से कौरव नरेश महाराज दुर्योधन की देह में आग लग गयी। शब्दों से उसकी ज्वाला निकलने लगी। कहा, "केशव, हम लोग आपकी इज्जत करते हैं। आपकी कभी भी शिकायत नहीं करते। लेकिन आप तो ऐसी बातें कहते हैं जैसे पाण्डवों ही में से एक हों। क्या यही आपकी समदर्शिता है? आप पहले हमें समझाइये कि युधिष्ठिर जब जुए में राज्य हार गये, तब फिर उनका क्या हक रह गया जो वारम्वार उसके लिए पैगाम आ रहा है। जब युधिष्ठिर जुए में हारे थे, तब क्या कोई और युधिष्ठिर थे? आप पाण्डवों के बाहुबल की तारीफ करते हैं, लेकिन आपको मालूम होगा कि अकेले पितामह भीष्म पाण्डवों की धज्जियाँ उड़ाने के लिए काफी हैं। द्रोण और कर्ण के मुकाबले में क्या कोई पाण्डव ज़रा भी ठहर सकता है? राज्य का लोभ वे छोड़ दें। राज्य मेरे पिता का है। पहले जो आधा राज्य हमने बाँट दिया था, हमारी अज्ञता के कारण वैसा हो गया था। हम बालक थे। हमें बुद्धि नहीं थी। अब हम अपने पिता के राज्य का एक टुकड़ा भी न देंगे।" यह कहकर क्रोध के मारे दुर्योधन सभा से उठकर चला आया। श्रीकृष्ण का अपमान भीष्म से सहा न गया। उन्होंने दुर्योधन को बेतरह फटकारा। धृतराष्ट्र से दुर्योधन की धृष्टता का समाचार कहा। गान्धारी को बुलाकर दुर्योधन को दण्ड देने की धृतराष्ट्र ने आज्ञा दी। इससे दुर्योधन लज्जित हो गया। उसने अपने मित्रों को बुलाकर परामर्श किया कि कृष्ण को कैद कर लिया जाय। अगर कृष्ण को हम लोग यहाँ बाँध लेंगे, तो पाण्डव मणि-विहीन सर्प की तरह निस्तेज हो जायँगे। इसलिए राजा धृतराष्ट्र भी चाहे बकते रहें, पर हम लोग कृष्ण को जरूर कैद करें।

दैवयोग से दुर्योधन का अभिप्राय सात्यकि को मालूम हो गया। उसने कृतवर्मा

को अपनी सेना सुसज्जित करने की आज्ञा दी और खुद श्रीकृष्ण को खबर देने के लिए चला।

सभा में खलबली मच गयी। भीष्म, द्रोण, धृतराष्ट्र सबको दुर्योधन की नीचता मालूम हो गयी। श्रीकृष्ण मुस्कुराने लगे। विदुर श्रीकृष्ण की अतीत कीर्ति का गुण-गान करने लगे। धृतराष्ट्र को इच्छा हुई कि श्रीकृष्ण के विराट रूप का दर्शन करें। श्रीकृष्ण ने उन्हें दिव्य दृष्टि देकर उनकी लालसा पूरी की---और सभा से निकलकर विदुर के यहाँ आश्रय लिया। फिर दुर्योधन के यहाँ जल ग्रहण भी नहीं किया।

श्रीकृष्ण लौट आये। निश्चय हुआ कि अब युद्ध अनिवार्य है। दोनों ओर तैयारियाँ होने लगीं।

दुर्योधन ने भीष्म को सेनापति बनाया। उसे दृढ़ विश्वास था कि पितामह के सामने संसार की कोई शक्ति नहीं खड़ी रह सकती। उनका अमित विक्रम संसार प्रसिद्ध है। भीष्म और द्रोण दोनों यदि धनुर्धारण करेंगे, तो पाण्डवों की फिर एक न चलेगी। दुर्योधन ने भीष्म से कहा, "पितामह, मुझे दोनों पक्ष के रथियों और महारथियों के नाम लेकर बतलाइये, कौन रथी है, कौन महारथी।"

भीष्म बोले, "दुर्योधन, दोनों दलों में हजारों की संख्या में रथी और महारथी मौजूद हैं। तुम सौ भाई रथी हो। तुम सेना के अग्रभाग में रहना। तुम्हारे वीर भाइयों को पांचालों के साथ लड़ना है। मुझे विश्वास है कि ये उन्हें मारेंगे। मैं तुम्हारे सेनापति का पद ग्रहण करता हूँ। पाण्डवों को मैं युद्ध में कुछ नहीं समझता हूँ। भोजराज कृतवर्मा महारथी हैं। अपने सगे भानजों का साथ छोड़कर ये तुम्हारी मदद करने के लिए आये हैं। वासुदेव से ये सदा स्पर्धाभाव रखते हैं। निस्सन्देह ये शत्रुओं की बहुत बड़ी क्षति करेंगे। तुम्हारे मित्र भूरिश्रवा और सोमदत्त भी महारथी हैं। ये भूखे शेर की तरह तुम्हारी शत्रु-सेना पर टूट पड़ेंगे। इनसे हमें बहुत आशा है। सिन्धुराज जयद्रथ दो रथियों के बराबर हैं। द्रौपदी का हरण कर पाण्डवों द्वारा इनका अपमान होने पर इन्होंने जंगल में शिवजी की कठोर तपस्या की थी। इन्हें वर मिला है। अब इनके लिए बदला लेने का उपयुक्त समय आ गया है। अपने शत्रु का भाव स्मरण करके ये पाण्डवों को पूरी क्षति पहुँचावेंगे। कांबोज देश के एकरथ सुदक्षिण भी तुम्हें काफी मदद देंगे। उनका पराक्रम युद्ध-क्षेत्र में प्रत्यक्ष करना। वे अस्त्र-विद्या में बड़े कुशल हैं। माहिष्मती के महाराज नील रथी हैं। सहदेव से इनकी शत्रुता है। अवन्तिदेश के विन्द और अनुविन्द भी बड़े वीर हैं। त्रिगर्त के पाँचों भाइयों में सत्यरथ प्रधान हैं। भीम और अर्जुन के दिग्विजय का बदला लेने के लिए इनके अंग फड़क रहे हैं। तुम्हारे पुत्र कुमार लक्ष्मण और दुःशासन के पुत्र का नाम रथियों में लिया जाता है। इनसे तुम्हारे कितने ही कार्य पूरे होंगे। तुम्हारे मामा शकुनि रथी हैं। ये भी युद्ध-क्षेत्र में आग भड़कावेंगे।

"सबसे तारीफ की बात यह है कि इनकी सेना बड़ी तेज चलनेवाली है। मोर्चे

पर डटकर वह फिर पीछे नहीं हटती। लड़ाई में इनसे विजय की आशा आकाश-कुसुम-तुल्य है। अश्वत्थामा तुम्हारे दल में अद्वितीय धनुर्धर हैं। इनके वाणों की गति कभी रुक नहीं सकती। ये अर्जुन के समान योद्धा हैं। ये चाहें तो तीनों लोकों को दग्ध कर सकते हैं। इतने बड़े वीर होने पर भी इनमें एक बहुत बड़ा दोष है। इन्हें अपने प्राणों की बड़ी ममता है। इसलिए कभी उत्साहपूर्वक ये लड़ते नहीं। इसलिए मैं इन्हें रथी या महारथियों की श्रेणी में नहीं रखना चाहता। अगर यह दोष इनमें न रहता तो दोनों दलों में इनका मुकाबला करनेवाला कोई न था। इनकी शक्ति की थाह नहीं है। ये अकेले सुरासुर को भी परास्त कर सकते हैं। महावीर द्रोण अतिरथ हैं। ये सबके आचार्य हैं। वृद्ध होने पर भी इनके समान वीर दूसरा नहीं है। इनसे तुम्हारे शत्रुओं का नाश होगा। परन्तु धनंजय इनके प्रिय शिष्य हैं। इसलिए वीर शिष्य के गुणों का स्मरण करके ये कभी उसका नाश न कर सकेंगे। ये चाहें तो अकेले संसार का नाश कर सकते हैं।

"पौरव रथी हैं। ये पांचालों से बदला लेंगे। सत्यश्रवा एकरथ हैं। कर्णपुत्र वृषसेन महारथ हैं। ये तुम्हें बड़ी मदद देंगे। महावीर वाह्लीक महारथ हैं। ये कभी पीठ नहीं देते। युद्ध-क्षेत्र में ये साक्षात कृतान्त की मूर्ति धारण कर लेते हैं। राक्षस फलम्बुस महारथ हैं। पाण्डवों के साथ लड़ाई करने के लिए दिन-रात तुम्हें उभाड़ते रहनेवाले कर्ण जितनी बड़ी-बड़ी वातें मारते हैं, उस तरह वे कार्य नहीं कर सकते। ये दूसरों का भला नहीं देख सकते। इनकी प्रकृति नीच है। मेरे विचार से ये अर्द्धरथ हैं। जितनी लड़ाइयाँ हुईं, ये सबमें भागे। अर्जुन के साथ सामना होगा तो ये हरगिज जीवित न लौटेंगे।"

भीष्म की बातों में कोई पक्षपात न था। उन्हें पक्षपात की परवा न थी। वे धुरन्धर ज्ञानी और तीनों लोक में अजेय थे। कर्ण के सम्बन्ध में उन्होंने ईर्ष्यावश होकर कर्ण की निन्दा न की थी। आचार्य द्रोण ने भी पितामह के विचार पर अपनी सम्मति दी। वे भी कर्ण को अर्द्धरथ से ज्यादा मानने को तैयार न थे। परन्तु कर्ण से न सहा गया। वे उसी समय भीष्म का विरोध करने लगे। दुर्योधन को समझाया कि पितामह पक्षपात कर रहे हैं। इनसे तुम्हें किसी प्रकार की आशा न रखनी चाहिए। जो मनुष्य अधिक वृद्ध हो जाता है, उसकी अक्ल मारी जाती है। मैं अकेले पाण्डवों का संहार करूँगा। परन्तु भीष्म के जीते-जी मैं धनुर्ग्रहण न करूँगा।

भीष्म ने कहा, "कर्ण, तुम निरे बच्चे की तरह बातें कर रहे हो। मैं जानता हूँ, लड़ाई से पहले सेना का सम्पूर्ण भार मेरे सिर पर रक्खा जायगा। तुम मुझे नहीं पहचानते। मैं कभी पक्षपात नहीं करता। मेरे सेनापतित्व में जो लड़ाई होगी, उसे याद रखना। मैं किसी का पक्ष हरगिज न लूंगा। लड़ने और धनुर्धारण करने का मौका भी मैं तुम्हें दूंगा। उस समय समर-कौशल का अन्दाजा लगा लेना। मैं युद्ध में अपना पूरा बल न लगाऊँगा। क्योंकि तुम्हारी युद्ध-लालसा अधूरी रह जायगी। लोगों को तुम्हारी वीरता को देखने का मौका न मिलेगा। कर्ण, तुम नहीं जानते कि महावीर परशुराम के संसार को भस्म कर देनेवाले अस्त्र भी मुझे डरा नहीं

सके। इक्कीस वार पृथ्वी को क्षत्रिय-रहित करनेवाले उस महावीर को भी अस्त्र रखना पड़ा था। वे अपने बल और प्रताप का मुझ पर प्रभाव नहीं डाल सके। मैं अब अपनी बड़ाई न करूँगा। तुम जिन पाण्डवों से इतना विरोध-भाव रखते हो कल ज़रा उनका सामना करो। देखें भला, तुम नहीं भागते।"

कर्ण को दुर्योधन ने शान्त कर लिया। भीष्म अब पाण्डवों के रथियों और महारथियों की संख्या बतलाने लगे। कहा, "युधिष्ठिर रथी हैं। भीम अकेले आठ रथियों के बराबर हैं। उन्हें दस हजार हाथियों का बल है। नकुल और सहदेव रथी हैं। दोनों पक्षों में अर्जुन के समान वीर और रथी कोई नहीं है। अब की तो बात ही क्या, पहले भी उनके समान सुरों, असुरों, नागों और यक्ष-रक्ष-दानवों में कोई वीर नहीं हुआ। भविष्य में भी न होगा। अर्जुन को सहायता भी बहुत मिली है। वीरत्व के सभी साधन एकत्र हो गये हैं। गाण्डीव, अश्व, कवच, अक्षय, तूणीर देवताओं के दिव्य अस्त्र, भगवान् भूतनाथ का पाशुपत, वासुदेव और ध्वजा पर साक्षात् महावीर पवन-नन्दन। द्रौपदी के पाँचों पुत्र महारथ हैं। महावीर अभिमन्यु अर्जुन और वासुदेव की तरह बलवान हैं। इनकी वीरता की शतमुखों से भी प्रशंसा नहीं हो सकती। पिता और पितृव्यों के कष्टों का स्मरण करके ये युद्ध में अपूर्व पराक्रम प्रकट करेंगे। इन्हें बालक मात्र न समझ लेना। इनसे सदा होशियार रहना महावीर सात्यकि रथी हैं। वृष्णि-वंशियों में ये सबसे बढ़े-चढ़े हैं और समर-क्षेत्र में क्रोधरहित होकर लड़ते हैं। महावीर द्रुपद और विराट महारथी हैं। पांचाल-पुत्र शिखण्डी रथियों का नायक है। द्रोण के शिष्य धृष्टद्युम्न महारथी हैं। प्रलय के समय भगवान शंकर जिस तरह सृष्टि का संहार करते हैं, ये उसी तरह तुम्हारी सेना का संहार करेंगे। महाराज क्षत्रदेव, सत्यजित, अज, भोज, चेकितान, सत्य-धृति, ये सब रथी हैं। क्षुधित शार्दूल की तरह ये तुम्हारी सेना पर आक्रमण करेंगे। लेकिन चिन्ता न करो, मैं सोमक और पांचालों को अवश्य मारूँगा।"

अष्टम परिच्छेद

महाभारत के युद्ध में

प्रातःकाल की लालिमा नित्य की तरह सुप्तोत्थित जीवों में चेतना का संचार कर रही थी। उनमें नवीन स्फूर्ति भर रही थी। आज से भारत के इतिहास का एक दूसरा युग बदलनेवाला था। प्रकृति के मनोभावों में उसके भाग्य की करुण-कथा प्रकट हो रही थी। परन्तु युग को रोकनेवाला कोई न था। सब-के-सब प्रकृति के हाथों के खिलौने थे। इस युग का आवाहन करने के लिए ही मानो यह महासमर हो रहा

था। भीष्म इस पतन-युग के प्रधान पुरुष और दुर्योधन आवाहन करनेवाला प्रधान पुरोहित था।

कुरुक्षेत्र में दोनों ओर की सेनाएँ डट गयीं। सेनापति अपनी-अपनी सेनाओं को सुशृंखलित करने लगे। महाराज युधिष्ठिर की आँखों में समर का भावी चित्र जो खिंचा, वे धैर्यपूर्वक उसे देख न सके। आँखों में आँसू भर आये। परन्तु कोई उपाय न था। वे सबकुछ कर चुके थे। दुर्योधन की हठकारिता पर आज यह इतनी बड़ी और युगों तक लगातार भारत को पतन के गढ़े में ढक लेनेवाली आँधी उठने को थी। धीर पुरुष की तरह परिणाम समझकर चुपचाप उन्होंने आँसू पोंछ लिये। इसके बाद एकाएक उछलते हुए सागर की तरह दोनों सेनाओं को देख, न जाने क्या सोचकर उन्होंने अपना धनुष तूणीर और कवच खोलकर रख दिया और पैदल कौरवों की सेना की ओर चल पड़े। देखकर भीम, अर्जुन, नकुल, सहदेव आदि को बड़ा आश्चर्य हुआ। सब रोकने के लिए दौड़े। परन्तु युधिष्ठिर ने किसी की न सुनी। सीधे कौरवों की सेना की ओर चले गये। कौरवों को यह देखकर बड़ा कौतूहल हुआ। कोई-कोई तो उन्हें डरकर आया हुआ समझकर आपस में पाण्डवों की कायरता पर फब्तियाँ उड़ाने लगे।

युधिष्ठिर सीधे पितामह भीष्म के रथ की ओर बढ़ते गये। उनके साथ उनके भाई भी हो गये थे। भीष्म के सामने सबने भूमिष्ठ होकर प्रणाम किया और आशीर्वाद देने की प्रार्थना की।

भीष्म ने कहा, "युधिष्ठिर, तुम धर्मात्मा पुरुष हो। तुम्हारी विजय होगी। अगर तुम मेरे पास न आते तो हम तुम्हें आसीस देने के बदले शाप देते। परन्तु तुमने यथार्थ ही धर्माचरण किया है। इसलिए तुम्हें दबाने की शक्ति पराजित होगी। तुम्हारी दूसरी अभिलाषाएँ भी सफल होंगी। युधिष्ठिर, पुरुष अर्थ का दास है, परन्तु अर्थ किसी का दास नहीं। मैं कौरवों के अर्थ का ऋणी हूँ। इसका परिशोध मुझे करना ही होगा। मैं उनकी तरफ रहकर संग्राम करूँगा। परन्तु तुम निर्भय रहो। साक्षात् भगवान वासुदेव विजय के रूप में तुम्हारे साथ मौजूद हैं। तुम्हारी पराजय कभी हो नहीं सकती। तुम मेरे पास आये हो, युधिष्ठिर! आज मैं तुम्हें सर्वस्व तक देने के लिए तैयार हूँ। तुम वर की प्रार्थना करो।"

युधिष्ठिर ने कहा, "आप कौरवों की तरफ से होकर लड़ेंगे। मैं जानता हूँ, आपके हाथ में शरासन और वाण के रहते त्रिभुवन भी आपको पराजित नहीं कर सकता है। अगर आप कौरवों की ओर से युद्ध करेंगे तो फिर हम युद्ध में कैसे जीतेंगे?"

भीष्म ने कहा, "युधिष्ठिर, यह सच है, दोनों सेनाओं में मुझे पराजित कर सके ऐसा वीर नहीं है। स्वर्ग, मर्त्य और पाताल में भी ऐसा वीर नहीं है, समर में मेरे ऊपर जिसका प्रभाव पड़ सके। परन्तु तुम फिर कभी आओ। अभी मेरा मृत्यु-काल नहीं आया। मैं तुम्हें अपनी मृत्यु का भेद बता दूंगा।"

द्रोण, कृपाचार्य, शल्य आदि गुरुजनों को प्रणाम करके पाण्डव अपनी सेना में

आ गये। दोनों ओर थोड़ी देर के बाद एक विराट स्तब्धता छा गयी। दोनों ओर की सेनाएँ अपने-अपने सेनापतियों की आज्ञा के लिए सजग हो गयीं। सेनापति अपनी सेना को लेकर व्यूह-रचना करने लगे। दोनों ओर के शंख और रथ के घर्घर शब्द से आसमान गूँजने लगा। वीरों का क्षण-क्षण में सिंहनाद सुनायी देने लगा। इसी समय महावीर भीमसेन ने, साक्षात यम की तरह अपनी भयानक गदा लेकर इतने जोर से सिंहनाद किया कि उसके शब्द से शंख, मृदंग, मुरज और तुरही आदि बाजों की ध्वनि बिलकुल दब गयी। वह वज्र-गम्भीर ध्वनि सुनकर कौरवों की सेना सन्न रह गयी। इसी तरह बार-बार सिंहनाद करते हुए महावीर वृकोदर अपनी सेना के एक छोर से दूसरे छोर तक चक्कर मारते हुए उत्साह भरने लगे।

महावीर भीमसेन को सेना के बीच में खड़ा हुआ देखकर चारों ओर से कौरव-गण उन पर वाणों की वर्षा करने लगे। मेघ से ओट में हुए सूर्य की तरह भीमसेन वाणों के बीच में छिप गये। दुर्योधन, दुर्मुख, दुःसह, दुःशासन, अतिरथ, दुशेषण, विविंशति, चित्रसेन, विकर्ण, पुरमित्र, जय, भोज और सोमदत्त आदि महावीरों ने बड़ी तत्परता से शर-योजना कर विपक्षियों का सामना किया। गदा से गदा, तलवार से तलवार, वाणों से वाणों का घोर संघर्ष होने लगा। क्रोधपूर्वक छोड़े गये तीक्ष्ण धारवाले शर-समूह, आकाश मार्ग में उल्कापात की तरह इधर-उधर संचालित होने लगे।

कौरवों ने बड़ी वीरता दिखलायी। कदम पीछे को नहीं हटाया। महावीर भीष्म का प्रोत्साहन और सिंहनाद सुन-सुनकर कौरवों का उत्साह बढ़ता ही गया। महावीर अर्जुन की क्षिप्रता, सम्पूर्ण सेना पर दृष्टि, शर-योजना की सफाई और फुर्ती बड़े गजब की थी। महावीर भीष्म ने अर्जुन को सब जगह का प्रबन्ध करने से रोका, उन्हें बाधा दी। रथ बढ़ाकर उनका सामना किया। विश्वविश्रुत गाण्डीव-धारी अर्जुन ने भी वीर की तरह भीष्म का सामना किया। एक दूसरे की जान के प्यासे थे। पर कोई किसी को मोर्चे से एक पग भी हटा न सका। महावीर सात्यकि कृतवर्मा के साथ लड़ रहे थे और अभिमन्यु वृहदबल के साथ। वृहदबल ने अभिमन्यु की ध्वजा काट दी और सारथि का प्राणान्त कर दिया। महावीर सुभद्रा कुमार से अपनी दीनदशा देखी न गयी। उन्होंने तुरन्त धनुष पर वाण चढ़ाये और देखते-देखते अपना बदला ले लिया।

भीमसेन के साथ महाराज दुर्योधन का समर हो रहा था। युद्ध देखने लायक हो रहा था। दोनों दलों की सेना इन वीरों का अमित पराक्रम देखकर दंग हो गयी। दुःशासन के साथ नकुल, दुर्मुख के साथ सहदेव, मद्रराज के साथ महाराज युधिष्ठिर लड़ रहे थे। युद्ध की भीषणता उतरोत्तर बढ़ती जा रही थी। दोनों दलों में जय-पराजय किसी की नहीं हुई। अगणित सेना कट गयी। खून की धारा बह चली। परन्तु किसी दल ने पैर पीछे नहीं मोड़े। डटकर लोहा बजा रहे थे। इस विकट लड़ाई में न भाई भाई को कुछ समझता था, न पिता अपने पुत्र को, कुटुम्बियों और बन्धुओं की तो बात ही क्या है। पाँचों पाण्डव तो बिलकुल पागल-जैसे हो

रहे थे। बदला लेने की जो आग चौदह वर्ष से उनके अन्दर धीरे-धीरे सुलग रही थी, आज एकाएक बड़े वेग से जल उठी थी।

दोपहर तक अमित-विक्रम से युद्ध होता रहा। पाण्डवों ने अगणित विपक्षियों को चिरकाल के लिए इस संसार से विदा कर दिया। दुर्योधन की आज्ञा से महावीर दुर्मुख, कृतवर्मा, कृप, शल्य और विविशति भीष्म की सहायता के लिए गये। इन पाँचों को साथ लेकर महावीर भीष्म पाण्डवों की सेना के भीतर घुसकर उसका विनाश करने लगे। महावीर गांगेय ने कितने ही वीरों का प्राणान्त कर दिया। भीष्म को इस तरह सेना-संहार करते हुए देखकर महावीर सुभद्रा कुमार से न रहा गया। प्रबल पराक्रमी वीर अभिमन्यु ने अपना रथ बढ़ाकर भीष्म के सामने ले चलने के लिए सारथि को आज्ञा की। अकेले ये भीष्म और उसके सहायकों के साथ संग्राम करने लगे। देखते-ही-देखते अभिमन्यु ने कृतवर्मा को एक वाण मारा, पाँच वाणों से शल्य को बेधा और अपने प्रपितामह को नौ वाण मारे। एक वाण तो ऐसा अचूक मारा कि भीष्म की सुवर्ण-मण्डित ध्वजा कटकर गिर गयी। इसके बाद तेज तीरों से दुर्मुख के सारथि को घायल किया और कृपाचार्य का स्वर्ण-शरासन काट डाला। वीर अभिमन्यु पाँचों महारथियों और महावीर भीष्म से अकेले लड़ रहे थे। उनकी तेजी और निशाने पर अचूक वार करने की सफाई देख-कर देवता भी दाँतों अँगुली दबा रहे थे। उनका एक भी तीर व्यर्थ नहीं जाता, यह देखकर उन्हें अर्जुन का समकक्ष योद्धा कह भीष्म आदि उनकी प्रशंसा कर रहे थे।

अपने पक्ष की हेठी हुई देखकर महावीर भीष्म ने तीव्र वेग से उन पर आक्रमण किया और नौ वाणों से एक साथ उन्हें विद्ध कर दिया। इसके बाद उनकी ध्वजा काट दी और सारथि को भी कई वाण मारे। कृतवर्मा, कृपाचार्य, शल्य आदि ने भी कई चुभीले तीर मारे। बालक वीर अभिमन्यु इतने प्रहार के होने पर भी विचलित नहीं हुए। अपूर्व साहस के साथ वे अकेले छः महारथियों से लड़ रहे थे। अपने सारथि पर शराघात हुआ देखकर वे तत्काल उसका बदला लेने के लिए तुल गये। भीष्म के महास्त्रों को बीच में ही काटकर टुकड़े-टुकड़े कर दिया गया। फिर कई वाणों से भीष्म का बदला लेकर सिंहनाद करने लगे। महावीर भीष्म अपने कुल-दीपक की करनी देखकर मन-ही-मन प्रसन्न हो रहे थे। परन्तु अपनी हेठी का उचित उत्तर देने के लिए कई वाणों से एक साथ अभिमन्यु पर प्रहार किया। अभिमन्यु ने बीच ही में अपने बड़े बाबा के वाणों को काट डाला और बड़ी तेजी से नौ वाण भीष्म के रथ पर मारे। महारथी भीष्म की ध्वजा कट गयी। दोनों पक्ष में हाहाकार मच गया। दूर से भीमसेन ने भी अपने भतीजे की करनी देखी। वहीं से ललकार आवाज लगायी, "शाबास बेटा। खूब छकाया पितामह को, घबराना नहीं, मैं भी आ गया।"

ध्वजा के कट जाने पर भीष्म ने एक साथ हजार वाण अभिमन्यु पर छोड़ दिये। लोगों को इससे बड़ा आश्चर्य हुआ। पाण्डवों के पक्ष के दस महारथी एक

साथ अभिमन्यु की मदद करने के लिए आ गये। उधर से भीम भी आ पहुँचे। आते ही पितामह ने इनकी ध्वजा काट दी। भीमसेन ने बदला भी तुरन्त ले लिया। भीष्म को तीन, कृपाचार्य को एक और कृतवर्मा को आठ वाणों से घायल किया।

उधर महाराज विराट का पुत्र उत्तरकुमार मारा गया। उसके भाई श्वेत ने बड़ी वीरता दिखायी। भाई का बदला लेने के लिए खूब लड़ा। खून पर खून का वह जोश देखने लायक था। महावीर श्वेत ने शल्य का प्राणान्त भी कर दिया होता अगर दुर्योधन के साथ कुछ महारथी उसकी मूर्छित अवस्था में उसकी सहायता के लिए न पहुँच गये होते। इधर पाण्डवों के पक्ष को प्रबल देखकर महावीर भीष्म के ललाट में बल पड़ गये। उस समय उन्होंने ऐसी कुशलता दिखलायी कि दोनों दलों के वीर उनकी समरपटुता पर आश्चर्य प्रकट करने लगे। वैसी लड़ाई लोगों ने कभी न देखी थी। कितने ही रथी चिरकाल के लिए विदा हो गये। कितने ही हाथी, घोड़े और पैदल जवान भीष्म के प्रखर शरों के निशाने बन चुके थे। लगातार वाणों की वर्षा होती रही। भगवान सूर्य भी शरजाल से समाच्छादित हो गये। किसी को अपना-पराया न सूझता था। एक तो भीष्म के विषम प्रहारों से गगन-मण्डल मेघाच्छन्न-सा हो रहा था, दूसरे उनके तीव्र वेगशाली रथ की धूलि से और अन्धकार छा गया। शत्रु के सामने खड़े हुए भी वीरों को अपने शत्रु मित्र का ज्ञान न होता था। धनुष-टंकार और सिंहनाद के सिवा और कुछ सुनायी न देता था। इस भयानक-संग्राम में पाण्डवों के पक्ष से एक ही वीर गजब की लड़ाई लड़ रहा था। वे महारथी श्वेत थे। भाई की मृत्यु के पश्चात् साक्षात यम की तरह वे मृत्यु भय से रहित होकर शत्रुओं से लड़ रहे थे। उन्होंने हजारों रथियों का विनाश कर डाला। कौरव सेना उनसे डरकर भागने लगी। महारथी वीरगण भीष्म के पीछे अपने प्राण बचाने के लिए जा छिपे। सारे दल में हलचल मच गयी। अकेले श्वेत ने प्रलय मचा दी। इस महासमर में केवल भीष्म अटल अचल की तरह अपनी सेना में रथ पर डटे हुए थे। श्वेत की वीरता का आतंक फैल गया। कौरवों की सेना समर में हथियार छोड़कर भागने लगी। महावीर भीष्म अपनी सेना की यह दशा देख न सके। श्वेत के साथ भीष्म का महासमर होने लगा। उसी दिन पाण्डवों के पक्ष से श्वेत को सेनापति का पद मिला था और एक ही दिन में उसने अमर कीर्ति अर्जित कर ली थी। कई बार उसने महावीर भीष्म पर आक्रमण किया, धनुष और रथ की ध्वजाएँ काट दीं। परन्तु भीष्म इससे चंचल नहीं हुए। अन्त में उन्होंने अपने भीषण शरासन में ब्रह्मास्त्र की योजना कर श्वेत का प्राणान्त कर दिया। महावीर श्वेत के गिरने पर पाण्डव सेना में खलबली मच गयी। शाम भी हो आयी थी। उस दिन के लिए दोनों दलों ने लड़ाई बन्द कर दी।

नवम् परिच्छेद

भीष्म का अमित पराक्रम

इस तरह सात दिन तक प्रलय की आग में लाखों वीर हत हो गये। महावीर भीष्म की चोटों से पाण्डव सेना थर्रा उठी। उधर दुर्योधन का भी धैर्य जाता रहा। भीमसेन का भयानक आक्रमण कौरवों के लिए असह्य हो गया। कौरवों की लाखों की तादाद में सेना काम आयी। भीमसेन को कौरवगण साक्षात यम की तरह देखते थे। दुर्योधन के कई भाइयों को भीमसेन की भीषण मार से कूच कर जाना पड़ा। महावीर अभिमन्यु भी अपने ताऊ से कम न थे। केवल अर्जुन इस समर में उदास रहते थे। पाण्डवों के बलवीर्य पर दुर्योधन को बड़ी घबराहट हुई। विजय की आशा उसके हृदय से जाती रही। केवल पितामह की वीरता का स्मरण कर उसमें कुछ धैर्य रह गया था। सातवें दिन, समर के समाप्त होने पर, वह खिन्न भाव से पितामह के शिविर में गया और प्रणाम करके अपना क्षोभ प्रकट करने लगा। आँखों में आँसू आ गये। कण्ठावरोध हो गया। बड़े कष्ट से, अपने को सँभालकर कहा, "पितामह, आप संसार के सर्वश्रेष्ठ वीर हैं। शत्रुगण एक क्षण के लिए भी आपके सामने ठहर नहीं सकते। आप मेरे सहायक हैं। आपके रहते, मैं समझता हूँ कि इन्द्रादि देवताओं के साथ तमाम सुरासुर मण्डल को मैं परास्त कर सकता हूँ। परन्तु आपके रहते हुए भी मेरे कई भाइयों का निधन हो गया। पितामह, अब आप देर न कीजिए। शीघ्र ही पाण्डवों को परास्त कीजिए। आप पाण्डवों और सोमकों का निधन करके अपने सत्य की रक्षा कीजिए। अगर मेरे दुर्भाग्य से पाण्डवों का प्राणान्त करते हुए आपको किसी प्रकार का संकोच हो रहा हो, तो आप महावीर कर्ण को आज्ञा दीजिए। वे अवश्य ही पाण्डवों को पराजित करेंगे।"

महाराज दुर्योधन की बातों से भीष्म को बड़ी चोट लगी। उनका क्षात्रवीर्य प्रबल ज्वालामुखी की तरह धधकने लगा। परन्तु उनकी शक्ति अथाह थी। अपने मनोभावों को उन्होंने जाहिर नहीं होने दिया। धैर्यपूर्वक दुर्योधन को समझाते रहे। भीष्म ने कहा कि जब अकेले अर्जुन ने खाण्डव वन को जलवा दिया, तमाम देवता उनका कुछ न बिगाड़ सके, तब क्या तुम्हें पाण्डवों के पराक्रम की थाह न मिली थी? जब वन में तुम्हें गन्धर्वों ने बाँध लिया था और जिसके बल पर तुम इतना घमण्ड करते हो—वह कर्ण तुम्हें छोड़कर भाग गया था, भीम और अर्जुन ने तुम्हारी रक्षा की थी, उस समय तुम्हें क्या पाण्डवों के बल-विक्रम का पता नहीं लगा था? जब तुम लोगों ने विराट पर चढ़ाई की थी और अकेले अर्जुन ने सबके छक्के छुड़ाये थे, तब क्या तुम्हारी समझ में नहीं आया था कि पाण्डव कैसे बलवान हैं? तुम अब भी नहीं समझते, साक्षात वासुदेव जिसके सहायक हैं, वह अर्जुन समर में दुर्जेय है। जिस तरह मृत्यु के समय लोगों को सब पीला नजर आता है,

उसी तरह तुम्हें भी कुछ-का-कुछ दिखायी पड़ रहा है। तुम्हारा ज्ञान कहाँ है ? लेकिन, अगर तुम इतने बड़े आशावादी हो तो अच्छा है, कल तुम भी जी का हौसला पूरा करो और मैं भी कल अपनी शक्ति का परिचय दूंगा। कल का समर भारत के इतिहास में चिरस्मरणीय होगा। भीष्म कभी झूठ नहीं बोलते। दुर्योधन को विश्वास हो गया। वह आनन्दपूर्वक अपने शिविर की ओर चला गया।

इधर भीष्म अगले दिन समर क्षेत्र में उतरे। रह-रहकर घायलों और विधवाओं का विलाप सुनायी दे रहा था। भीष्म अधीर हो गये। परन्तु ईश्वर की इच्छा का, वे समझते थे कि प्रतिरोध करना असम्भव है। उधर वे प्रतिज्ञा कर चुके थे कि अगले दिन के महासमर में शत्रुओं का विनाश करेंगे। इसके लिए बड़ी देर तक मन-ही-मन चिन्ता करते रहे।

सुबह को दोनों दल व्यूह-रचना करके खड़े हो गये। दुर्योधन की आज्ञा से कई हजार रथी उस दिन भीष्म की मदद करने के लिए भेजे गये। चारों तरफ से महारथियों के विशाल व्यूह के अन्दर पितामह देवताओं में इन्द्र की तरह शोभा पाने लगे। उस दिन महावीर भीष्म ने सर्वतोभद्र व्यूह की रचना की। महावीर कृपाचार्य, कृतवर्मा, शैव, शकुनि, सिन्धुराज, काम्बोज-नरेश भीष्भ और दुःशासन वगैरह उस व्यूह के मुख पर रहे, महावीर द्रोण, भूरिश्रवा, शल्य और भगदत्त उसके दाहिनी ओर और महावीर अश्वत्थामा, सोमदत्त, विन्द और अनुविन्द उसके दोनों पार्श्व की रक्षा करने लगे। महाराज दुर्योधन त्रिगर्तों के साथ उसके मध्य भाग में रहे और महारथ राक्षस अलम्बुस और श्रुतायु उसकी पृष्ठ-रक्षा करने लगे।

इधर महाराज युधिष्ठिर, भीमसेन, नकुल और सहदेव अपनी सेना के अग्रभाग में और महारथ धृष्टद्युम्न, विराट, सात्यकि, शिखण्डी, अर्जुन, घटोत्कच, चेकितान और महावीर अभिमन्यु उस व्यूह के मध्य भाग में रहकर उसकी रक्षा करने लगे। दोनों ओर से संग्राम शुरू होने की सूचना शंख-ध्वनि द्वारा दी गयी। दोनों पक्ष के वीर अपनी-अपनी वाहिनी को यथोचित रूप से संचालित करने लगे।

महावीर अभिमन्यु ने पहले बढ़कर मोर्चा लिया। खाकी रंग के घोड़े दौड़ने में कमाल कर रहे थे। यह धावा दुर्योधन की ओर हुआ था। मेघों से अविश्राम गति से झरती हुई वारि-धारा की तरह वीर बालक अभिमन्यु की वाण-वर्षा हो रही थी। कौरव-वीरों ने लाख उपाय किये, पर उस अजेय बालक की गति को किसी तरह रोक नहीं सके। सेना को चीरता हुआ अभिमन्यु का रथ कौरवों के व्यूह के अन्दर चला गया। तीक्ष्ण शर-प्रहार से कौरवों की अगणित सेना कटकर गिरने लगी। उस दिन अकेले अगणित वीरों के अन्दर महावीर सुभद्रा कुमार शत्रु-संहार कर रहे थे। उन्हें रोकने के लिए महावीर द्रोण, कृपाचार्य, अश्वत्थामा और जयद्रथ आये। पर कोई ज़रा देर भी सामने न ठहर सका। अकेले अभिमन्यु ने सबको मोहित कर दिया। लोग दंग रह गये। सब कहने लगे कि यह बालक अपने पिता से भी ज्यादा बलवान है। विजयी वीर अभिमन्यु वार-वार शंख-ध्वनि

करते हुए अपने वीरों में उत्साह का संचार करने लगे।

लड़ते-लड़ते दोपहर हो गया। उस दिन भी अभिमन्यु और भीम ने कमाल की लड़ाई की। कौरवों की सेना तितर-बितर हो गयी। चारों ओर से अपनी-अपनी वाहिनी को सेनापतियों ने पुकारकर फिर शत्रु-दल का सामना करने के लिए उत्साह दिया। परन्तु सेना हिम्मत हार चुकी थी। मार खाते हुए सबके हौसले पस्त हो चुके थे। अपनी सेना का हाल देखकर भीष्म से न रहा गया। प्रलय-कालीन शंकर की तरह उसका रूप भयंकर हो गया। आँखों से ज्वाला निकलने लगी। शरासन साधकर महावीर भीष्म शत्रु-संहार के लिए तैयार हो गये। पहले महावीर सोमकों का सामना किया। तेज और चुभीले तीरों का सहना कठिन हो गया। भयंकर संग्राम होने लगा। एक साथ शत्रु पर पितामह ने एक लाख वाणों से प्रहार किया। बैल जैसे धान के खेत में घुसकर धानों का सत्यानाश करता है, उसी तरह महावीर भीष्म पाण्डवों की सेना को मर्दित करने लगे। शिखण्डी, धृष्टद्युम्न, विराट और द्रुपद ने एक साथ भीष्म को आकर घेर लिया। परन्तु महावीर पितामह के सामने टिक न सके। प्रहारों से शरीर जर्जर हो गया। सबकी देह से रुधिर की धारा बह चली। इनके बाद महावीर भीमसेन, युधिष्ठिर, द्रौपदी के पाँचों पुत्र, सात्यकि आदि आये। परन्तु पितामह के सामने ज़रा देर भी ठहर न सके। किसी का कवच कटा, किसी की ध्वजा, किसी का रथ चूर्ण हो गया, किसी के घोड़े मरे, सबकी दशा शोचनीय हो गयी। जान पड़ता है कि भीष्म ने आज साक्षात यमराज की मूर्ति का रूप धारण कर लिया है। रण क्षेत्र में रुधिर की नदी बह चली। वीर क्षत्रिय तैरकर नदी पार करते थे। कितने ही तो इस नदी को देखकर घबरा गये। उस महासंग्राम में बार-बार भीष्म का सिंहनाद सुनायी पड़ रहा था। पाण्डव सेना के चेहरे उतर गये। भीष्म की लड़ाई देखकर कौरवों की दूनी छाती हो रही थी। उस रोज भीष्म की स्फूर्ति, शर-सन्धान की दक्षता देखकर बड़े-बड़े वीरों की हिम्मत टूट गयी। बारह वाण भीमसेन के, नौ सात्यकि के, तीन नकुल के और सात सहदेव के लगे। युधिष्ठिर की बाँहों में चोट आ गयी।

महावीर भीष्म को पाण्डव सेना के महारथियों ने चारों ओर से घेर लिया था। परन्तु सिंह जिस तरह हाथियों के बीच में रहकर नहीं घबड़ाता, उसी तरह महावीर भीष्म को भी घिर जाने का भय न था। लगातार वाणों की चोट खाते हुए पाण्डव वीरों की समरसाध मिट चुकी थी। भीष्म से लड़कर विजय पाने की आशा जाती रही। सबके हाथ ढीले पड़ गये। किसी को हिम्मत नहीं पड़ती थी कि बढ़कर भीष्म का सामना करें। उनका प्रहार व्यर्थ न होता था। उनके तीरों को रोकने की शक्ति कवचों में न थी। मजबूत-से मजबूत कवच को पार करके वे शत्रु का संहार करके ही छोड़ते थे। पाण्डवों के प्रायः सभी वीरों की बुरी दशा हो गयी। सब वीर घायल हो गये। भागने की भी राह न मिलती थी। चारों ओर से शर-जाल में सब घिर गये थे।

भगवान वासुदेव से अपनी सेना की यह दशा न देखी गयी। उन्होंने अर्जुन को उभाड़ने के अभिप्राय से कहा, "अर्जुन, अब तुम्हारे युद्ध का अवसर आ गया है। जरा आँखें खोलकर देखो तो सही, कितनी सेना नष्ट हो चुकी। अब इस तरह मोह में न पड़ो। वीर, याद करो अपनी प्रतिज्ञा को। विराट नगर में तुमने कहा था, भीष्म, द्रोण आदि कौरवों का मैं संहार करूँगा। आज फिर क्यों तुम इस तरह ढीले पड़ रहे हो ? आज अपनी प्रतिज्ञा पूरी करो।"

श्रीकृष्ण ने अर्जुन को उभाड़ा तो, परन्तु इनके जी में लड़ने का हौसला न पैदा हुआ। उस समय भी उनकी आँखों से शीतलता की छाया दूर न हुई थी, हृदय में कुटुम्बप्रेम पूर्ण मात्रा में मौजूद था। धीमे स्वरों में उन्होंने कहा, "अच्छा, तुम कहते हो तो ले चलो रथ, भीष्म के सामने तुम्हारी बात की रक्षा तो करनी ही है।"

महावीर अर्जुन का रथ देखते-देखते भीष्म के सामने आ गया। धनंजय को आया देखकर युधिष्ठिर की सेना भीष्म के सामने से हट गयी। अर्जुन को देखते ही भीष्म सिंहनाद करने लगे। साथ ही, तीरों से तमाम दिग्मण्डल समाच्छादित कर दिया। शर-जाल के सिवा और कुछ भी न नजर आता था। वासुदेव निर्भय होकर भीष्म के शरों से आहत हुए घोड़ों को बढ़ाने लगे। भीष्म के वारों से बचकर रथ आगे बढ़ाना मुश्किल हो गया। श्रीकृष्ण मण्डलावर्त से रथ को बढ़ाने लगे। परन्तु चोटों से देह जर्जर हो गयी। महावीर अर्जुन ने बड़ी चेष्टा की, परन्तु भीष्म के अव्यर्थ बाणों को रोक न सके। श्रीकृष्ण और अर्जुन दोनों की देह कुसुमित किंशुक की तरह हो गयी। कपड़े लोहूलुहान हो गये। इतने पर भी अर्जुन को तीखी चोट करने की इच्छा न हुई। उधर भीष्म के प्रखर प्रहार में कोई रुकावट न थी। पाण्डवों की सेना को छत्र भंग और अर्जुन को युद्ध से पराङ्मुख देखकर श्रीकृष्ण से न रहा गया। उन्होंने घोड़ों की जोत छोड़ दी। और रथ से उतरकर एक पहिया उठा लिया और भीष्म को मारने के लिए बढ़ गये। क्रोध से आँखें लाल हो रही थीं, मुख से संहार की अखण्ड ज्योति निकल रही थी। योगेश्वर भगवान वासुदेव के क्रोधकम्पित पदक्षेपों से पृथ्वी काँप उठी। कौरवों की सेना में खलबली मच गयी। सब त्रस्त भाव से वह कराल मूर्ति निरीक्षण करने लगे। भीष्म की ओर उन्हें बढ़ते देखकर सब लोगों के मुख से एकाएक यही निकला कि भीष्म हत हो गये—अब किसी तरह भी नहीं बच सकते। वासुदेव को युद्ध के लिए आये हुए देखकर महावीर भीष्म भक्ति से विह्वल हो गये। आँखों से आनन्द की धारा झरने लगी। हाथ जोड़कर कहने लगे, "आओ प्रभु, मेरा संहार करो। मुझे आज तुमने प्रभूत सम्मान का अधिकारी कर दिया है। मुझ पर प्रहार करो। मैं तुम्हारा दास प्रस्तुत हूँ।"

श्रीकृष्ण के पीछे अर्जुन भी आ रहे थे। श्रीकृष्ण को इस तरह भीष्म के संहार के लिए बढ़ते हुए देखकर उन्हें बड़ी लज्जा आयी। उन्होंने श्रीकृष्ण को पकड़ लिया। परन्तु उस पकड़ी हुई हालत में भी अर्जुन को लेकर श्रीकृष्ण दस कदम

बढ़ गये । तब हाथ जोड़कर अर्जुन पैरों पर गिर पड़े । कहा, "श्रीकृष्ण, मेरी लज्जा रखो। तुमने कहा था, में युद्ध मैं अस्त्र धारण न करूँगा। तुम्हारी बात मिथ्या होगी । लौट चलो। संसार तुम्हें मिथ्यावादी कहेगा। तुम्हें कलंक की कालिमा लगे, यह मैं न सह सकूँगा । मैं शपथपूर्वक कहता हूँ, अब मैं पूरी शक्ति से युद्ध करूँगा । शत्रुओं का अवश्य ही विनाश करूँगा ।" अर्जुन श्रीकृष्ण को अपने रथ पर लौटा ले गये । भीष्म और अर्जुन का समर जारी हो गया। महावीर भीष्म सावन की वारिधारा की तरह लगातार वाणों की वर्षा करने लगे । अर्जुन ने चेष्टा तो बहुत की परन्तु शान्तनुनन्दन के अपराजेय विक्रम पर किसी प्रकार की बाधा न डाल सके । लाखों की तादाद में पाण्डवों की सेना काम आ गयी । हजारों महारथ योद्धा उस एक ही दिन की लड़ाई में चल बसे । लाखों की संख्या में सेना मैदान छोड़कर भाग गयी । भीष्म की ओर नजर उठाकर देखने की किसी में हिम्मत न थी । भगवान मरीचिमाली अस्ताचल में धँसने लगे थे । सेना भी थक गयी थी । सन्ध्या जानकर उस दिन के लिए समर बन्द कर दिया गया ।

दशम परिच्छेद

ब्रह्मचर्य का अखण्ड तेज

शाम हो गयी । सेनापतियों ने अपनी-अपनी सेना ले शिविर की ओर प्रस्थान किया । महारथ सोमकों का चेहरा उतर रहा था । महाराज युधिष्ठिर को भी चिन्ता हो रही थी । भीष्म की भयानक समर ज्वाला की याद कर-करके पाण्डवों का उत्साह घट रहा था। उधर कौरव-वाहिनी में उत्साह का सागर उमड़ रहा था । महाराज दुर्योधन को दृढ़ विश्वास हो गया था कि पितामह की सहायता से वह अवश्य ही पाण्डवों को पराजित कर देगा । सब वीर भीष्म को चारों ओर से घेरकर बैठ गये और उस दिन की लड़ाई की भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे ।

रात बीतने लगी। पाण्डवों को चिन्ता थी, आँख फिर कैसे लगे। बड़े-बड़े सरदार एकत्र होकर परामर्श करने लगे। बड़ी देर तक युक्तियों की लड़ाई होती रही । महाराज युधिष्ठिर को किसी बात का भरोसा न हुआ । उन्होंने श्रीकृष्ण की ओर देखकर कहा, "वासुदेव, अब पाण्डवों का नाश अनिवार्य है। आज भीष्म का पराक्रम देखकर हमारी विजय की आशा निर्मूल हो गयी है । अगर इसी तरह सेना-संहार जारी रहा तो चार ही दिन में भीष्म के हाथों सबके प्राण जायँगे । उनकी शक्ति को प्रतिहत करनेवाला हमारे दल में कोई नहीं है । उनकी ओर आँख उठाकर ताकने की भी हिम्मत नहीं होती, तीर चलाना तो दरकिनार रहा ।

"यदि साक्षात यम भी अपना दण्ड लेकर इस मैदान में आते, यदि वज्रपाणि इन्द्र आते, देवताओं में से कोई भी इस समर में यदि हमारा विरोध करते तो हमें उनसे लड़ने में कोई आपत्ति न थी। हम सहर्ष लोहा बजाते। उन्हें पराजित करने की शक्ति भी हममें थी। परन्तु केशव, भीष्म से अब हृदय हार गया। अब निश्चय है कि हमें प्राण ही देने पड़ेंगे, किन्तु विजय की आशा कोई नहीं रही।"

महाराज युधिष्ठिर की बातों का एक-एक शब्द करुणा से सराबोर हो रहा था। उन्हें धैर्य देते हुए भगवान वासुदेव ने कहा, "महाराज, आपके भाई संसार में अजेय हैं। तीनों लोक भी उनका सामना नहीं कर सकते। यदि आपको इनके बल पर सन्देह हो रहा है तो आप मुझे भी आज्ञा दीजिए। मैं सहर्ष अस्त्र ग्रहण करूँगा। आपके लिए मैं भीष्म से लड़ने को तैयार हूँ। आप विश्वास कीजिए, एक ही शर से मैं भीष्म का प्राणान्त कर दूँगा। अर्जुन मेरे मित्र हैं, सम्बन्धी हैं और शिष्य भी हैं। अगर अर्जुन को इस लड़ाई में उदासीनता हो रही हो, तो वे आज खुलासा कहें। कौरवों की सम्पूर्ण वाहिनी भीष्म को मेरे हाथों से बचा न सकेगा। मैं जरूर भीष्म को मारूँगा। महाराज, आपके शत्रु मेरे भी शत्रु हैं। आपकी विजय मेरी ही विजय है। मैं आपके लिए अपने अंग का मांस काटकर दे सकता हूँ। आप मुझे आज्ञा-मात्र दीजिए। पहले अर्जुन ने लोगों के सामने प्रतिज्ञा की थी कि मैं भीष्म का संहार करूँगा। अब वे अपनी प्रतिज्ञा से विरत हैं, तो भीष्म को मारकर मैं उनकी प्रतिज्ञा पूरी कर दूँगा। नहीं तो आज अर्जुन निश्चयपूर्वक कहें कि अब वे इस लड़ाई में कापुरुषोचित उदासीनता न दिखलायेंगे। महाराज, अर्जुन हिम्मत करें तो भीष्म के साथ संसार के बड़े-बड़े देवता और दानव भी अगर मिलकर लड़ेंगे तो अर्जुन से कभी विजय नहीं प्राप्त कर सकते। ये सबका संहार कर सकते हैं। महावीर भीष्म ने जब से कौरवों का पक्ष लिया है, तब से उनकी मति मारी गयी है। वे सत्वहीन हो गये हैं। चेतना अब उनमें बहुत थोड़ी रह गयी है। उन्हें कर्तव्याकर्तव्य का ज्ञान नहीं रहा।"

युधिष्ठिर ने कहा, "मधुसूदन, आपने यथार्थ ही कहा है। सम्पूर्ण कौरव दल भी तुम्हारी गति में बाधा नहीं डाल सकता। तुम मेरे पक्ष में हो, इसलिए विजय भी पहले ही से मेरे साथ आ गयी है। यह सब ठीक है। तुम प्रतिज्ञा कर चुके हो कि इस युद्ध में अस्त्र ग्रहण न करोगे। इसलिए तुम्हारे गौरव की हानि करके मैं अपनी विजय नहीं चाहता। भीष्म कभी मेरी तरफ से न लड़ेंगे। वे अब कौरवों की ओर से होकर ही लड़ेंगे। परन्तु उन्होंने प्रतिज्ञा की है कि मेरे हित के लिए उन्हें जैसा सूझेगा वे अवश्य करेंगे। इसलिए, इस समय उनके पास चलकर उनसे सलाह लेना बहुत आवश्यक है। वे कभी झूठ न कहेंगे। हम लोगों की विजय के लिए जो उपाय उन्हें सच्चा जँचेगा, वे अवश्य कह देंगे।"

बात तय हो गयी। वासुदेव श्रीकृष्ण को यह युक्ति बहुत पसन्द आयी। पाँचों पाण्डवों के साथ श्रीकृष्ण, भीष्म के शिविर की ओर चले। अस्त्र और कवच खोलकर भीष्म के पास पहुँचे और ससम्मान दण्डवत प्रणाम किया। महावीर

भीष्म ने सबको बैठने के लिए उचित आसन दिया। फिर स्नेहपूर्वक कहा, "केशव, कहो पाण्डवों की प्रीति के लिए हमें क्या करना चाहिए। इनके लिए कठिन-से-कठिन और दुष्कर-से-दुष्कर कार्य भी हम करने के लिए तैयार हैं।"

भीष्म के बार-बार पूछने पर महाराज युधिष्ठिर ने कहा, "पितामह, आप अगर इसी तरह हमारी सेना का संहार करते रहेंगे, तब तो हो चुका। हम कैसे अपना राज्य पावेंगे ? दीन-प्रजा के बचने का कोई उपाय भी फिर क्यों रह जायगा ? आप अब हमें अपने वध का उपाय बताइए पितामह ! लड़कर आपसे विजय पाने की हमारी आशा अब जाती रही। आपकी कोई त्रुटि भी तो नहीं नजर आती, वार हम कैसे करें।"

महाराज युधिष्ठिर की सरलता पर भीष्म मुस्कुराने लगे। कहा, "धर्मराज, तुम सच कहते हो, हमारे जीवित रहते तुम्हारी विजय कदापि न होगी। अच्छा, हम अपनी मृत्यु का उपाय बतलाते हैं, सुनो,---हम कभी निःशस्त्र, भागे हुए, ध्वजाहीन, गिरे हुए, डरे हुए, स्त्री-जाति, विकलांग, एक पुत्र के पिता अथवा शरणागत के साथ समर नहीं करते। उस पर भूलकर भी वाण नहीं छोड़ते। पहले हमने एक और प्रतिज्ञा की थी। वह यह कि अमंगल सूचक ध्वजा देखकर वार न करना। तुम्हारी सेना में शिखण्डी पूर्वजन्म का स्त्री है। वह अम्बा का अवतार है। उस पर मैं वार न करूँगा। उसे अपने सामने बैठाकर दृढ़ वर्म से अपनी रक्षा करके धनंजय मुझ पर वार करें। इस तरह तुम्हारी विजय अवश्य होगी।"

महाराज युधिष्ठिर श्रीकृष्ण और अपने भाइयों के साथ शिविर में चले आये। सब लोग बैठकर सलाह करने लगे। अर्जुन ने लज्जित होकर कहा, "श्रीकृष्ण, यह क्या है ? यह तो हमसे हरगिज न होगा। पितामह हमें कितना प्यार करते थे। पितामह की गोद में बैठकर हमारा हर अभाव दूर हो जाता था। कितने स्नेह से उन्होंने हमें पाला, पढ़ाया और शिक्षा के बाद मनुष्य और समझदार बनाया। जब हम पितामह की गोद में बैठ पितामह को सम्बोधन करते थे तब वे कितने स्नेह से कहते थे, बेटा, हम तुम्हारे पिता नहीं, तुम्हारे पिता के पिता हैं। हे केशव, हम कैसे उन पिता के पिता पर निर्दय होकर प्रहार करेंगे !"

श्रीकृष्ण ने देखा कि अर्जुन के हृदय से अभी कुटुम्ब प्रेम दूर नहीं हुआ। समझाते हुए उन्होंने कहा, "पार्थ, यह तुम्हारा स्नेह नहीं घोर मोह है। जब भीष्म-बध के लिए तुमने प्रतिज्ञा की थी, क्या उस समय पिता के पिता का स्नेह तुम्हें याद नहीं था ? तुम भूलते हो। अपना कर्त्तव्य भूलकर तुम धोखा खा रहे हो। भीष्म को तुम न मारोगे तो जय की आशा भी छोड़ दो।"

एकादश परिच्छेद

शर-शय्या पर

सूर्योदय हुआ। दोनों दल युद्ध क्षेत्र में डट गये। शंख, मृदंग, भेरी और सिंहनाद से आसमान गूँज उठा। पिछले दिन से कौरवों का दिल बढ़ा हुआ था। बड़ी फुर्ती से उन लोगों ने अपने व्यूह की रचना कर ली। पाण्डवों ने सैन्य-संगठन में आज नवीनता दिखायी। सबसे आगे शिखण्डी को रखा। भीम और अर्जुन पार्श्व रक्षा करने लगे। महावीर अभिमन्यु और द्रौपदी के पाँचों पुत्र भीम और अर्जुन की रक्षा में नियुक्त किये गये। इस तरह बड़े-बड़े वीरों ने अपनी वाहिनी को सुसंगठित कर लिया। उधर सबसे पहले थे महावीर भीष्म। द्रोण, अश्वत्थामा, कृपाचार्य, भगदत्त, कृतवर्मा आदि महाधनुर्धर उनकी पृष्ठ-रक्षा कर रहे थे।

दोनों दलों से शंख फूँककर सेनापतियों ने युद्धारम्भ की सूचना दी। दोनों दल अपने-अपने जोड़ से भिड़ गये। पाण्डवों ने आज बड़े वेग से आक्रमण किया। पिछले दिन भीष्म के हाथों उनके लाखों आदमी काम आ गये थे। कौरवों को पहले वार में ही विचलित होते देखकर भीष्म से न रहा गया। बड़े वेग से उन्होंने पाण्डवों पर वाण बरसाना आरम्भ कर दिया। चारों तरफ मण्डलाकार, इन्द्र-धनुष की तरह, वाण-ही-वाण दिखायी पड़ने लगे।

भीष्म का रथ दूसरी ओर बढ़ रहा था, ऐसे समय में शिखण्डी ने महावीर भीष्म की छाती पर लक्ष्य करके तीन वाणों से प्रहार किया। महावीर पितामह ने नजर फेरकर देखा तो सामने शिखण्डी देख पड़े। शिखण्डी के वाण भीष्म को सुई से जान पड़ते थे। किस कमजोर के मारे हुए वे तीर थे, इसे जानने के लिए ही उन्होंने मारनेवाले को देखा था। शिखण्डी को देखकर भीष्म मुस्कराने लगे। कहा, "शिखण्डी, तुम जी भर करके मुझ पर प्रहार कर लो। मैं तुम्हें इसका बदला न दूँगा। मैं किसी स्त्री को अपने विक्रम की परीक्षा नहीं देता। तुम भले ही शिखण्डी कहलाते रहो, पर मेरी दृष्टि में तुम शिखण्डनी ही रहोगे।"

अर्जुन और भीम शिखण्डी की बगल में ही थे। मौका पाकर अर्जुन ने कहा, "शिखण्डी, अब क्या देखते हो—लो पितामह को, छोड़ो मत, आज अवश्य इनका संहार करना होगा। घबराओ ज़रा भी नहीं, मैं तुम्हारे साथ ही हूँ। तुम आगे-भर रहो। द्रोण, अश्वत्थामा, कृपाचार्य, चित्ररथ, विकर्ण, दुर्योधन, जयद्रथ, विन्दु, अनुविन्द, सुदक्षिण, भगदत्त, मगधराज, सोमदत्त और सुशर्मा आदि ये जो भीष्म की रक्षा कर रहे हैं, इनकी ज़रा भी परवा न करो। ये तुम्हारा बाल भी बाँका न कर सकेंगे। मैं इनके वारों से तुमको बचाता रहूँगा।"

पाण्डवों की इतनी पेशबन्दी के रहने पर भी भीष्म के हाथों से होनेवाला उनकी सेना का संहार न रुक सका। महावीर भीष्म का दृढ़ ब्रह्मचर्य समरभूमि में

सूर्य की तरह उन्हें चमकीला कर रहा था। उनकी ओर ताकना मुश्किल हो रहा था। उनकी स्फूर्ति, उनकी लघुहस्तता, उनके वाणों की तीव्रगति, अनेक प्रकार से तीर छोड़ने की विद्या देखकर लोगों के होश उड़ गये। परन्तु दूसरे दिनों की तरह महावीर धनंजय आज निश्चेष्ट न थे। आज अर्जुन का पराक्रम भी सिन्धु में बड़वानल हो रहा था। दावाग्नि जैसे अगणित तरुवों को जलाकर खाक कर देती है, उसी तरह महावीर धनंजय की चुभीली चोटों से कौरवों की सेना परलोक मार्ग की यात्री हो रही थी। सिंह की गुरु-गर्जना सुनकर जंगल के दूसरे जीव मृत्यु की शंका से जिस तरह घबड़ाते हैं, महावीर अर्जुन को सिंहनाद करते हुए सुनकर कौरवों की भी वही दशा हो रही थी। बड़े-बड़े लड़ाके वीर भी अर्जुन के सामने से मैदान छोड़कर भागने लगे थे।

आज दसवें दिन की लड़ाई थी। दोनों सेनाओं में गजब का कोलाहल हो रहा था। कौरवों को दुर्योधन ने विश्वास दिलाकर पक्का कर दिया था कि आज पितामह से लड़कर पाण्डवों का नाश अवश्यम्भावी है। उधर पाण्डवों की सेना को अर्जुन की वीरता और पहले से की हुई प्रतिज्ञा पर पूरा विश्वास था। वे जानते थे कि आज महावीर अर्जुन के अपराजेय आक्रमण से बचकर दूसरे दिन के लिए मैदान में आना पितामह के लिए सर्वथा असम्भव होगा। इसके विचार मात्र से उनके शरीर मे पहले की अपेक्षा दूना बल, दूना उत्साह भर जाता था।

परन्तु भेड़ों के बीच में भेड़िये की तरह अर्जुन को अपनी सेना का संहार करते हुए देखकर महाराज दुर्योधन से न रहा गया। पितामह के निकट अपने जलते हुए हृदय की आह इन शब्दों में निकाली, कहा, "पितामह, सृष्टि को बहा देनेवाली सावन की जलधारा की तरह हमारी सेना पर अर्जुन की वाण-वर्षा हो रही है। खून की नदी बह रही है। जितनी सेना का संहार हो चुका है, अगर कुछ काल तक ऐसा ही क्रम जारी रहेगा, तो निश्चय ही बहुत थोड़ी सेना जीती बचेगी। आप इसके लिए अभी से कोई प्रबन्ध कीजिए। अर्जुन को रोकिए। नहीं तो आज ही सब स्वाहा हुआ जाता है।"

महावीर भीष्म ने कहा, "दुर्योधन! सुनो, मैं पहले की हुई प्रतिज्ञा के अनुसार अब तक अपना प्रण निभाता आया हूँ। रोज दस हजार सेना समर-क्षेत्र में मारने का प्रण पूरा होता रहा है। आज के लिए सुनो, मैं एक दूसरी प्रतिज्ञा करता हूँ। या तो आज सन्ध्या समय तक मैं पाण्डवों का वध करूँगा या खुद आज की लड़ाई में मिट्टी पर खींची हुई लकीर की तरह इस संसार से मिट जाऊँगा।"

महावीर दुर्योधन को पितामह की पहली प्रतिज्ञा का ही विश्वास हुआ। अपने प्रबल पराक्रान्त, महारथ सहायकों के साथ बड़ी तत्परता से वे भीष्म की रक्षा करने लगे। दीपक की ज्योति जैसे बुझने के पहले एक बार जोर से जल पड़ती है, उसी तरह पितामह की शक्ति भी संसार से चिरकाल के लिए विदाई ग्रहण करने से पहले अपनी सीमा तक पहुंचने के लिए उतावली हो रही थी।

भीष्म के प्रचण्ड शराघातों से एक ही समय मानो सहस्रों विषधर सर्प पाण्डवों

की सेना को दंशन करते थे। प्रखर प्रहारों की वैसी संहार मूर्ति महाभारत के युद्ध में और कभी नहीं नजर आयी। बदले के लिए बादलों की तरह भीष्म को चारों ओर से पाण्डव पक्ष के महारथियों ने घेर लिया। जान पड़ता था, अगणित ऊर्मि-लताएँ जहाज को चारों ओर से घेरकर निगल जाने के लिए ही भयानक गर्जना कर रही हैं। भगवान् भुवन-भास्कर की अनन्त ज्योति में जिस तरह संसार के सब पदार्थों की ज्योति आकर समा जाती है, उसी तरह महावीर पितामह की अखण्ड ज्योति में भी लाखों जीवन-ज्योतियाँ तल्लीन हो गयीं। बात-की-बात में, दस हजार दुर्मद द्विरद, सवारों समेत दस हजार घोड़ें और एक लाख पैदल की भौतिक लीला समाप्त करनेवाले महावीर भीष्म विना धूमवाली आग की तरह जलते हुए दिखायी पड़ रहे थे।

भीष्म की विपुल वीरता अपनी आँखों प्रत्यक्ष कर महावीर अर्जुन का हृदय खलबला उठा। उन्होंने शिखण्डी से कहा, "वीर शिखण्डी, अब मौका न चूको। नहीं तो फिर पछताना पड़ेगा। भीष्म के सामने डट जाओ। इन्हें सेना की तरफ बढ़ने से रोको। डरो मत। मैं तुम्हारे पीछे ही हूँ। तुम्हारे पीछे से भीष्म को अभी मैं रथ से गिराता हूँ।"

अर्जुन के उत्साह भरने के साथ ही शिखण्डी ने अपना रथ भीष्म के सामने बढ़ाया। पीछे से वासुदेव भी शिखण्डी के साथ ही अपना रथ चला रहे थे। शिखण्डी की ओर से पार्थ के वाणों की चोट असह्य हो गयी। शर, शति, परशु, परिघे, भल्ल, नाराच आदि सभी संहारकारी भयंकर महास्त्रों से महावीर भीष्म की देह जर्जर होने लगी। वीर ने प्रतिज्ञानुसार शिखण्डी पर वार नहीं किया। और क्यों-कि अर्जुन भी शिखण्डी के पीछे छिपे थे, इसलिए उन पर भी भीष्म तीर न छोड़ सकते थे। भय था कि कहीं शिखण्डी के कोई वाण न लग जाय। इस समय पाण्डवों के पक्ष के कितने ही वीरों ने विजय की अभिलाषा से भीष्म को एक साथ आकर घेर लिया। महावीर शान्तनुनन्दन उस अवस्था में भी अविचल भाव से बैठे हुए निष्ठुर प्रहार सह रहे थे। भीष्म के इस महान धैर्य से, आकाश मार्ग में विचरण करनेवाले ऋषि-मुनियों को परम सन्तोष हुआ। साधुवाद देते हुए उन्होंने कहा, "भीष्म ! तुम्हें सहस्रों धन्यवाद हैं। तुम्हें प्राप्त करके भारत की रज-रज पवित्र हो गयी। तुम्हारा धैर्य भगवती धरित्री के धैर्य से बढ़ गया। तुम्हारा धर्म साक्षात धर्म का भी धर्म है। तुम वीरता को पराकाष्ठा तक पहुँचा चुके हो, अब धैर्य की चरम सीमा भी मनुष्यों को दिखला रहे हो। महावीर ! चिर ब्रह्मचारी देवव्रत ! तुम्हारा समय समाप्त हो आया है। अपने अमर लोक की याद करो। मनुष्यों को अपनी अन्तिम शिक्षा देकर चले जाओ। ऋषियों की आज्ञा समाप्त होने पर देवताओं ने दुन्दुभि बजायी। अपना हर्ष प्रकट किया।

महर्षियों की आज्ञा सुनकर लोहित-कलेवर महावीर जाह्नवीनन्दन ने प्रति-रोध करना बन्द कर दिया। धनुष रखकर प्रलय की महालीला देखने लगे। उस समय दुःशासन उनके पास था। उन्होंने कहा, "देखो, दुःशासन, वज्र की तरह यह

अविराम शर-धारा कभी शिखण्डी के शरासन से न निकलती होगी, कवच को भेद करनेवाले ये तीक्ष्ण तीर कभी शिखण्डी के छोड़े हुए न होंगे, जिन वाणों से मेरा शरीर जर्जर हुआ जा रहा है, ये कभी शिखण्डी के वाण नहीं हो सकते। निश्चय ही इन तीरों का मारनेवाला अर्जुन है। एक अर्जुन को छोड़कर संसार में दूसरे किसी मनुष्य में यह बल नहीं है, कि वह मेरा कवच भेद कर सके।" महावीर भीष्म की देह में कहीं तिल रखने की जगह भी न रह गयी थी। अंग-अंग में वाण आर-पार हो गये थे। सूर्यास्त से कुछ पहले, अटल ब्रह्मचारी महाधनुर्धर भीष्म पितामह रथ से गिर गये। कौरवों में हाहाकार मच गया। महावीर भीष्म ने गिरकर भी मृत्तिका-स्पर्श नहीं किया। जिन अगणित तीरों से उनकी तपश्चर्या निरत पवित्र देह क्षत-विक्षत हो रही थी, उन्हीं के सहारे शरों की सेज पर लेटे हुए-से रह गये।

भगवती जाह्नवी ने अपने पुत्र का निधनकाल आया हुआ जानकर कुछ महर्षियों द्वारा उनके निकट अपना सन्देसा कहला भेजा। हंस रूपधारी ऋषि भीष्म को शरों की शय्या पर देखकर उनकी प्रदक्षिणा करते हुए आपस में कहने लगे, "महावीर भीष्म सूर्य के दक्षिणायन रहते हुए क्यों शरीरपात कर रहे हो?" भीष्म को यह चेतावनी देकर वे दक्षिण की ओर उड़ गये। प्रज्ञाचक्षु भीष्म को हंसों के आने का कारण और उनकी आपस की बातचीत मालूम हो गयी। उन्होंने कहा, "हंस रूपधारी महर्षियो, मैं तुम्हारी आज्ञा का पालन करूँगा। जब तक सूर्य दक्षिणायन रहेंगे, तब तक मैं जीवित रहूँगा। पिता के आशीर्वाद से मृत्यु पर मेरा अधिकार है। समय के आने पर ही मैं देह छोड़ूँगा।"

भीष्म के गिरते ही दोनों दलों के वीरों ने चारों ओर से उन्हें घेर लिया। महावीर अर्जुन भी कवच खोलकर उनकी शर-शय्या के समीप आकर खड़े हो गये। हाथ जोड़कर कहा, "पितामह, दास के लिए आज्ञा दीजिए।"

भीष्म ने कहा, "बेटा, सिर लटक रहा है, इसके लिए कोई उपाय करो। तुम धनुर्धारियों में श्रेष्ठ हो, बुद्धिमान हो, क्षत्रियों का धर्म भी तुम्हें मालूम है, मेरे लिए उचित तकिये की व्यवस्था कर दो।"

"जो आज्ञा" कहकर अर्जुन ने तीन तेज शर साध, गाण्डीव में जोड़े। धनुष आकर्ण आकर्षित कर भीष्म के मस्तक पर वाणों का प्रहार किया। वाण सिर से निकलकर जमीन में गड़ गये। भीष्म को अर्जुन की बुद्धिमत्ता पर बड़ी प्रसन्नता हुई। चारों ओर जितने राजे-महाराजे खड़े थे, सबसे कहा, "अर्जुन ने मेरे तकिये की उचित व्यवस्था कर दी। जब तक सूर्य उत्तरायण न होंगे, तब तक मैं इसी अवस्था में रहूँगा। तुम लोग मेरे चारों ओर एक खाई खोद दो। मैं भगवान सूर्य की उपासना करूँगा। तुम लोग वैर-भाव भूलकर आपस में मैत्री करो। इसी से कल्याण होगा।"

पितामह की चिकित्सा कराने के लिए दुर्योधन ने अच्छे-अच्छे वैद्यों को बुलवाया। वाणों को निकालने में ये बड़े लघुहस्त थे और इनकी दवा से घाव भी बहुत जल्दी भर जाता था। भीष्म ने वैद्यों को धन्यवाद दिया। उनके गुणों की

प्रशंसा की। फिर दुर्योधन से कहा कि उन्हें उचित पारितोषिक देकर विदा कर दो। मेरी चिकित्सा की अब कोई जरूरत नहीं।

महाधनुर्धर पितामह की वीरगति का संवाद देश भर में फैल गया। राज्य के लोग, बच्चे और स्त्रियाँ भी उनके दर्शनों के लिए आने लगीं। वृद्ध, युवक, स्त्रियाँ, वादक, नट, शिल्पी और गणिकाएँ फूल-चन्दन, चावल और दूर्वादल लेकर उनकी अर्चना के लिए आने लगीं। दोनों दलों के लोग वैर-विरोध भूलकर नित्य उनके दर्शनों के लिए जाया करते थे। राजे-महाराजे भी तरह-तरह के भोग्य पदार्थ लेकर उनकी सेवा के लिए जाते थे। परन्तु पितामह को भोगों की क्या आवश्यकता थी? आये हुए नरेशों से उन्होंने कहा, "मैं अब इस लोक से सम्बन्ध तोड़ चुका हूँ। केवल सूर्य के परिवर्तनकाल की प्रतीक्षा कर रहा हूँ। मेरे लिए भोग की अब आवश्यकता नहीं रही। परन्तु एक उपकार तुमसे कराना चाहता हूँ। तुम लोगों में कोई ज़रा अर्जुन को खबर भेज दो कि तुम्हारे पितामह तुम्हें बुलाते हैं।" अर्जुन भी पास ही खड़े थे। बढ़कर वे पितामह के पास आये और आज्ञा की प्रार्थना की। भीष्म ने हाथ जोड़कर अर्जुन को सामने खड़े हुए देखकर कहा, "वत्स, तुम्हारी तीक्ष्ण चोटों से मेरा शरीर जल रहा है। प्यास के मारे कण्ठ भी सूखा जा रहा है। मुझे ठण्डा पानी पिलाओ।"

"जो आज्ञा" कहकर गाण्डीव में शर-योजना करते हुए अर्जुन भीष्म की प्रदक्षिणा करने लगे। फिर सिर के पास धरती पर लक्ष्य करके वाण मारा। तीर तल-प्रदेश तक जा पहुँचा। पवित्र स्वच्छ वारिधारा फूट निकली। भीष्म ने इच्छा-पूर्वक जलपान किया। अर्जुन की असाध्य साधना से नरेन्द्र मण्डल को बड़ा आश्चर्य हुआ। सबके शरीर से कम्प के कारण स्वेद छूट चला। कपड़े पसीने-पसीने हो गये। अपने पौत्र की वीरता देख भीष्म की आँखों से आनन्दाश्रु बह चले। आशीर्वाद देते हुए उन्होंने कहा, "वीर, यह कार्य तुम्हारे लिए कोई बड़ी बात नहीं है। नारद ने तुम्हें पूर्वजन्म का ऋषि बतलाया है। तुम्हारी सहकारिता की बड़े-बड़े देवताओं को भी इच्छा होती है। धनुर्वेद के पारदर्शी वीरों में तुम सर्वश्रेष्ठ हो। मैंने दुर्योधन को तुम्हारी वीरता पर बहुत समझाया। परन्तु समय के फेर से ये बातें उसके चित्त पर नहीं चढ़ सकीं। वह अवचेतन जड़ तुल्य ही बना रहा। अब यह निस्सन्देह है कि समर काल के उपस्थित होने पर भीम के हाथों उसकी मृत्यु होगी।"

पितामह की बातों से दुर्योधन को बड़ा दुःख हुआ। भीष्म ने फिर उसे समझाया। अर्जुन की वीरता के कितने ही उदाहरण दिये। पाताल से पानी निकालने की बात भी उदाहरण के रूप में कही। इस तरह समझा-बुझाकर मैत्री करने के लिए आदेश दिया।

हाथ जोड़कर सामने आ कर्ण ने कहा, "हे कौरव कुल तिलक, जो सदा ही आपकी दृष्टि का अतिथि था, आप सदा ही जिस पर द्वेष प्रकट करते थे, मैं वही राधेय हूँ!"

भीष्म ने आँखें खोलकर देखा, उस समय वहाँ कोई न था। कर्ण को पड़े हुए

गले से लक्ष्य कर कहने लगे, "कर्ण, तुम्हारे सम्बन्ध में मुझे नारद से बहुत-सी बातें मालूम हो चुकी हैं। तुम जो मेरे साथ स्पर्धा का भाव रखते थे, इसके लिए मुझे बिल्कुल दुःख नहीं है। यह तो तुम्हारे स्वभाव के अनुकूल ही था। सुनो, तुम कुन्ती के पुत्र हो, राधा के पुत्र नहीं। तुम्हारा पिता अधिरथ नहीं है। इस पर विश्वास करो और आज तक तुम्हारे प्रति मेरी कटूक्तियों का प्रयोग तुम पर मेरी घृणा के कारण न होता था। उसका एक दूसरा ही कारण है। कर्ण, तुम व्यर्थ ही पाण्डवों की निन्दा किया करते थे, इसलिए तुम्हारे गर्व को खर्व करने के उद्देश्य से मैं तुम्हें अरुचिकर बातें कहा करता था। मैं तुम्हारी वीरता-धीरता खूब समझता हूँ। तुम अर्जुन और वासुदेव के समान वीर हो। काशीपुर में तुमने अकेले जिस तरह कितने ही नरेशों को परास्त किया था और महाराज दुर्योधन के लिए कन्या जीत लाये थे, तुम्हारी वह वीरता सर्वथा सराहनीय है। यह सबकुछ होते हुए भी तुममें कई दोष भी हैं। वत्स, नीच संग में रहने और कुमारी कुन्ती से पैदा होने के कारण तुम्हारा क्षत्रिय भाव बहुत कुछ दब गया। शूद्रत्व के लक्षण तुम्हारे अन्दर प्रवेश कर गये हैं। अन्यथा तुम सब प्रकार से यशस्वी हो। तुम्हारे लिए मेरी अन्तिम यही सलाह है कि अपने भाइयों से मिलो और इस वैर-विरोध को भूल जाओ।"

महावीर कर्ण ने पितामह की बात सुनकर कहा, "हे वीरों में शिरोमणि, आपकी बातें बिल्कुल सच हैं। मुझे मालूम है कि मैं किसका पुत्र हूँ। परन्तु जिस माता ने मेरा त्याग कर दिया अपनी मर्यादा बचाने के लिए, सो अब भी वह मेरी माता के सम्मान पर प्रतिष्ठित है? जिस महाराज दुर्योधन ने मुझे अपमानित होते हुए देखकर मेरी बाँह गह, मुझे बराबर अपने आसन पर बैठाया, जिसका अन्न खाकर मैं शक्ति-सामर्थ्यवाला बना, क्या मैं उस उपकार का त्याग कर दूँ? नहीं, यह तो मैं कदापि न कर सकूँगा। जिस तरह वासुदेव ने पाण्डवों की भलाई के लिए अपना धन, जन, जीवन, सर्वस्व त्याग कर दिया है, उसी तरह मैं भी दुर्योधन के लिए अपना सर्वस्व निछावर कर चुका हूँ। लड़ाई अब रुक नहीं सकती। पाण्डवों का दुर्योधन पर जैसा कोप है, इससे अब मेल की आशा ज़रा भी नहीं रही। दुर्योधन के लिए, उसकी प्रीति के लिए, मैं धनंजय से जरूर समर करूँगा। हे वीर, आप आशीर्वाद दीजिए, मैं आपकी आज्ञा के लिए आया हुआ हूँ और आपके प्रतिकूल मैंने जो कुछ भी आचरण किया हो, आप क्षमा करें।"

भीष्म ने मुस्कराते हुए कहा, "कर्ण, अगर वैर न छोड़ सको तो स्वर्ग की आशा से युद्ध करो। दीनता और क्रोध को छोड़कर उत्साह के साथ दुर्योधन की मदद करो। इतने दिनों तक सन्धि की चेष्टा करके भी मैं सफल नहीं हुआ—ईश्वर की इच्छा है!"

द्वादश परिच्छेद

परलोक गमन

कुरुक्षेत्र की भयानक समर ज्वाला में कौरवों और पाण्डवों की सम्पूर्ण शक्ति स्वाहा हो गयी। अन्त में पाण्डवों के हाथ मैदान रहा। महावीर भीम ने धृतराष्ट्र के शत-पुत्रों को यमलोक का यात्री कर महाराज युधिष्ठिर को निष्कण्टक कर दिया। द्रोण, कर्ण, शल्य, भुगदर आदि कौरवों के बड़े-बड़े वीर दुर्योधन के स्वार्थ के लिए लड़कर मर मिटे। विधवाओं के हाहाकार से भारत का आकाश विदीर्ण होने लगा। भारत के चिरकालिक पतन का पट, भारत वसुन्धरा पर भीष्म के रहते-रहते ही लहराने लगा। अन्तिम समय के भावी अन्धकार पर, भारत के गौरव-सूर्य, चिर कुमार, देवव्रत, महावीर भीष्म अस्त हो रहे थे, साथ ही मानो कह गये कि प्रभात के लिए भी एक ऐसे ही सूर्य की आवश्यकता होगी।

वैरियों से विजय प्राप्त कर महाराज युधिष्ठिर हस्तिनापुर जाने से पहले भीष्म के पास आये। कई दिनों तक पितामह ने उन्हें इतिहास, धर्म और राजनीति आदि राजाओं के लिए जितने उपयोगी और आवश्यक विषय हैं, सबकी उचित शिक्षा दी। महाभारत का श्रेय पितामह की इन्हीं सूक्तियों में है। शान्ति पर्व और अनुशासन पर्व, दो खण्ड-के-खण्ड पितामह के अमृतोपम उपदेशों से भरे हुए हैं। अस्तु, आदर्श और उपदेश आदि देकर पितामह ने युधिष्ठिर को हस्तिनापुर जाने की आज्ञा दी।

महाराज युधिष्ठिर ने नगरवासियों के प्रति यथोचित सम्मान प्रदर्शनपूर्वक उन्हें अपने-अपने घर जाने के लिए कहा। युद्ध में जिनके प्राणों से प्यारे आत्मीयों और कुटुम्बियों का संहार हुआ था, उन्हें यथोचित सान्त्वना और सहायता दी। ब्राह्मणों को दान-दक्षिणा देकर सम्मान किया। सब लोगों को एक बार रामराज्य का स्मरण हो आया। महाराज युधिष्ठिर का राज्याभिषेक सकुशल समाप्त हो गया।

इन्हीं दिनों भगवान अंशुमाली उत्तरायण हुए। युधिष्ठिर को पितामह के मृत्यु समय की याद आ गयी। तुरन्त अपने भाइयों को साथ ले, अन्त्येष्टि क्रिया के सामान सहित पितामह के निकट आये। उस समय व्यास आदि बहुत से महात्मा भीष्म की अन्तिम गति देखने के लिए आये हुए थे। सबने युधिष्ठिर का यथोचित सम्मान किया। ऋषियों की मण्डली में शान्तभाव से भीष्म आत्मचिन्तन कर रहे थे। युधिष्ठिर ने कहा, पितामह, आपकी श्रवणा शक्ति तो वैसी ही होगी ? मैं युधिष्ठिर हूँ, आपकी चरण-वन्दना कर रहा हूँ। अब आज्ञा कीजिए, आपकी अन्तिम क्रिया के लिए मुझे क्या करना होगा ? आपका यह अन्तिम समय है, जानकर मैं अग्नि साथ ही ले आया हूँ। मेरे साथ ब्राह्मण, आचार्य ऋत्विक, मेरे भाई, युद्ध से

बचे हुए कुछ राजा, महात्मा वासुदेव और आपके पुत्र-तुल्य राजा धृतराष्ट्र भी साथ ही आये हुए हैं।

भीष्म ने आँखें खोलकर अपने आत्मीयों को चारों ओर से खड़े हुए देखा। फिर युधिष्ठिर से कहने लगे, "वत्स, अब सूर्य उत्तरायण हो गये हैं। मेरे पास तुम अपने आत्मीय बन्धु-बान्धवों को लेकर आये हो, मुझे इससे बड़ी प्रसन्नता हुई। मुझे इस शरशय्या पर आज तक लेकर अट्ठावन दिन हो गये। अब मैं अपने स्थान पर जाना चाहता हूँ। सौभाग्य से माघ मास का शुक्लपक्ष भी आ गया है।" पितामह ने धृतराष्ट्र को समझाया। संसार की नश्वरता, भवितव्य की प्रबलता, युधिष्ठिर आदि पाँचों पाण्डवों की धर्मनिष्ठा, वैराग्य आदि पर बहुत से उपदेश दिये। फिर कृष्ण से कहा, "हे कृष्ण! इस घोर युद्ध की आग में भारत की क्षत्रिय शक्ति आग की तरह जलकर राख हो गयी है। मैंने दुर्योधन को बहुत समझाया, परन्तु समय का प्रभाव। मैं जानता हूँ, श्रीकृष्ण! तुम साधारण पुरुष नहीं हो—तुम आदि हो, अद्वितीय और सनातन पुरुष हो, तुम्हारे सम्बन्ध में नारद की बात कभी झूठ न होगी। तुम और अर्जुन नर और नारायण के रूप से, धरा का भार उतारने के लिए आये हो। अब मेरे देहत्याग का उचित समय आ गया है। एक आज्ञा दो कि अन्त में परमगति प्राप्त हो।"

भगवान वासुदेव ने भीष्म की विनय पर प्रसन्न होकर कहा, "हे भारत के गौरव पुरुष! मैं आशा करता हूँ, आप नश्वर शरीर को छोड़कर अपने वसुलोक में विराजमान हों। आपमें पाप का लेशमात्र भी नहीं है। आप मार्कण्डेय के जैसे पिता के भक्त थे, मृत्यु आपकी दासी है।"

भगवान केशव की बात समाप्त होने पर भीष्म ने आँखें बन्द कर लीं। कुछ काल तक मौन रहकर मूलाधार में चित्त को स्थिर करके योग मार्ग द्वारा नश्वर कलेवर का त्याग कर दिया। भारत के हृदय से उसका अनमोल लाल सदा के लिए उठ गया।

०००

महाराणा प्रताप

प्रथम परिच्छेद

राज-सिंहासन

मुसलमानों के शासनकाल में जिन वीरों ने अपने सर्वस्व का बलिदान करके अपनी जाति, धर्म, देश और स्वतन्त्रता की रक्षा की, उनमें अधिक संख्या राजपूत वीरों की ही देख पड़ती है, जैसे मुसलमानों की दुर्दम शक्ति का प्रतिरोध करने के लिए ही उन वीर राजपूतों की शक्ति-रेखा विधाता ने खींची हो। दैव के काल्पनिक क्रम के भीतर जितनी मात्रा में बहिर्जगत को सत्य का प्रकाश मिलता है, उतनी ही मात्रा में आध्यात्मिक गौरव की उज्ज्वलता भी परिस्फुटित होकर हमारी मानस-दृष्टि को आश्चर्यचकित और स्तब्ध कर देती है। स्वतन्त्रता की सिंह-वाहिनी के इंगित मात्र से देश के बचे हुए राजपूत-कुल-तिलक वीरों की आत्मा-हुति, जलती हुई चिताग्नि में अगणित राजपूत कुल-ललनाओं द्वारा उज्ज्वल सतीत्व रत्न की रक्षा तथा लगातार कई शताब्दियों तक ऐसे ही रक्तोष्ण शौर्य के प्रात्यहिक उदाहरण, इन सजीवमूर्ति सत्य घटनाओं के अनुशीलन से वर्तमान काल की शिरश्चरणविहीन, जल्पना मूर्तियाँ भारत के अशान्त आकाश में तत्काल विलीन हो जाती हैं और उस जगह वह चिरन्तन सत्यमूर्ति ही आकर प्रतिष्ठित होती है। तब हमें मालूम हो जाता है कि जातीय जीवन में साँस किस जगह चल रही है। वास्तव में उन वीरों के अमर आदर्श की जड़ भारतीय आत्माओं के इतने गहन प्रदेश तक पहुंची हुई है कि वहाँ उस जातीय वृक्ष को उन्मूलित कर, इच्छा-नुसार किसी दूसरे पौधे की जड़ जमाना बिलकुल असम्भव, अदूरदर्शिता की ही परिचायक कहलाती है।

हम जिस समय का इतिहास लिख रहे हैं, उस समय भारत के सम्राट् 'दिल्लीश्वरो वा जगदीश्वरो वा' मुगल बादशाह अकबर थे। इनके पहले दिल्ली के सिंहासन पर जितने मुसलमान सम्राट् बैठे थे, उनकी नीति हिन्दुओं के प्रति खासकर वीर राजपूतों के प्रति मुसलमान-स्वभाव के अनुकूल, प्रत्यक्ष विरोध करनेवाली थी, परन्तु सूक्ष्मदर्शी अकबर ने उस नीति को ग्रहण नहीं किया। साम्राज्य-विस्तार की लालसा अकबर में उन लोगों की अपेक्षा बहुत बढ़ी-चढ़ी थी, परन्तु ये उन लोगों की तरह दुश्मन को दबाकर न मारते थे, इनकी नीति थी मिलाकर शत्रु को अपने वशीभूत करना। इस नीति के बल पर इनको सफलता

भी खूब मिली। प्राय: सम्पूर्ण राजपूताना इनके अधीन हो गया। उस समय जिस वीर महापुरुष ने अकबर का सामना किया, हिन्दुओं की कीर्ति-पताका मुगलों के हाथ नहीं जाने दी, आज हम उसी लोकोज्ज्वल-चरित्र महावीर महाराणा प्रतापसिंह की कीर्ति-गाथा अपने पाठकों को भेंट करते हैं।

उस समय भारतवर्ष में जितने माननीय क्षत्रियवंश थे, उनमें 'सिसोदिया वंश' विशेष सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था, आज भी इस वंश की इज्जत वैसी ही की जाती है। इस वंश में किसी प्रकार से कलंक की कालिमा नहीं लग पायी। मुसलमानों के छाया-स्पर्श से भी इस वंशवालों को घृणा थी और वे अन्त तक दूध के धोये ही बने रहे।

महाराणा प्रतापसिंह के पिता उदयसिंह अपनी छोटी रानी को और-और रानियों से ज्यादा प्यार करते थे। इसका फल यह हुआ कि उन्हें सन्तुष्ट करने के लिए मृत्यु के समय उदयसिंह ने उन्हीं के लड़के को राजगद्दी दी। उनका नाम जगमल था। उदयसिंह का यह कार्य नीति के खिलाफ हुआ। क्योंकि राजगद्दी के हकदार प्रतापसिंह थे। ये जगमल से बड़े थे। उदयसिंह के इस कार्य की प्रजाजनों में बड़ी समालोचना हो चली और भीतर ही भीतर वे लोग इस अनीति की निन्दा करने लगे। वास्तव में प्रेम के वशीभूत होकर, दायित्वपूर्ण उत्तराधिकार-क्रम पर महाराणा उदयसिंह का इस तरह स्वेच्छाचार करना, राज-पद्धति के बिल्कुल विपरीत हुआ था।

यह जहर फैलता गया। धार्मिक विचारों से तो राज्य के अधिकारी प्रतापसिंह ठहरते ही थे, इसके अलावा प्रजाजनों का प्रेम भी उनके ऊपर बहुत ही गहरा था। प्रतापसिंह का दिल लुभा देनेवाला अकृत्रिम बर्ताव, प्रजाजनों को समदृष्टि से देखना, अपने को अपनी प्यारी प्रजा का सेवक समझना, देश और धर्म के नाम पर अपने सर्वस्व का त्याग, इस तरह के और भी अनेक सद्गुण उनमें थे। जगमल के राजगद्दी पाने पर और सभी लोगों को क्लेश हुआ, परन्तु दृढ़व्रत प्रताप के चेहरे पर शिकन भी न पड़ी। वे पूर्ववत् ही प्रसन्न रहते और जैसे स्नेह की दृष्टि से जगमल को पहले देखते थे, वैसे ही अब भी देखते।

महाराणा उदयसिंह का कार्य जिन राजपूत-सरदारों को खटकता था, उनमें झालावाड़ के महाराज और चन्दावत कृष्णजी प्रमुख थे। प्रताप झालावाड़ महाराज के भानजे थे। अपने भानजे को अपने प्राप्य अधिकार से वंचित होते देखकर झालावाड़-नरेश से न रहा गया। उन्होंने कृष्णजी के साथ अन्याय और सरदारों को एकत्र कर सलाह की और फिर राज्य की प्रजा का रुख देखा। कुमार प्रतापसिंह को उनका उचित अधिकार देने के लिए सब लोग उतावले हो गये और सबने महाराणा उदयसिंह की दुर्बलता की निन्दा की। राज्य के सामन्त सदस्यों और प्रजा-समष्टि की राय के अनुसार प्रतापसिंह को गद्दीनशीन करने की तैयारियाँ भीतर ही भीतर होने लगीं। जगमल का पक्षपात करनेवाले इने-गिने लोग ही थे।

इधर जिस मुहूर्त से राज्य का शासन भार जगमल के हाथ में आया, उसी

मुहूर्त से उसे राजमद का भयंकर नशा हो गया। वह सीधे पैर ही न रखता था। स्वभाव का उद्दण्ड, राजनीति से अनजान, लोगों के स्वभाव से अपरिचित, लड़ाई के नाम से घबड़ानेवाला महामूर्ख जगमल सभासदों को सन्तुष्ट न कर सकता था। उसके रूखे और अमानुषिक बर्ताव से सब लोग तंग आ गये। उसने भी शासन की बागडोर अपने हाथ में पाते ही अनियन्त्रण का घोड़ा तेजी से बढ़ाया। फल यह हुआ कि अपने सवार को लेकर घोड़ा कुराह चलने लगा, काँटों और झाड़ियों में अड़ने लगा। जगमल की स्वतन्त्रता ने घोर अत्याचार का रूप धारण किया। उससे सभासद सरदार-राजपूतों के दिलों में सख्त चोट लगी। कुछ एक ने तो घबड़ाकर राज्य में ही रहना छोड़ दिया।

राज्य में इस तरह के उपद्रव देखकर स्वदेश के सहृदय भक्त प्रताप से न रहा गया। एक दिन वे जगमल के पास गये और बड़े स्नेहपूर्ण शब्दों में समझाते हुए कहा, "जगमल, ईश्वर की इच्छा से आज तुम विशाल जन-समूह के शासक हो। लाखों मनुष्यों के भाग्य-विधाता हो। परन्तु तुम्हें स्मरण रखना चाहिए, अधिकार के माने ये नहीं हैं—कि स्वेच्छाचार किया जाय, निरपराध मनुष्यों से तुम अपनी शक्ति की थाह लो। देखो तो सही, तुम्हारे अनेक सभासद राज्य छोड़कर चले जा रहे हैं। क्या अत्याचार करके तुम अपनी प्रजा को सन्तुष्ट करोगे? तुम्हें अपना स्वभाव बदलना चाहिए। समय बड़ा नाजुक है। अगर तुम नहीं सुधरे तो तुम्हारा और तुम्हारे राज्य का भविष्यफल बड़ा विषमय होगा।"

प्रताप की संवेदनासूचक उक्तियों से मदान्ध जगमल होश में नहीं आया, बल्कि उसने इसे अपनी राजसी शान के खिलाफ अपमान समझा। कड़ककर उसने कहा, "तुम मेरे बड़े भाई हो सही, परन्तु तुम्हें स्मरण रहे कि तुम्हें मुझे उपदेश देने का अधिकार नहीं है। तुम मेरी आज्ञा के अनुचर हो। मैं नादान नहीं हूँ और न किसी बनिये के घर से उठाकर लाया हुआ, महाराणा उदयसिंह का गोद लिया लड़का ही हूँ। राजा-महाराजाओं के यहाँ का बर्ताव उनके कार्य मुझे न सिखलाओ, पिताजी ने कुछ समझकर ही मुझे राजगद्दी दी है।"

प्रताप—"जगमल।"

जगमल—"प्रताप, तुम महाराणा की शान के खिलाफ पेश आये हो। तुम्हें मैं इसका यथोचित दण्ड दूँगा। तुम आज ही मेरे राज्य की सीमा से बाहर हो जाने का प्रबन्ध करो।"

एक प्रकार के सम्मान के ज्ञान ने प्रताप की आँखों को बरबस झुका दिया। वे चुपचाप वहाँ से चल दिये। उस समय इधर-उधर से कुछ नौकर प्रताप और जगमल की बातों को कान लगाये हुए सुन रहे थे। जगमल की कठोर दण्डाज्ञा को सुनकर सब चौंक उठे। यह सबको बुरा लगा। वे आपस में जगमल की नीचता की समालोचना करने लगे। धीरे-धीरे फैलती हुई बात सरदारों के कानों तक पहुँची। उधर प्रताप ने किसी दूसरे से कुछ भी न कहा। जैसे कुछ हुआ ही न हो। परन्तु उनकी मुखाकृति उत्तरोत्तर गम्भीर होती गयी, जैसे प्रभात के सूर्य-रश्मि

पर मेघों की छाया आ पड़ी हो। प्रताप अपने अश्वागार में गये और घोड़े को कसने की आज्ञा दी। इधर सरदारों को जगमल की निष्ठुर आज्ञा का हाल मालूम होते ही सबके-सब प्रताप को खोजने लगे। प्रताप नगर को पार कर कुछ दूर चले गये थे। उस एकान्त स्थान में चन्दावत कृष्ण ने प्रताप को पीछे से पुकारा, प्रताप ने भी घोड़े को रोक लिया। बहुत समझाने पर चन्दावत कृष्ण के साथ वे लौटे।

प्राय: सभी सरदार जगमल से नाराज थे, प्रताप के लौटने पर चन्दावत कृष्ण ने जगमल की नीचता का प्रमाण पेश करते हुए उसे राज्य-संचालन करने के अयोग्य ठहरा, गद्दी से उतार उस पवित्र सिंहासन पर सिसोदिया-कुल-सूर्य, पावन चरित्र महाराणा प्रतापसिंह को बैठाया और उनकी अधीनता में रहकर राज्य का संचालन और अपनी जाति, धर्म और देश की रक्षा करने की प्रतिज्ञा की। सब सरदारों ने एक स्वर से महाराणा प्रतापसिंह की जय घोषणा की। महाराणा प्रतापसिंह के शासन-भार ग्रहण करने का संवाद पा राज्य की समस्त प्रजा को हर्ष हुआ। सब लोग अपने नवीन महाराणा को अनेक प्रकार की भेंट देते हुए अपने हृदय की निश्चल सेवा की सूचना देने लगे। महाराणा प्रताप के राजसिंहासन पर बैठते ही मानो राज्य के शरीर में एक नवीन जीवन का संचार हो गया, चारों ओर सजीव स्फूर्ति का कलरव होने लगा।

द्वितीय परिच्छेद

शक्तिसिंह

शक्तिसिंह प्रताप के ही छोटे भाई थे। परन्तु शक्तिसिंह और प्रतापसिंह की प्रकृति में जमीन-आसमान का अन्तर था। दोनों एक ही वायुमण्डल में पले और एक ही पिता के पुत्र थे, फिर भी अलक्ष्य अदृष्ट की माया से दोनों स्वभाव में एक-दूसरे से बिलकुल विपरीत थे। प्रताप की उदार और गम्भीर प्रकृति पाठकों को मालूम हो ही चुकी है। शक्तिसिंह उदण्ड, हठी, खूनी-स्वभाव, के मनुष्य थे। प्रतिहिंसा का सजीव पुतला इन्हें कहिए तो अतिशयोक्ति न होगी। इनमें दोष जो था वह यही था, अन्यथा वीर वे प्रताप की ही तरह थे। भय किस चिड़िया का नाम है, यह वे न जानते थे। कठिन-से-कठिन संकट में भी उन्हें कभी घबराहट नहीं हुई।

जब ये भूमिष्ठ हुए तब इनकी जन्मकुण्डली तैयार करनेवाले पण्डित ने इनके स्वभाव में एक बहुत बड़ा दोष बतलाया। कहा कि इनमें स्वजन-घात आ लगा है। कभी-न-कभी सगे-सम्बन्धियों से इनका वैर होगा और उस शत्रुता का परिणाम इनके कारण बड़ा भयानक होगा। ये उसके पीछे अपने धर्म को, जाति और अपने

देश को भी भूल जायेंगे।

पण्डित की यह उक्ति सुनकर महाराणा उदयसिंह और उनके सभासद बहुत घबराये। बालक के भविष्य का हाल सुनकर सब मनमानी तरह-तरह की कल्पनाएँ करने लगे। लोगों ने यह निश्चय किया कि इस समय हम राजपूतों से मुसलमानों की जैसी चल रही है और दूसरे-दूसरे कुलांगार राजपूत जिस तरह अपने धर्म और स्वदेश प्रेम से सम्बन्ध तोड़ अपनी बेटियों की भेंट लेकर मुसलमानों से मिल रहे हैं, अपने देश का सत्यानाश करते हुए ज़रा भी संकोच नहीं करते, अपने स्वाधीन राजाओं से लड़कर मुसलमानों के गुलाम बना रहे हैं, अपनी-सी हालत सबकी कर देने पर तुले हुए हैं, यह सब देखते हुए जान पड़ता है कि पीड़ित मेवाड़ के साथ यह शक्तिसिंह भी वैसा ही बर्ताव करेगा। यह सोचकर सरदार राजपूत बहुत घबराये। अभी तक सैकड़ों बार भीषण कष्ट झेलकर भी मेवाड़ की कीर्तिपताका भू-लुण्ठित नहीं हुई थी। चित्तौड़ का ध्वंस हो चुकने पर भी विजयलक्ष्मी वीर राजपूतों के ही हाथों में रही थी। सैकड़ों वर्षों से लगातार युद्ध करते हुए भी राजपूतों की बाँहें कमजोर न पड़ी थीं। वे शत्रु से न घबराते थे, पर घर की फूट से उन्हें बड़ा भय था, कारण कि वे धोखा देना न जानते थे, इसलिए धोखा खाना भी उन्हें प्रकृति के खिलाफ जँच रहा था।

उन दिनों भारत शस्त्र-कानून का शिकार न हुआ था। उस पराधीन हालत में भी लोग तलवार, भाला, बरछी आदि तेज हथियार बड़ी शान से बाँधते थे। लोगों को सैनिक शिक्षा भी काफी दी जाती थी। पटेबाजी और तलवार-भालों की मार हरएक को सिखलायी जाती थी। क्षत्रिय तो कभी बचते ही न थे, बल्कि अपनी बहू-बेटियों और अपनी प्यारी जन्मभूमि की रक्षा के लिए ब्राह्मणों ने भी वेद-पाठ और शास्त्राध्ययन को छोड़कर तलवार ग्रहण करना उचित और अपना परम धर्म समझा था। उस संघर्षकाल में, जबकि मुगल-राज्य के शासित प्रदेशवाले ब्राह्मण भी अस्त्र-शिक्षा अपना धर्म मानते थे, जो वीर चिरकाल से अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा करते आ रहे थे, उन राजपूत क्षत्रियों की शस्त्र-शिक्षा के सम्बन्ध में तो अधिक लिखना ही व्यर्थ है। वे बाल्यकाल से सब प्रकार के शस्त्रों का प्रयोग सीखते थे। बालक गोरा अपनी अद्‌भुत शूरता के लिए इतिहास में प्रसिद्ध ही है। अस्त्र-शिक्षा, स्वजातीय-कौशल, बचपन से ही प्रताप और शक्तिसिंह को सिखलाया गया था।

जब शक्तिसिंह की उम्र पाँच साल की थी, उस समय एक नयी घटना हुई, जिसे देखकर उदयसिंह और उनके दरबार के सामन्त सरदार काँप गये। बात यह थी कि उस समय एक नयी तलवार बनावायी गयी। तलवार विशेष आज्ञाक्रम के अनुसार बनी थी। यानी बाजारों में बिकनेवाली उन दिनों की मामूली तलवारों से उसमें विशेषता थी। जब वह बन गयी, तब उसकी धार की परीक्षा करने की बातचीत होने लगी। किसी ने कहा—सूत का लच्छा काटकर धार की परीक्षा ली जाय। किसी ने कहा– नहीं, एक बड़ी-सी मछली रस्सी से बाँधकर लटका दी जाय और तब परीक्षा हो कि तलवार के एक ही वार से मछली कटती है या

नहीं। किसी ने कहा —नहीं, गैंडे के पुट्ठे पर वार करके देखा जाय। किसी ने कहा —यह भी ठीक नहीं, लोहे का सींखचा काटकर देखिये। वीरों में परस्पर जब इस तरह की कल्पनाएँ लड़ रही थीं, उस समय महाराणा उदयसिंह की बगल में पाँच वर्ष का बालक शक्तिसिंह भी खड़ा यह कौतुक देख रहा था। उसकी नसों में उत्तेजित रक्तधारा बह चली। बालक की मुखाकृति गुस्से से बदल गयी। आवेश में आकर उसने कहा —सूत के लच्छे आदि काटने की क्या जरूरत है ? यह देखो,—तलवार की अभी मैं परीक्षा करता हूँ। इतना कहकर उसने तलवार उठा ली और अपनी एक अँगुली पर एक ऐसा निर्मम वार किया कि अँगुली कट गयी, उससे खून का फौवारा छूटने लगा। लोगों ने देखा कि इतने कष्ट में भी बालक शक्तिसिंह के मुख पर कष्ट के भाव की झलक न आयी। औरों की तरह वह भी चुपचाप अपनी अँगुली से बहते हुए खून की ओर एक दृष्टि से देख रहा था। महाराणा उदयसिंह तो स्तब्ध रह गये, जैसे काठ मार गया। और लोग भी देखकर दंग रह गये। बच्चे की जन्मकुण्डली की बात प्रत्यक्ष चित्र की तरह लोगों के सामने आ गयी। यद्यपि शक्तिसिंह का यह कार्य उसकी वीरता का द्योतक था, तथापि प्रसन्नता के बदले, भविष्य के किसी कठोर कार्य का स्मरण करके उनके मुखमण्डल मलिन पड़ गये। महाराणा उदयसिंह ने बालक के वध की आज्ञा दी। राजाज्ञा की प्रतिकूलता अथवा शक्तिसिंह को बचाने के लिए कुछ कहने की किसी को हिम्मत न पड़ी। सब लोग चित्र की तरह खड़े देखते रहे। जब घातक शक्तिसिंह को वध-भूमि की ओर ले चलने पर तैयार हुआ, तब सालुम्ब्रा सरदार के हृदय में शक्तिसिंह को देखकर दया आ गयी। उन्होंने हाथ जोड़कर महाराणा से प्रार्थना की—"महाराज, बालक निर्दोष है। परन्तु मैं महाराज की आज्ञा की प्रतिकूलता नहीं करना चाहता। केवल एक प्रार्थना है, महाराज उसे पूरा करें। अब तक महाराज की छत्र-छाया में रहकर अनेक प्रकार के सुखोपभोग मैंने किये हैं। मेरी कोई भी इच्छा महाराज की कृपा से अपूर्ण नहीं रही, आज एक और अभिलाषा हृदय में उठ रही है, महाराज उसे भी पूरा करें।"

उदयसिंह कुछ देर तक एक दृष्टि से सालुम्ब्राधिपति को देखते रहे, उस करुण मुहूर्त में सालुम्ब्राधिप जैसे उनके प्रिय पात्र किस अभिलाषा की पूर्ति के लिए प्रार्थना कर रहे हैं, यह उनकी समझ में न आया। स्नेहपूर्ण शब्दों में उन्होंने कहा, "सालुम्ब्राधिप, इतनी उलझनदार प्रार्थना किस कोटि की होगी, यह सोचकर भी न समझ पाया, आप खुलकर कहें, आप जैसे राज्य के शिरोमणि सरदार की प्रार्थना अवश्य ही पूरी की जायगी।"

उदयसिंह को इस प्रकार वचनबद्ध होते हुए देखकर सालुम्ब्राधिप को पूर्ण विश्वास हो गया। प्रार्थना की जो रुकावटें थीं वे भी न रहीं। उन्होंने विनीत शब्दों में कहा, "महाराज, आपकी कृपा से मुझे सब प्रकार का सुख और सब प्रकार की सम्पत्तियाँ प्राप्त हैं। धन, जन, बल, वैभव, प्रभुता सब मुझे मिल चुकी है, कमी केवल एक बात की थी, जिसकी पूर्ति अब तक ईश्वर की इच्छा पर ही थी, परन्तु

आज महाराज स्वयं ईश्वर के आसन से मेरी उस अपूर्णता को पूर्ण कर रहे हैं। मैं सविनय निवेदन करता हूँ कि दुर्भाग्यवशात् मेरे कोई सन्तान नहीं है। आज जिस राजकुमार शक्तिसिंह को प्राणदण्ड की आज्ञा दी गयी है, उसे ही मुझे पुत्र के रूप में महाराज दान देने की कृपा करें। चन्दावत गोत्र का दीपक गुल हो रहा है, इस बालक के द्वारा महाराज उसकी ज्योति बढ़ावें, मैं इसे ग्रहण कर पूर्वजो की पिण्डोदक-क्रिया की रक्षा करूँगा।"

उदयसिंह सालुम्ब्राधित की प्रार्थना का अनुमान भी नहीं कर सके थे। उनके शब्दों को सुनते ही इनके हृदय को बड़ा क्षोभ हुआ। जिस काँटे को राजपूतों के सिसोदिया-वंश-वृक्ष से निकाल देने के लिए उन्होंने अपनी राजसत्ता का सबसे बलवान प्रयोग किया था, वह काँटा रह ही गया। क्षत्रियों का सर्वस्व चाहे नष्ट-भ्रष्ट हो जाय परन्तु वे अपने अमूल्य शब्दों की अवश्य रक्षा करते हैं। यह धार्मिक विचार, महाराज की राजशक्ति का विरोध कर हृदय में प्रबल भावी विपद् की सूचना देने लगा। महाराज सहम गये। परन्तु लाचार थे, तत्काल उन्होंने दण्डाज्ञा वापस ली, शक्तिसिंह के प्राणों की रक्षा हुई। उन्हें सालुम्ब्राधिप अपने यहाँ ले गये और धर्मपुत्र की तरह उनका पालन-पोषण बड़े आदर-यत्न से करने लगे।

विधाता की प्रगति का निर्णय करना बड़ा ही कठिन है। उसी की इच्छा से वृद्ध सालुम्ब्राधिप के एक पुत्र हुआ। जब से इस बालक का जन्म हुआ तब से ये एक विशेष चिन्ता में पड़ गये। इसकी सम्पत्ति पर धार्मिक दृष्टि से उस सद्य:प्रसूत बालक का ही अधिकार था, उधर शक्तिसिंह को विख्यात महाराणा के वंश से अपने पुत्र के रूप में वे पहले ही ले चुके थे, यदि पुत्र को सम्पत्ति का अधिकारी बनाया जाय तो शक्तिसिंह को साधारण-सी सम्पत्ति का कितना अंश देना उचित होगा, उतने से शक्तिसिंह को सन्तोष होगा या नहीं, इस तरह की भावना में उनकी मानसिक परिस्थिति चंचल रहा करती थी। दूरदर्शी प्रतापसिंह को भी सालुम्ब्राधिप के मानसिक विक्षेप का कारण मालूम हो गया, शक्तिसिंह के सम्बन्ध में उनके जन्मपत्रिका काल में जो कुछ कहा गया था, उसे भी जानते थे, परन्तु इस स्थल में उन्होंने शक्तिसिंह के गृह-विरोध की चिन्ता नहीं की, सालुम्ब्राधिप के मन की चंचलता को दूर करने के लिए उन्होंने शक्तिसिंह को अपने पास बुला लिया। दोनों भाई आनन्दपूर्वक एक ही महल में रहने लगे।

तृतीय परिच्छेद

बन्धु-विवाद

देखते ही देखते विजयादशमी आ गयी, उसी दिन भगवान् रामचन्द्र की शक्ति की साधना सफल हुई थी। उस दिन भारतवर्ष के प्रत्येक शहर, नगर और प्रत्येक ग्राम में पूर्ण उपचारों से महोत्सव की रचना की जाती है। हिन्दुओं के त्योहारों में यह एक प्रधान त्योहार है। भगवान् रामचन्द्र की विजय-तिथि को भारतवासी अपनी विजय-तिथि मानते और उसी विचार से उसका स्वागत भी करते हैं। यह साधारण श्रेणी के हिन्दुओं की बात है, राजपूतों की नहीं। राजपूत-क्षत्रिय और उनमें भी जिन्हें सूर्यवंशी क्षत्री कहलाने का गर्व है, इस त्यौहार को बड़े ठाट से मनाते हैं। अपने प्रचलित उपचारों से वे इसे विजय का ही रूपक कर दिखाते हैं। इस दिन वे अहेरिया खेलते और उस शिकार में अपने भाग्य की विजय-परीक्षा करते हैं। आज राजपूताने में भी उसी विजय की प्रभाती स्वर्ण-किरण फैली हुई है, आज बाहरी प्रकृति के स्वागत-सौन्दर्य में राजपूत वीरों के हृदय में एक प्रकार की नवीन स्फूर्ति, नवीन संजीवनी-शक्ति का सचार हो रहा है। दूर तक फैली हुई हरियाली, उससे सप्रेम लिपटी हुई किरणें, सुविस्तृत प्रान्त का गगन चुम्बन, सरोवर और क्षुद्र नदियों की हलकी हिलोरें, राजप्रासादों की दिव्य सजधज और सबसे पहले राजपूत बालकों की चहल-पहल देखने ही लायक हो रही है। कहीं वीरों के स्फीत वक्ष से गर्व सूचित हो रहा है, कहीं शिकार के लिए शूरों की क्षिप्रता, उतावलापन, कोषस्थ असि की झनकार, कहीं बालकों का सदलबल आह्लाद, कहीं नारियों का सानन्द-श्रृंगार।

उदयपुर के आनन्द महासागर में जैसे चारों ओर से आनन्द के स्रोत आकर सम्मिलित हो रहे हों। राजपुरी में सहस्र-सहस्र वीर राजपूत एकत्र हो हार्दिक हर्ष सूचित कर रहे हैं। एक-दूसरे का सप्रेम आलिंगन कर रहे हैं। अहेरिया के लिए प्रत्येक के मुख पर उत्सुकता झलक रही है। उनकी साज-सज्जा भी उनके जातीय गर्व और वीरता की व्यंजना कर रही है। उनकी प्रसन्नता, उनकी स्वतन्त्रता और आत्मबल के भावों को प्रोत्साहित करती, उन्हें मूर्तिमान हर्ष बना रही है।

कुछ ब्राह्मण जल से पूर्ण विस्तीर्ण स्वच्छ सरोवर में स्नान कर सूर्यदेव को अंजलि दे शिवालय के द्वार पर वन्दनाएँ कर रहे हैं। उधर क्षत्रिय मृगया के लब्ध पशु से देवी को बलि-प्रदान कर सन्तुष्ट करने का संकल्प कर रहे हैं। कुछ लोग मित्रों के साथ इधर-उधर टहलते हुए राजपूतों के गत गौरव की कीर्ति-गाथा स्मरण कर रहे हैं। कोई बप्पारावल की वीरता और उनकी गजनी-विजय का प्रसंग छेड़े हुए है। कोई महाराणा समरसिंह की क्षत्रिय रूप में परशुरामत्व की कथा उठाये हुए है। कोई कह रहा है कि यदि संग्रामसिंह के साथ सम्पूर्ण राजपूत जाति सहयोग

देती तो गुलाम-बादशाहों के बाद दिल्ली के सिंहासन पर मुगलों की जगह राजपूत ही दृष्टिगोचर होते। कोई कह रहा है कि "भाई, हम लोगों पर बड़ी-बड़ी आपत्तियाँ आयीं, ईश्वर की क्या इच्छा है, कुछ समझ में नहीं आता। देखो, नीच मुसलमानों ने हमारी सती-नारियों पर भी दृष्टि डाली। अहा! पद्मिनी! वह सती-शिरोमणि; सौन्दर्य की देवी, अन्त तक अपने उज्ज्वल सतीत्व के साथ चिता की राख हो गयी, और उसके साथ कितने वीर! ओह! कितनी नारियाँ! स्मरण आता है तो नसों में बिजली दौड़ जाती है, कितना बड़ा महाप्रलय हुआ था चित्तौड़ में! भाई! मुसलमानों ने हमारी स्वतन्त्रता छीनने का ही इरादा नहीं किया, उन लोगों ने हमारी सती-कुलवधुओं पर भी दृष्टि डाली है। शिव! शिव! हम राजपूत ही इसका बदला चुकायेंगे, हमीं अपना घाटा पूरा करेंगे।" कोई कहता, "भाई, आज भी हमारा दुश्मन भारत के सम्राट् पद पर बैठा राज्य कर रहा है। अकबर! चित्तौड़ की सुन्दरता के अन्तिम शत्रु! राजपूत चापलूसों की सहायता लेकर तुमने हमारा सर्वस्व छीन लिया। परन्तु याद रखना, राजपूत सर्प से भी अधिक जहरीला, काल से भी अधिक क्रूर और प्रलय से भी भीषण भयंकर है। राजपूत जाति तुम्हें सुख की नींद न सोने देगी। अहा! सहस्र-सहस्र वीर समर की ज्वाला में भस्म हो गये। माता देवी!"

महाराणा के आगमन का स्वागत-वाद्य बजने लगा। लोग सजग होकर महाराणा के आने की बाट जोहने लगे। कतार बाँधकर सलामी देने के लिए सुसज्जित राजपूत सेना खड़ी हो गयी। महाराणा अपने महल से उतरे। वीरताव्यंजक दिव्य देह से एक अपूर्व नैसर्गिक ज्योति निकल रही है। प्रशस्त ललाट, प्रसन्न शान्त मुख-मण्डल, प्रलम्बबाहु, उन्नत वक्षस्थल, संकीर्ण कटि, मुख पर दृढ़ता का भाव, आँखों में प्रतिज्ञा, चिबुक में दृढ़ता, कपोलों में प्रसाद। जैसे ईश्वर की इच्छा से किसी विशेष उद्देश्य की पूर्ति के लिए इन्द्र अवतीर्ण हुए हों। धीर शान्त गति से महाराणा नीचे उतरकर खड़े हो गये। सरदारों ने सलामी दी। एक साथ सहस्र कण्ठों से जयध्वनि हुई, "महाराणा की जय!" "राजपूत-कुल-कीर्ति गौरव महाराणा प्रतापसिंह की जय!" "हिन्दुओं के मध्याह्न भास्कर महाराणा की जय!" महाराणा के उतरने से पहले ही शक्तिसिंह महल के द्वार पर उतरकर प्रतीक्षा कर रहे थे। महाराणा के आते ही वे भी पास आ प्रणाम कर उनके साथ हो लिये।

घोड़ा चेतक सजा हुआ खड़ा था। अपने मालिक को देखते ही हिनहिनाता हुआ अपनी श्रद्धा प्रकट करने लगा। महाराणा चेतक की ओर देखकर मुस्कुराये। टापों से मिट्टी खोदता हुआ चेतक अपनी स्फूर्ति में चंचल हो रहा है। महाराणा ने एक दृष्टि उस जनसमुद्र पर फेरी और सबको अपनी हार्दिक प्रसन्नता सूचित करते हुए बढ़कर चेतक की लगाम थाम ली। साईस अलग हो गया। महाराणा घोड़े पर चढ़े। साथ-साथ शक्तिसिंह और दूसरे-दूसरे सामन्त सरदार तथा सिपाही शरीर-रक्षक आदि भी घोड़ों पर सवार हो जंगल की ओर चले।

इस विजयादशमी के दिन राजपूतवीर शिकार खेलकर अपने भाग्य की

परीक्षा करते हैं। जिन्हें शिकार मिल जाता है, वे समझते हैं, कि उनका वह साल बड़ी प्रसन्नता से बीतेगा, जिन्हें नहीं मिलता वे अपने भविष्य को दुर्दैव के अन्धकार में ढका हुआ समझकर विशेष चिन्ता से युक्त रहते हैं।

घोड़ा बढ़ाते हुए वीर राजपूत जंगल में पहुँचे। वहाँ महाराणा ने अपने वीरों को स्वच्छन्द भाव से बिखरकर शिकार खेलने की आज्ञा दी। वीर राजपूत अपने-अपने साथियों को लेकर जंगल में तितर-बितर हो गये। एक ओर महाराणा ने भी अपना घोड़ा बढ़ाया। उनके साथ सिर्फ शक्तिसिंह और कुछ चुने हुए उनके शरीर-रक्षक ही रह गये। चेतक जंगल में झाड़ियों को पार करता हुआ क्रमशः उस जगह जा पहुँचा, जहाँ एक-दूसरे से सटे हुए बड़े-बड़े पेड़ों की घनी छाया के नीचे दिन में भी पूरा अन्धकार रहा करता था। जंगल में चारों ओर जानवरों का राज्य था, और खासकर उस जंगल में बराहों की अधिकता थी। देखते-देखते एक बराह कुछ दूर पर दिखायी दिया। महाराणा प्रताप और शक्तिसिंह दोनों ने उसके पीछे घोड़े बढ़ाये। सूअर भी जान लेकर भागा। परन्तु ये छोड़नेवाले कब थे, ये पीछा करते गये। कुछ नजदीक पहुँचकर दोनों ने अपने-अपने बर्छों से वार किया। एक निशाना अचूक बैठा और उसी से बराह का दम निकल गया। बराह को गिरते हुए देखकर दोनों भाई घोड़े बढ़ाकर उसके पास पहुँचे।

निशाना एक ही लगा था, देखकर शक्तिसिंह की चंचल प्रकृति अपनी स्वाभाविक उत्तेजना और यशोलिप्सा के कारण अनर्थ कर बैठी। शक्तिसिंह ने कहा, "देखा भैयाजी, मेरा निशाना कैसा अचूक बैठा है?" बराह को देखकर, "बच्चू बिल्कुल बेहोश हो गये हैं--अरे! शायद जान भी नहीं रह गयी। बराह थका था?"

प्रताप मुस्कुराये और चुप हो गये। शक्तिसिंह को प्रताप का मुस्कुराना अच्छा नहीं लगा। वे प्रताप से अपने लक्ष्य-वध की प्रशंसा सुनना चाहते थे। अतः आवेश में आकर कहा, "क्यों भैयाजी, आप मुस्कुराये कैसे? जान पड़ता है मेरी बात पर आपको विश्वास नहीं हुआ।"

इस बार प्रताप को कुछ क्रोध आ गया, परन्तु अपने भाव को उन्होंने भरसक छिपाने की चेष्टा की। मुँह फेर लिया और वैसे ही चुप हो रहे। अपने सेवकों की तरफ फिरकर उन्होंने गम्भीर भाव से कहा, "इसको उठा लो, हमारा मनोरथ भगवती की कृपा से पूरा हो गया है। अब यहाँ से चलना चाहिए।"

प्रतापसिंह के शब्दों की ध्वनि शक्तिसिंह की भी समझ में आ गयी। इससे उनके हृदय में अपमान का भाव जाग्रत हो गया। रूखे स्वर से उन्होंने कहा, "तो क्या महाराणा, इसे अपना शिकार समझते हैं?"

प्रताप (वज्र गम्भीर ध्वनि से)—"शक्तिसिंह!" राजसी दृष्टि से शक्तिसिंह को देखते हुए।

"मैं त्योरियों से दबकर चापलूसी न करूँगा महाराणा, घुड़कियों से डर जाने वाले कोई और क्षत्रिय होंगे, क्या आपने मुझे भी जगमल समझ लिया है?" तम-

तमाकर शक्तिसिंह ने कहा।

"सँभल जाओ, शक्तिसिंह अब भी खैर है!"

"मुझे महाराणा के व्यर्थ शब्दों की बिल्कुल चिन्ता नहीं, शिकार मेरा है।"

"झूठ है, हमारा है।"

"सुबूत?"

"सुबूत है शक्तिसिंह।"

"यह घोर अन्याय है, अधिकार के मद में इस तरह की स्वेच्छाचार मेवाड़ के किसी भी नरेश ने आज तक नहीं किया था।"

"साथ ही, मेवाड़ के स्वतन्त्र नरेशों की इस तरह की समालोचना का फल भी तुम्हें स्मरण होगा शक्तिसिंह?"

"मुझे फल का भय नहीं दिखाइये बार-बार, मैं किसी भी तरह स्वीकार नहीं कर सकता कि शिकार मेरा नहीं, आपका है।"

"तुम्हारे बर्छे की पहचान?" प्रताप की आँखें खून हो रही थीं।

"बर्छे की पहचान मैंने नहीं की।" अवज्ञा से।

"हमारे बर्छे का फलक तीरनुमा है!"

"शिकार के पास आकर आपने बर्छे की नोक देख ही ली होगी? मुझे अपने निशाने पर पूरा विश्वास है।"

क्रोध की भीषणता से प्रताप की मूर्ति बड़ी भयावनी होती थी, उधर शक्तिसिंह के अन्दर भी उतनी ही अवज्ञा और घृणा का भाव जाग्रत हो रहा था। और चारों ओर सन्नाटा था, जैसे हवा में भी शब्द करने का साहस न रहा हो। नौकर चुपचाप त्रस्त भाव से खड़े हुए प्रताप और शक्तिसिंह के मुख की ओर ताक रहे थे, कुछ बोलने की उन्हें भी हिम्मत नहीं पड़ती थी। रह-रहकर दोनों राजपूत वीरों की उत्तेजना से भरा हुआ स्वर अरण्य की शान्ति भंग करता, उसे क्षुब्ध कर देता।

केवल एक मनुष्य से यह बन्धु-विरोध न देखा गया। वे जाति के ब्राह्मण और राजकुल के पुरोहित थे। ब्राह्मण के उदार हृदय पर सख्त चोट लगी। क्षत्रियत्व को इस तरह कलंकित होते हुए देखकर दर्द से उनका हृदय भर आया। जिस राज्य के वे पुरोहित थे, सदैव जिसकी उन्नति चाहते थे, जिन राजकुमारों की श्रीवृद्धि और सुख ही उनकी तपस्या का प्रथम लक्ष्य था, उस राज्य के उन्हीं राजपुत्रों को इस प्रकार एक साधारण से विषय को लेकर क्रोधान्ध होते हुए देखकर शान्तिप्रिय ब्राह्मण से न रहा गया। प्रताप और शक्ति के सामने उपस्थित होकर ब्राह्मण ने बड़ी ही दीनता से कहा, "ईश्वर के लिए अब बस करो, बहुत हो चुका, सिसोदिया वंश के गौरव को धूल में न मिलाओ। मैं आप लोगों का पूज्य कुल-पुरोहित हूँ, मेरे वंशवालों के उचित शब्दों की राजवंशवालों ने सदा ही रक्षा की है, इसलिए मैं प्रार्थना करता हूँ कि इतना बहुत हो चुका, अब बस करो।"

परन्तु ब्राह्मण की प्रार्थना पर किसी का ध्यान न गया, उसी तरह दोनों एक-दूसरे को छेड़े हुए शेर की तरह देख रहे थे। पहले-पहल प्रताप ने जितनी सहनशीलता

दिखलायी थी, उस समय शक्तिसिंह की उद्दण्डता के कारण वह उतने ही क्रोध में बदल रही थी। उधर शक्तिसिंह तो प्रताप के बड़प्पन को पहले ही से भूले हुए थे।

प्रताप, "शक्तिसिंह, इसका परिणाम अच्छी तरह सोच लो।"

शक्तिसिंह, "मैं कह चुका हूँ कि त्योरियों पर बल देखकर डर जानेवाला कोई और होगा। व्यर्थ का घमण्ड क्यों करते हो, प्रताप, शिकार मेरा है।"

क्रोधान्ध शक्तिसिंह का हाथ बार-बार तलवार के कब्जे में जा रहा था, यह देखकर प्रताप के धैर्य का बाँध टूट गया। उन्होंने भी कब्जे में हाथ लगाया। तत्काल दोनों की तलवारें म्यान से मुक्त होकर वायुमण्डल में बिजली की तरह चमकने लगीं। नौकर सहम गये, नजर झुलस गयी, त्रस्त होकर सबने आखें मीच लीं।

प्रताप और शक्तिसिंह की नजर एक थी, दोनों भाई एक-दूसरे को सगे-शत्रु की निगाह से देख रहे थे। यह भयानक दृश्य राजकुल के पुरोहित उदार ब्राह्मण से न देखा गया। जिनकी छाया में उनके वंशजों ने अनेक प्रकार का सुखोपभोग करते हुए तपस्या और ईश्वरोपासना में अपना समय पार किया, इस समय भी जिस राजवंश की बदौलत ब्राह्मण की शक्ति और स्वतन्त्रता में कोई विघ्न नहीं, आज विपत्ति के समय उस वंश की किस प्रकार रक्षा हो, यह एकाएक उनके मस्तिष्क में न आया, उनका हृदय आवेश से ही क्षुब्ध हो रहा था। प्रतिहिंसा की वेदी पर सगे भाई का बलिदान करने के लिए दो प्यासी लाल जिह्वाएँ लपक रही थीं। स्व-धर्मनिष्ठ ब्राह्मण अधिक देर तक यह दृश्य न देख सके। बढ़कर प्रताप से उन्होंने कहा, "महाराणा, शान्त हूजिए, आपका पुरोहित ब्राह्मण विनयपूर्वक आपसे प्रार्थना कर रहा है। धर्म, देश और जाति की रक्षा का ध्यान कीजिए। यह जिस महाअनर्थ की ज्वाला धधक उठी है, महाराणा, इसका निवारण होना असाध्य हो जायगा। अपने ही हाथों लगाये हुए पौधे को काटकर हरा-भरा बाग न उजाड़िए। घर की फूट से, वंश की नींव न खोदिए। अभी मेवाड़ के भाग्याकाश से विपत्ति के बादल टल नहीं गये हैं। यवनों की शक्ति प्रतिदिन बढ़ती ही जा रही है, यदि उन्हें गृह-कलह का हाल संक्षेप में भी मालूम हो जायगा, तो यवनों की सेना से मेवाड़ की भूमि पर तिल रखने की जगह भी न रह जायगी। महाराणा, अपने कुल-पुरोहित का विरोधाचरण न कीजिए, शान्त हूजिए।"

अब तक दोनों एक-दूसरे का विनाश करने के लिए मौका ताक रहे थे। पैंतरे से चक्कर काटते, धोखा देते और वार करने की जगह देख रहे थे।

प्रताप ने ब्राह्मण के शब्दों का उत्तर संक्षेप में देते हुए कहा, "महाराज, मैं राजधर्म के प्रतिकूल नहीं हूँ, अपराधी को अवश्य दण्ड दूँगा।"

पुरोहित अधीर हो गये। प्रताप ने उनके शब्दों पर ध्यान न दिया, यह सोच-कर ब्राह्मण के हृदय में एक-दूसरे प्रकार का भाव सजग हो रहा था, वे क्षत्रिय-शूरता से ब्राह्मण के त्याग का मुकाबला करने के लिए हृदय में शक्ति भर रहे थे। इसी समय उनकी अन्तरात्मा ने कहा, एक बार शक्तिसिंह से भी प्रार्थना करो,

देखो, यदि वे तुम्हारी बात पर आ जायँ। स्नेह और करुणा की मूर्ति उस ब्राह्मण ने शक्तिसिंह को कहा, "कुमार, तुम अपने बड़े भाई का विरोध करके अपने मार्ग को कण्टकाकीर्ण कर रहे हो, शान्त हो जाओ। बड़े भाई से दब जाना ही तुम्हारा धर्म है।"

"नहीं महाराज, मैं क्षत्रिय हूँ, क्षत्रिय का शौर्य और सम्मान ही उसका सर्वोत्तम धर्म है।" शक्तिसिंह ने प्रताप की ओर ईर्ष्या-भरी दृष्टि से देखते हुए कहा।

"मैं समझ गया, माता, तुम्हारी इच्छा ही पूरी हो। मातृभूमि मेवाड़! तुम्हारी गोद के कितने ही लाल अपने हृदय के तप्त शोणित से तुम्हारी पूजा कर चुके हैं। माता! उन वीर क्षत्रियों ने देश के गिरते हुए आदर्श को ऊँचा उठाया है, तुम्हारे ज्योतिर्मय मुख-मण्डल को वासना-व्यसन के वसन से ढककर तुम्हारी देवी-मूर्ति को कलंकित करने की चेष्टा नहीं की। वे तुम्हारे सच्चे पुत्र थे, तुम्हारे गौरव को समझते थे। अपनी आत्मा की आहुति देकर, वारम्वार उन लोगों ने तुम्हारे पुत्र होने की योग्यता के प्रमाण दिये हैं, बाहर से आये हुए कलुष को अपने रक्त से धोकर तुम्हारी चिर निर्मल दीप्ति को प्रखर कर दिया है। माता! इसलिए उनकी पराजय में ही मैं उनकी विजय देखता हूँ। आज तुम अपने एक ब्राह्मण पुत्र को भी लो; मेवाड़! माता! यवनों का वारम्वार प्लावन तुम्हारे गर्व को बढ़ाने के लिए ही हुआ है, यह मैं समझ गया हूँ!" देशभक्त उदार ब्राह्मण ने माता की सेवा में मन-ही-मन यह स्तुति करके उन दोनों क्षुब्ध क्षत्रियों की ओर मुड़कर कहा, "सुनो प्रताप, अपनी राजनीति का पक्ष तुमने लिया है और शक्तिसिंह तुम अपने क्षत्रियत्व की दुहाई देते हो। मैंने पहले अपनी स्वाभाविक विनय से तुम लोगों को शान्त करने का इरादा किया था, परन्तु तुम दोनों की अन्ध बुद्धि ने मेरी बुद्धि पर ध्यान देना उचित नहीं समझा। साथ ही मैं कहूँगा, तुम्हारे पूर्वपुरुषों से जो घराना पूज्यदृष्टि से देखा जाता था, जिस ब्राह्मण-वंश की आज्ञा का कभी उल्लंघन नहीं किया गया, आज तुम लोगों ने वह भी कर दिखाया और इस तरह मेरा कितना बड़ा अपमान तुम लोगों ने किया है, पीछे समझोगे। लो तैयार हो जाओ गर्वान्ध क्षत्रियो, मैं देखूंगा, क्षत्रियत्व को मैं ब्राह्मणत्व के बल से शान्त और पराभूत कर सकता हूँ या नहीं!"

तपस्वी ब्राह्मण के मुख की श्री ने विचित्र शोभा धारण कर रखी थी। एक स्वर्गीय ज्योति ने जैसे ब्राह्मण को ढक लिया हो, जैसे ये पहले के पुरोहित महाराज नहीं, प्रताप और शक्तिसिंह को शिक्षा देने के लिए कोई दूसरी शक्ति आ गयी हो। साक्षात् भगवती गायत्री जैसे ब्राह्मण को घेरकर खड़ी हो गयी हों। त्याग की उस तप्त मूर्ति को देखकर महाराणा के नौकरों के तो होश ही उड़ गये। कुछ देर के लिए उन्हें विस्मरण हो गया कि प्रताप और शक्तिसिंह में समर छिड़ा हुआ है, एवं स्तब्ध होकर एक दृष्टि से सब लोग ब्राह्मण की ओर देख रहे थे।

ब्राह्मणदेव ने अपनी आत्मबलि का निश्चय कर लिया। झट उन्होंने एक

छोटी-सी छुरी निकाली। दाहिने हाथ में उसे लेकर आकाश की ओर ताकते हुए उन्होंने कहा, "ईश्वर, तुम अन्तर्यामी हो, भगवन्, मेरी प्रतिज्ञा है इस राजवंश के ये दोनों ही लाल अक्षत रहेंगे। इनकी प्रतिज्ञा अपूर्ण होगी, तुम सबके हृदय की अभिलाषा पूर्ण करते हो, आज तुम्हारे श्रीचरणों मे मेरे आत्मनिवेदन का अर्थ यही है!"

यह कहकर कल्याणकामी ब्राह्मण ने अम्लान भाव से अपने हृदय में छुरी चुभो ली। गर्म खून का फौवारा छूट चला। क्षत्रियत्व के जोश में पागल प्रताप और शक्तिसिंह के ऊपर भी खून के छींटे जा पड़े। प्रताप का अनुचर-समुदाय उच्च स्वर से "ब्रह्म हत्या हो गयी! ब्रह्म हत्या हो गयी" कहकर चिल्लाने लगा। ब्राह्मण के शरीर से ख़ून की धारा बह रही है, देखकर प्रताप चकित हो गये, शस्त्र सँभालकर आश्चर्य-भरी दृष्टि से ब्राह्मण को देखने लगे। भय से शक्तिसिंह का हाथ भी न उठा। महान् अपराधी की तरह वे भी तड़फड़ाती हुई ब्राह्मण की भूलुण्ठित देह को देखने लगे। मारना, वार करना भूल गया। बात-की-बात में क्षत्रियत्व का नशा इस महान् त्याग को देखकर उतर गया। जहाँ दोनों भाइयों में घनघोर शत्रुता ठनी हुई थी, वहाँ दोनों सशंक दृष्टि से उस मृतप्राय ब्राह्मण को देख रहे हैं। शक्तिसिंह को तो बिलकुल काठ मार गया। महाराणा प्रताप ने होश सँभालकर ब्राह्मण को उठा उनका मस्तक अपनी छाती पर रख लिया। वे दम तोड़ ही रहे थे। देखते-ही-देखते उनका शरीर प्रताप की गोद में निष्प्राण हो गया। एक आह के साथ प्रताप के दो बूँद आँसू उस गम्भीर मौन में मृत ब्राह्मण की छाती पर टपक पड़े।

ब्राह्मण की ओर से प्रताप की नजर शक्तिसिंह की ओर उठी। तमाम ख़ून खौल उठा। सोचने लगे, शक्तिसिंह ही इस घोर ब्रह्महत्या का कारण है। प्रताप ने अपने स्वाभाविक स्वर से शक्तिसिंह को देखते हुए कहा, "शक्तिसिंह, आज इसी मुहूर्त तुम मेरे राज्य की सीमा पार कर जाओ। अपने राज्य से तुम्हें निर्वासन दण्ड दिया।"

शक्तिसिंह के मुँह से कोई शब्द न निकला, चुपचाप इस दण्ड को उन्होंने स्वीकार कर लिया और वहाँ से राज्य पार कर जाने के लिए घोड़े पर सवार हो चल दिये।

इधर ब्राह्मण की अन्त्येष्टि-क्रिया बड़ी धूमधाम से समाप्त की गयी। उसी जगह पर एक स्मृति मन्दिर भी प्रताप ने तैयार करा दिया और उसके परिवार को एक अच्छी जागीर दी, जिसका उपभोग इस समय भी उस त्यागवीर ब्राह्मण के वंशज करते आ रहे हैं।

चतुर्थ परिच्छेद

राजधानी-चित्तौड़

फाल्गुन सुदी 15 सं. 1618 का दिन हिन्दुओं को स्मरण रखना चाहिए। हिन्दू कुलपति महाराणा प्रतापसिंह को इसी दिन राजगद्दी मिली थी। कापुरुष उदयसिंह के औरस से प्रताप-जैसा वीरशिरोमणि पैदा हुआ, यह कम आश्चर्य की बात नहीं। यदि उदयसिंह के समय अकबर के यौवन-काल में, उनके दिल्ली-सिंहासन प्राप्त करते समय उदयसिंह न होकर महाराणा प्रताप होते, तो आज इतिहास-लेखकों को आपके सम्बन्ध में कुछ और ही शब्द, और-और ही घटनाएँ लिखनी पड़तीं।

शक्तिसिंह को राजधानी से तो प्रताप ने निकाल दिया था, परन्तु अपने हृदय से न निकाल सके थे। कारण और अनेक दुर्गुणों के रहते हुए भी एक बहुत बड़ा गुण शक्तिसिंह में था। वह थी निर्भीकता। शत-शत शत्रुओं के बीच में घिरकर भी शक्तिसिंह पीठ न फेरते थे, भागने के लिए उनके पैर ही न उठते थे। जितने उद्दण्ड थे, उतने बड़े वे वीर भी थे, उनके सरदारों में शक्तिसिंह का अभाव दूर करनेवाला कोई न था। सेना-संचालन की शक्ति तो शक्तिसिंह में न थी, पर अपने प्रबल पराक्रम और अनिवार्य वारों से शत्रुदल को विचलित करने और अपनी सेना को उत्साह देने में शक्तिसिंह से बढ़कर वीर प्रताप की फौज में न था। आज उसी वीर के अभाव से महाराणा विचार कर रहे हैं। कभी मुगलों की शक्ति याद आती, कभी भाई शक्तिसिंह की।

"कितने अत्याचार मुगलों ने राजपूत जाति पर किये हैं। शत-शत वर्ष काल के अथाह गर्भ में समा गये; परन्तु इन दोनों जातियों का भाव एक-दूसरे से वैसा ही बना है। यह दोष किसका है ? क्या राजपूत इसके लिए दोषी हैं ?वे तो मुगलों को कभी भी सताने के लिए नहीं गये। तब, क्या दोष मुगलों का है ? केवल मुगल ही नहीं पठानों के राज्यकाल से ही मेवाड़ भूमि पर ऐसे ही आक्रमण हो रहे हैं, जैसे हम मेवाड़वासी आक्रमण सहने और अन्त तक प्राणों की आहुति देने के लिए ही पैदा हुए हों। जैसे यहाँ के अधिवासियों का इसके अतिरिक्त और कोई उद्देश्य ही न हो। मुसलमान अपनी विजय के लिए आते हैं, हे ईश्वर, इस विजय और रक्षा के भीतर तुम्हारी कौन-सी इच्छा छिपी हुई है ?अगणित वार पराजय, सहस्रों राजपूत अंगार की तरह जलकर राख हो गये, अगणित स्त्रियाँ सती हो गयीं, अपनी धर्म-रक्षा के लिए, और यह भयंकर प्रहार हुआ—एकमात्र चित्तौड़ पर विशेष रूप से।

"चित्तौड़ मेवाड़ की रानी है, हमारे वंशजों की शताब्दियों तक राजधानी रह चुकी है। केवल पिताजी ने वहाँ से राजधानी उठा दी, उदयपुर चले आये, परन्तु चित्तौड़ की-सी श्री क्या संसार में और कहीं होगी ? दुर्लंघ्य पहाड़ के मस्तक पर

आकाश के चन्द्र की तरह शोभा दे रही है। नहीं है, क्यों थी; अब क्या है, अब तो अकबर की कृपा से घास, टीले, स्तम्भ, खण्डहर, यही उसकी पहचान के लिए रह गये हैं। परन्तु जो भूषण उसके छिन गये हैं, यदि फिर से पहना दिये जायँ, तो वह रानी ही रहेगी। स्थिति उसकी कितनी सुरक्षित है। शायद इसीलिए उस पर प्रहार-पर-प्रहार होते गये। तीन ओर से पहाड़ के कारण एक सुरक्षित मध्यभाग लगभग डेढ़ मील चौड़ा, जहाँ कभी लोगों की अश्रान्त चहल-पहल थी। सम्पूर्ण घेरा आठ मील तक का—कितना सुन्दर एक नगर के लिए, पर्वत भी सौ गज से ज्यादा ऊँचा नहीं। चारों ओर से चारदीवारी नगर की रक्षा कर रही थी, और रात को इसी चारदीवारी की मरम्मत कराते समय सेनापति हमीर—ओफ हमीर! मारे गये! घातक अकबर की गोली से छिपकर मारा गया वीर तो यह जानता था कि रात को लड़ाई नहीं होती। जहाँ स्वाधीनता की विजय-वैजयन्ती उड़ रही थी, आज वहाँ भयानक श्मशान है! ऊँचे-ऊँचे विजयस्तम्भ दुर्गम आकाश को आलिंगन करने के लिए बढ़ रहे हैं, मानो अब इस पृथ्वी के अत्याचार को देख नहीं सकते। हाय! आज चित्तौड़ असहाय भिखारियों की तरह निरस्त तथा कान्तिहीन-सा हो रहा है। मेरी ओर कैसी करुणाभरी दृष्टि से देखता है!

"अहा! मेवाड़, वह भी एक दिन हो गया कि नन्हें-नन्हें बालकों को उनकी माताएँ केसरिया वस्त्र पहना, आशीर्वाद देकर, मुख चूम लड़ाई के लिए विदा करती थीं, और सगर्व कहती थीं कि बेटा मर जाना पर हारकर न आना। कितनी ही देवियाँ अपने पूज्य पतियों को बाँह में भरकर, डबडबाई आँखों से विदा करती हुई कहती थीं, विजय के साथ आना, नहीं तो स्वर्ग में मैं तुम्हारे लिए प्रतीक्षा न करूँगी। क्या संसार में कहीं इतनी बड़ी विभूति होगी?

"कितने अच्छे ढंग से रक्षा की गयी थी। नगर में प्रवेश करने का मार्ग पूर्व-दक्षिण के कोने से था, यहाँ से क्रमशः बस्ती ऊँची होती गयी, पर बीच-बीच में नीचे की जगहें भी मौजूद, अगम अथाह जलाशय सदा ही भरे हुए, पानी का कभी भी अभाव न हो। जो राह किले तक गयी थी, वह बिल्कुल चक्रव्यूहाकार। दुर्ग तक पहुँचने में सात दरवाजे पड़ते थे। इन दरवाजों में रामपोल सबसे बड़ा था। और यह चित्तौड़ से पश्चिम की ओर था। पूर्व में सूर्यपोल। भोजन और पानी का अभाव यहाँ प्रथम से अन्त तक कभी नहीं हुआ। कितने विजयस्तम्भ, जैनियों के कीर्तिस्तम्भ और देव मन्दिर राजा कुम्भ के ऐश्वर्य की साक्षी दे रहे हैं।"

मानसिक चिन्ता के कारण महाराणा बिल्कुल शिथिल हो रहे थे। ऐसे समय द्वार-रक्षक ने चन्दावत कृष्ण के आने की सूचना दी। महाराणा ने सहर्ष बुलाया। प्रभात के थके हुए मुख की ओर देखकर आश्चर्य प्रकट करते हुए सरदार चन्दावत कृष्ण ने कहा, "मुझे महाराणा को देखकर जान पड़ता है, वे किसी विशेष चिन्ता में पड़े हैं। क्या मैं इसका कारण पूछने का साहस करूँ?"

उदास भाव से चन्दावत कृष्ण को एक बार महाराणा ने देखा, एक लम्बी-सी साँस ली, और कहा, "हाँ, आपका अनुमान बिल्कुल ठीक है। मुझे चित्तौड़ की

याद आ गयी है। मैं एक वार आपके मुख से चित्तौड़ की कथा सुनना चाहता हूँ।" प्रताप आग्रह से सरदार चन्दावत को देखने लगे।

सरदार ने एक लम्बी साँस ली। आँखें नीची कर लीं और कहा, "महाराणा, मुसलमानों के शासनकाल के आरम्भ से ही चित्तौड़ पर विपत्ति की बिजलियाँ टूटती आ रही हैं, अब चित्तौड़ का वह वैभव कहाँ ?आपको तो वैभवरहित राज्य का सिंहासन मिला है, जिसके मणि-रत्न मुसलमानों के हाथ लग चुके हैं, और जिसका वीर्य समर की चिता पर जलकर अमरलोक को चला गया है। श्मशान के सम्राट् ! इसके प्राचीन शौर्य की समानता मैं न करूँगा, केवल आपके पिता के सम्मान का हाल बताता हूँ। जब आपके पिता चित्तौड़ से भागकर अपनी संकीर्णता, कापुरुषता का परिचय देते हुए प्राणों की रक्षा के लिए यहाँ आ छिपे थे, उस समय, अकबर के प्रबल आक्रमण की चोट अल्पसंख्यक राजपूत वीरों द्वारा सही नहीं गयी, उस भंयकर समर की ज्वाला में तीस हजार राजपूत भस्म हो गये! राजपूतों की सहस्र-सहस्र साध्वी स्त्रियाँ भी जिनमें उदयसिंह की नौ रानियाँ, पाँच राजकुमारियाँ तथा अन्यान्य वीर सरदारों की अगणित स्त्रियाँ थीं, अपने सतीत्व और सम्मान की रक्षा के लिए जलते हुए अग्निकुण्ड में जीवन विसर्जन कर स्वर्ग में अपने प्रियजनों से जा मिलीं और कुछ पहले ही से स्वर्ग में चलकर अपने कापुरुष पतियों को आत्मविसर्जन की शिक्षा देती हुई सुखोपभोग करने लगीं। विशेष दुःख होता है उन अविवाहिता छोटी-छोटी बालिकाओं की जलती हुई चिताग्नि में अपनी माता के अनुसरण-धर्म ग्रहण करने की बात से। सोचिए महाराणा, वह राजपूत जाति की कितनी बड़ी आहुति थी।"

प्रताप की दृष्टि स्थिर, जलती हुई, अभ्ररहित, श्वास अवरुद्ध, निश्चल, सम्पूर्ण मन सरदार के विगत पीढ़ी के इतिहास-कथन पर मानो प्रबल तूफान उठाने के लिए वायुमण्डल ने यह पूर्व गम्भीर रूप धारण किया है। सरदार कहते गये, "एक ओर मुगलों की हर्ष-ध्वनि हो रही थी, दूसरी ओर राजपूत वीरांगनाओं का जौहर ! चित्तौड़ गढ़ के टूटने पर बड़ा कोलाहल करते हुए मुगल-सम्राट् उस नगर के भीतर घुसे। उन्हें आशा थी कि तुर्की से आये हुए सिपाहियों के घर विधवा राजपूत-रमणियों से आबाद होंगे।"

"ठहरो", प्रताप की आँख आग उगल रही थीं। सरदार चन्दावत अब तक अपनी कथा की ओर ही ध्यान लगाये हुए थे, प्रताप की भीमगौरव मुखाकृति देखकर सहम गये। परन्तु बुद्धिमान् सरदार ने प्रताप को शान्त कर फिर कहा, "महाराज, हम राजपूतों की आशा के दीपक ! तुम्हारा प्रकाश चिरन्तन हो, मैं वही तैल तुम्हारे अन्दर भर रहा हूँ। धैर्य से सुनो, स्वभाव की उत्तेजना से कार्य-सिद्धि नहीं होती।" प्रताप शान्त हो गये। सरदार कहने लगे, "अकबर चित्तौड़ के अन्दर गये, तब उनकी सम्पूर्ण आशा धूल में मिल गयी, कुछ भी हाथ न लगा। एकमात्र चतुर्भुजी देवी के मन्दिर का जलता हुआ दीपक और जन शून्य भवनों के विशाल अद्भुत कारीगरी के साक्षी दरवाजे, मुगल बादशाह की लुण्ठन वृत्ति को

कुछ सन्तोष देने के लिए सजग खड़े थे। जैसे आत्माहुति के लिए वे भी तैयार होकर उस विपुल शून्यता में उसे ललकार रहे हों।" चन्दावत कृष्ण इतना कहकर सशंक दृष्टि से प्रताप के मुख की ओर देखने लगे। उनके कपोलों पर से आँसुओं की मुक्ताएँ चित्तौड़ की दरिद्रता को श्री-समृद्ध करने के लिए अविराम भाव से बह रही थीं।

पंचम-परिच्छेद

वीर-वृत ग्रहण

प्रातःकाल की सुनहरी किरणों में अब और ही चहल-पहल, एक दूसरी ही छवि दिखलायी दे रही थी। संसार के इतिहास में यह एक सर्वश्रेष्ठ आत्माभिमानी स्वदेशभक्त का गौरव-दिवस था। शरीर की प्रत्येक शिरोपशिरा में इसी दिन प्रताप की प्रतिज्ञा-शक्ति का संचार हुआ था, जिससे आजीवन उन्हें उद्देश्य पथ पर अटल हिमाचल की तरह स्थित और वेगवान वायु की तरह गतिशील कभी सुख की नींद नसीब न हुई। कभी प्रखर आतप-तप्त शिलाओं पर विचरते, कभी प्रलय की बाढ़ में विपुल शत्रु-सेना से सम्मुख समर करते, कभी प्रचण्ड शीत की निशा में पराजित होकर पकड़े जाने के भय से वास-वस्त्र रहित होकर पार्वत्य-प्रदेशों में छिपते फिरते। आज यह उन्हीं असंख्य विघ्न-बाधाओं के स्वीकार करने का दिन है।

चारों ओर राजधानी में खबर फैल गयी, राजदरबार होगा। बड़े-बड़े सामन्त सरदारों का वहाँ सम्मिलित होना आवश्यक है। महाराणा की आज्ञा का उल्लंघन किसी ने न किया। राज्य के प्रतिष्ठित प्रायः सभी सामन्त सरदार वहाँ एकत्र हुए, साधारण जनों का तो हाल ही न पूछिए। सबके हृदय में महाराणा के सम्बन्ध में तरह-तरह की तरंगें लहरें मार रही थीं। उदयसिंह के पश्चात् प्रताप को प्राप्त कर लुप्त गौरव मेवाड़ की अन्तरात्मा उत्फुल्ल हो उठी। सब लोगों को यह विश्वास हो रहा था कि हमारे भूतपूर्व राणा उदयसिंह न होकर प्रतापसिंह होते तो हमारे चित्तौड़ का इस तरह विनाश न होता। लोग अनेक प्रकार की जल्पना-कल्पनाएँ कर रहे थे। जब तक सभा में अधिकारी वर्ग नहीं आ गये, तब तक लोग एक-दूसरे से तर्क-वितर्क करते हुए खासा कोलाहल मचाये हुए थे।

देखते-देखते सभा में सन्नाटा छा गया, जैसे लोगों की साँस भी न चल रही हो। विस्तृत सभा-मण्डप की साज-सज्जा बिल्कुल नये ढंग की थी। चारों ओर आम के पत्तों की झालर टँगी थी। द्वार पर जलपूर्ण कलश रक्खे थे, ऊपर मंजरी और शस्त्र से भरा पात्र। इसी मण्डप में एक जगह महाराणा के बैठने की जगह

थी। सब लोग गला बढ़ा-बढ़ाकर महाराणा को देख रहे हैं कि इतनी देर हो गयी, क्यों नहीं आये ?

एकाएक भेरी बज उठी। सिपाही कतार बाँधकरखड़े हो गये। सलामी दगने लगी। लोग उत्सुकता से चंचल हो रहे थे। महाराणा मण्डप के भीतर गये। सम्पूर्ण सभासदों ने उठकर महाराणा का स्वागत किया। वे धीरे-धीरे अपने आसन पर जा बैठे। महाराणा के दोनों ओर उनके शरीर-रक्षक, सरदार-राजपूत गर्व से गर्दन ऊँची किये खड़े हो गये। कुछ चुने हुए राजकर्मचारियों और सामन्त सरदारों को ही महाराणा की बगल में बैठने का सौभाग्य मिला था। समय के आ जाने पर महाराणा बड़े धैर्य और गम्भीरता से उठकर खड़े हो गये और सम्मिलित जनसमूह को लक्ष्य कर कहने लगे,—

"भाइयो, आज एक विशेष उद्देश्य की सिद्धि के लिए मैंने तुम लोगों को यहाँ आने का कष्ट दिया है, मुझे पूर्ण विश्वास है कि इस कष्ट को तुम लोगों ने सहर्ष स्वीकार किया होगा, परिश्रम की सुकुमारता को अवश्य ही तुम लोग मुझे उपहार दे चुके होगे, और मेरे उद्देश्य-पथ पर आजीवन चलने के लिए निश्चय कर लिया होगा। मैं जानता हूँ मेरे प्रति तुम्हारा यह प्रेमातिरेक है। यह कभी उस तरह की राजभक्ति नहीं, जिसके हाथ हमेशा भय के कारण ही अंजलिबद्ध हुआ करते हैं, जिसका मस्तक केवल प्रहार के भय से नत हुआ करता है, जिसकी आज्ञाकारिता में स्वामी की कुटिल गति मिली रहती है, जिसे मालूम नहीं आत्मत्याग क्या है, जो नहीं जानता हृदय का आदान-प्रदान किस प्रकार से हुआ करता है।"

लोग मन्त्रमुग्ध की तरह एक दृष्टि से महाराणा को देखते और उनका हृदय के अन्तिम स्तर तक पहुँचकर अपना प्रभाव छोड़नेवाला अभिभाषण सुन रहे हैं, कभी-कभी वे अपने साथियों से भी मौन दृष्टि से कुछ प्रश्न कर लेते हैं। महाराणा कहते गये,—

"आज मैंने तुम लोगों को जिस उद्देश्य की पूर्ति के लिए यहाँ बुलाया है, वह हिमालय से भी महान् और समुद्र से भी गम्भीर है, आकाश से भी अगम और अरण्य से भी गहन है। भाइयो, एक बार उस जाति की ओर आँख उठाकर देखो, उस जाति की ओर जो वेदों की अनादि व्याख्या की तरह अपनी उत्पत्ति को अनादि-काल-प्रसूत बतलाती है, भगवान् रामचन्द्र को, भगवान् कृष्णचन्द्र को जन्म देने का गर्व करती है, देखो, आज कुछ ही शताब्दियों के अन्दर कितना घोर परिवर्तन हो गया। उस जाति को आदर्श से भ्रष्ट, धर्म से पतित, सहानुभूति से बहिष्कृत, देश की हिताकांक्षा से विमुख और तुर्कों की सेवा में तत्पर होते देखकर क्या कभी कोई सच्चा स्वदेश-भक्त एक क्षण के लिए भी स्थिर रह सकता है ?"

"कदापि नहीं, कदापि नहीं ! समुद्र की एक प्रबल तरंग जैसे एक छोर से उठी और दूसरे छोर तक गर्जना करती हुई चली गयी। प्रताप कहने लगे, "भाइयो, आज हिन्दू जाति के दुर्भाग्य के कारण उसके मुख्य-मुख्य सभी आधार मुसलमानों के आश्रय में अपनी दीनता के दिन काट रहे हैं, आज ऐसा कोई नहीं जिसे भारतवर्ष

अपनी जाति का सिरताज, अपने अपमान का बदला चुकानेवाला, स्वाधीन सम्राट् समझे। आज जयपुर, जोधपुर, अम्बर जैसे क्षत्रियों के गर्वोन्नत भाल पर एक ही कलंक का टीका लग रहा है ! मुगलों के प्रताप-भोजी इन क्षत्रियों ने देश को पराधीन कर देने में अपनी सम्पूर्ण शक्ति का उपयोग किया है। अब तक मुसलमानों की अधीनता में रहकर अपने धर्म के बचाने का उपाय हो जाता था, परन्तु अब तो वह बात भी नहीं रही, अब मिलना तभी हो सकता है, जब अपने घर की एक कन्या को भी तुर्कों की सेवा में समर्पित न किया जाय ! भाइयो, राजपूत क्षत्रियों के वंश की कन्या, महाराज मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् रामचन्द्र के वंश की कन्या, मुसलमान बादशाहों की खिदमत में हाजिर हो, क्या यह तुम्हें स्वीकार है ?"

"कभी नहीं, कभी नहीं ! प्राणों के रहते कदापि नहीं, हम अपनी मर्यादा की रक्षा के लिए अपने प्राणों को तुच्छ समझते हैं !" महाराणा कहते गये,--

"जिस प्रकार प्रलय की अग्नि चारों ओर से पार्वत्य प्रदेश को घेरकर जलती रहती है, आज हम उसी तरह चारों ओर से घिरे हुए हैं और तभी तक हमारा अस्तित्व है, जब तक हम अपनी स्वतन्त्रता के साथ अपनी जननी-जन्मभूमि की गोद में सुख से विचरण करते हैं। हमारे देश के हतश्री महाराजाओं को हमारी यह स्वतन्त्रता पसन्द नहीं। वे अपनी तरह हमें भी गुलाम बना लेना चाहते हैं। यह मनुष्यों की प्रकृति है। भाइयो, तुम्हारे जैसे माता के गर्वीले लालों के रहते क्या मैं यह आशा करूँ कि एक दिन मुझे भी तुर्कों की गुलामी के लिए साजो-सामान से तैयार होकर जाना पड़ेगा ?"

"नहीं—कभी नहीं ! एक भी राजपूत जब तक मेवाड़ की भूमि पर महाराणा की सेवा के लिए जीवित है, तब तक महाराणा का केशाग्र भी तुर्क स्पर्श नहीं कर सकते, कदापि नहीं स्पर्श कर सकते ! हम फिर तुर्कों को अपनी चमकती हुई तलवारों का पानी दिखायेंगे, फिर मेवाड़ के वक्ष पर जौहर होगा। इस वार मेवाड़ का बच्चा-बच्चा, मेवाड़ के सौ-सौ पुत्र माता के उद्धार के लिए बलि-वेदी पर चढ़ जायँगे, महाराणा की रक्षा के लिए अपने सर्वस्व का अर्पण कर देंगे। परन्तु तुर्कों की अधीनता कदापि स्वीकृत नहीं होगी।" एक मधुर दृष्टि उस विपुल जन-समूह पर फेरकर बड़े उत्साह से महाराणा कहने लगे, "हमें अपने भाइयों पर, अपने सरदारों पर, अपने वीरों पर पूरा विश्वास है, हमें उन पर पूरा भरोसा है। हम जानते हैं कि चाहे हिमालय पृथ्वी के वक्ष पर चचंल हो जाय, चाहे सूर्य पूर्व से पश्चिम में उगे, चाहे विधाता की लिपि का खण्डन हो जाय, परन्तु मेरे वीरों की प्रतिज्ञा का भंग होना असम्भव है। मेरे वीरो, मेरे सहायक मित्रो, मेरे भाइयो, मेवाड़ के लाड़ले बच्चो, यह प्रतिज्ञा तुम्हारे योग्य ही हुई है। अगणित वार प्राणों की आहुति देकर काल को भी तुमने परास्त कर दिया है। भाइयो, जिस कारण से तुम लोगों को यहाँ मैंने निमन्त्रित किया है, वह कारण तुम्हें मैं अब सुनाता हूँ। चित्तौड़ की विपत्-कथा तुम लोग अच्छी तरह जानते हो। मेवाड़ के पुत्रो, मातृभूमि चित्तौड़ के दुख के दिन तुम्हें न भूले होंगे, सरदार

कृष्णजी से उसकी करुण-कहानी सुनकर जो निश्चय मैंने किया है, तुम्हें सुनाता हूँ। आज की इस कथा को जीवन के उस मुहूर्त तक स्मरण रखना होगा, जब तक चित्तौड़ के शत्रु से उसका पूरा प्रतिशोध न लिया जा सके। भाइयो, हमारी माता की आँखों से अविराम अश्रु-प्रवाह जारी है, ऐसी दशा में हमें सुख-भोग करना किसी तरह से भी शोभा नहीं देता, बल्कि यह हमारी दुर्बलता है; राजपूत जाति के लिए घोर कलंक है।"

सब लोग विस्मय से मुग्ध होकर एकटक महाराणा को देख रहे हैं। महाराणा कहते गये,—

"हमने निश्चय किया है कि जब तक चित्तौड़ की यह अवस्था दूर न होगी, हम उसे उसी दिव्यरूप में न देख लेंगे, तब तक उसके दुःख में हम भी शोक-चिह्न धारण करेंगे, तब तक हमारा ब्रह्मचर्य व्रत रहेगा, हम किसी तरह का आनन्द-मंगल न मनायेंगे, नख और बाल न कटवायेंगे, सोने और चाँदी के बरतनों में हम अब तक भोजन करते आये हैं, परन्तु अब से हम पत्तल पर भोजन किया करेंगे।

"महलों में हमें अब तक आनन्द के ही साधन मिलते आये हैं और हम उनसे अपने उच्चतर कार्यों को भूलते गये, अब हम उन महलों का रहना भी छोड़ देंगे, राजवेश की भड़क और चकाचौंध से लोगों पर व्यर्थ प्रभाव डालने की धृष्टता न करेंगे, सब भाइयों की तरह मामूली पोशाक, साधारण रहन-सहन के साथ कुटिया में जीवन बितावेंगे!"

लोगों पर जैसे वशीकरण मन्त्र का प्रभाव पड़ रहा हो, जैसे स्वर्ग में भी इस दृष्टान्त की लोग आशा न करते हों, जैसे देवताओं में भी इतना बड़ा चरित्र-बल न हो, महर्षियों में भी इतना कठोर त्याग न हो, लोग गम्भीर श्रद्धा की दृष्टि से उस महावीर, महात्यागी की पवित्र वाणी को सुनने लगे।

"भाइयो, जब तक चित्तौड़ का उद्धार न होगा, तब तक हम किसी प्रकार का उत्सव न करेंगे, कोई त्योहार न मनायेंगे। हमारे सामने जो नगाड़ा बजता हुआ जाता था, अब वह वैसे न बजेगा। अब वह हमारी सेना के पीछे बजा करेगा।"

महाराणा चुप हो गये। सहस्रों व्याकुल कण्ठ महाराणा को धन्यवाद देने लगे। जनता के प्रतिनिधि की हैसियत से सरदार चन्दावत उस मंच पर से उठकर खड़े हो गये और अपने मेघ-गम्भीर कण्ठ से कहने लगे, "भाइयो, महाराणा ने हमारे दुःख-कष्टों को दूर करने के लिए जिस कठोर-व्रत को ग्रहण किया है, हम इसके लिए अपने निश्छल हृदय से उन्हें धन्यवाद देते हैं और प्रतिज्ञा करते हैं कि जब तक हमारे शरीर में एक बिन्दु भी उष्ण रक्त बहता रहेगा, हम महाराणा की आज्ञा का उल्लंघन नहीं करेंगे। हमारी जाति के यथार्थ हितचिन्तक महाराणा की रक्षा के लिए हमें जो कुछ भी त्याग करना पड़े, हम सहर्ष उसे स्वीकार करेंगे। देश में जहाँ मर्यादा का पर्दाफाश होता है, जहाँ हमारी बहू-बेटियों के सतीत्व की रक्षा का उपाय नहीं, जहाँ सदा ही हमें सशंक रहकर विचरना पड़ता है, जहाँ हमारे ही—हमारे शत्रु हैं, वहाँ अपने धर्म, देश, मर्यादा, बहू-बेटियों और प्राणों की रक्षा के लिए

महाराणा से बढ़कर दु:ख में सहायक हमारा और कोई नहीं, हम अपने लक्ष्य तक उसी रास्ते से एकत्र होकर पहुँचेंगे, जिससे हमें महाराणा ले चलेंगे, क्यों भाइयो, क्या इसमें कहीं किसी को कोई सन्देह भी है ?"

"बिलकुल नहीं, बहुत ठीक कहा है आपने, हम अपनी रक्षा का सम्पूर्ण भार महाराणा के हाथों में अर्पण करते हैं।"

सब लोगों ने भक्तिपूर्वक महाराणा को प्रणाम किया। सभा समाप्त की गयी। लोग महाराणा के गुणगान करते हुए आनन्द से अपने-अपने घर पहुँचे और बात-की-बात में महाराणा के त्याग और प्रतिज्ञा की खबर राज्य में फैल गयी थी। दूसरे हिन्दू राज्यों में भी महाराणा की उदारता और प्रजावत्सलता की कथाएँ बड़ी तेजी से फैलने लगीं।

षष्ठ परिच्छेद

मान-मर्दन

अब उदयपुर के गगनचुम्बी धवल धामों का रहना महाराणा प्रताप ने छोड़ दिया। अपनी प्रतिज्ञा का पालन करने के उद्देश्य से राजसुखों का उन्होंने तिरस्कार कर दिया है। अब पहले की तरह वस्त्राभूषणों की जगमगाहट नहीं रही, अब बिल्कुल साधारण मनुष्य के वेश में साधारण भाव से रहकर देश और जाति में नवजीवन संचार करने के लिए वे दृढ़प्रतिज्ञ हो रहे हैं। उदय सागर के विशाल तट पर अब उनकी पर्णकुटी की नवीन राजधानी शोभा दे रही है। वहाँ चारों ओर से हिंस्र पशुओं की भीषण ध्वनि सुनायी पड़ती है। तपस्वी महाराणा के साथ उनकी सहधर्मिणी और उनकी पुत्र-कन्याएँ भी हैं, वैसा ही वेश धारण किये हुए, वैसे ही भोजन और वस्त्रों से अपनी तपस्या के दिन पार करते हुए। पति के कार्य को सविध सम्पूर्ण करने के लिए सती, पद्मावती की तपस्या बड़ी ही अद्‌भुत थी। वे उस महान् परिवर्तन में कभी विचलित नहीं हुईं। उनकी गम्भीरता महाराणा के व्रत में पूर्ण सहायता देती रही। उनका निष्कलंक मुखमण्डल सदा ही अपने बच्चों के सामने प्रफुल्ल रहा करता, जिससे उन अबोध बालकों को अपने दु:ख का अनुभव नहीं होता था। घर और गृहस्थी के कार्य में उनकी चारुता देखने ही लायक थी।

इस राजपरिवार के अपूर्व त्याग के आदर्श ने प्रजाजनों में विस्मय का परिवर्तन पैदा कर दिया। एक अव्यक्त भक्ति का संचार अज्ञातभाव से उनमें होने लगा। जब कभी उन्हें विपत्ति का सामना करना पड़ता, वे महाराणा के त्याग का स्मरण करते और उस विपत्ति का बोझ एकाएक उनके मस्तिष्क से हट जाता।

राज्य में घर-घर देशोद्धार की चर्चा होने लगी। लोग अपनी स्त्रियों और बच्चों को भी यही शिक्षा देने लगे। सबके अन्दर स्वधर्म और स्वदेश का विचित्र अनुराग फैल गया। ऐश्वर्य की वासना, भोग की लालसा सबके हृदय से निस्सार स्वप्न की तरह विलीन हो गयी। सब लोग कठोरता को ही अपने लक्ष्य पर पहुँचाने का एकमात्र उपाय समझने लगे।

उस निर्जन वनभूमि में भी लोगों की भीड़ लगी रहती। पूजा-पाठ, यज्ञ-होम आदि समाप्त करके एकत्र होकर सब लोग देश के विगत-गौरव की चर्चा किया करते। बीच में महाराणा प्रताप को बैठाकर देशोद्धार की कल्पनाएँ लड़ाया करते, उनसे उपदेश लिया करते, व्यूह रचना और संगठित सिपाहियों के युद्ध-कौशल की शिक्षा ग्रहण करते। देखते-ही-देखते वह एकान्त स्थान, त्याग और वीरत्व का विश्वविद्यालय हो गया।

एक रोज पद्मावती प्रताप के पास बैठी थीं, पास और कोई न था, बच्चे जंगल में इधर-उधर खेल रहे थे। महारानी ने प्रताप से पूछा, "आज तुम्हें छोड़कर प्रायः और सब राजपूत अकबर के अधीन हो गये हैं, ऐसी परिस्थिति में क्या तुम्हें आशा है कि इस जाति का उद्धार हो सकेगा ?"

प्रताप—"हमें इतना ही अधिकार है कि हम अपने आचरणों को पूरी तरह से निबाहते जायँ। हमें किसी दूसरे को शिक्षा देने का अधिकार नहीं है।"

पद्मावती—"यदि शिक्षा देने का अधिकारी ही नहीं, तो यह इतना सब किसलिए करते हो ?"

प्रताप—"अपने लिए। हमारे धर्म का यह बड़ा जटिल रहस्य है। सनातन धर्म का अर्थ यही है कि हम अपना कर्त्तव्य पूरा करते रहें, जो कार्य ईश्वर को करना होगा, वे हमारी कर्त्तव्यपरायणता की शक्ति से पूरा करेंगे। हमारी कर्त्तव्यपरायणता की शक्ति ही ईश्वर की शक्ति है, उसमें महान् आकर्षण है, यदि वह सत्य है, देखो, हमारे वंश के मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् रामचन्द्र ने कितना महान् कार्य किया, उनके अवतार की शक्ति उनके कार्य से ही प्रकट हुई और उसका आकर्षण भी देखो कि आज इतने दिन हो गये, परन्तु भगवान् रामचन्द्र का आदर्श हमारे अन्दर जीवन का संचार करता जा रहा है।"

पद्मावती—"परन्तु उन्होंने रावण की शक्ति का प्रतिरोध करने के लिए कितनी विशाल बन्दरों की सेना एकत्र की थी, तुम मुट्ठी भर आदमियों को लेकर कैसे अगणित यवनों का सामना करोगे ?"

प्रताप—"बन्दरों की सेना भगवान् रामचन्द्र की ही शक्ति से एकत्र हुई थी, रावण-विजय के केन्द्र वही हैं, पहले उनका सहायक कोई न था, उनकी शक्ति के विकास ने ही इतना महान् रूप धारण किया। हमारे अन्दर उस शक्ति का जितना विकास होगा, उतना बड़ा बाह्य रूप, उतनी बड़ी सेना भी अवश्य ही संगृहीत होगी। यह आकर्षण किसी लोभ या लालच का नहीं, इसमें प्राणों की पुकार है। यदि सेना एकत्र न हो तो, क्या हमारा यह कर्त्तव्य होगा कि हम अपना धर्म ही

छोड़ दें, मुसलमानों की अधीनता स्वीकार कर लें ? देखो, यहीं लालसा और भोग का रूप आता है। हम मुसलमानों से क्यों मिलें ?—धर्म क्यों छोड़ें ?—अर्थात् अपने को दुर्बल समझें, सुख की तलाश में फिरें, यही है न अधर्म, यही है। यहीं हमें अपने यथार्थ कार्य का पता चलता है। अपने धर्म में मर जाना भी अच्छा, परन्तु दूसरे का धर्म कदापि ग्रहण न करना चाहिए, भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र की वाणी का सत्य अर्थ यहाँ खुल जाता है।"

पद्मावती—"यदि तुमसे राजपूत राजा ही लड़ने के लिए आवें, तो तुम क्या करोगे ? अपने भाइयों का संहार करोगे ?"

प्रताप—"वे मेरे भाई नहीं, वे मेरे शत्रु हैं और मुसलमानों से भी भयंकर। हमारा धर्म बड़ा ही गहन है। देखो, जो लोग अकबर से जा मिले हैं, उनके मिलने का कारण भी सोचो, वे जिस तरह अपने को धोखा देते हैं, उसी तरह दूसरों को भी धोखा देना चाहते हैं, उनके भीतर तो भरा है भय, लालसा, भोग, ऐश्वर्यमद। परन्तु बाहर वे अपनी प्रजा को समझाते हैं कि तुम्हारे प्राणों की रक्षा के लिए, तुम्हारे धन को लुटने से बचाने के इरादे से हम बादशाह से मिले हैं, उन्हें अपनी लड़कियाँ दी हैं, कितनी नीचता है ! जिसकी दृष्टि इतनी बहिर्मुख है, वह क्या हमारे धर्म को समझेगा ? हमारे धर्म में कहीं भी प्राणों की माया नहीं की गयी, जहाँ प्राणों पर कुछ भी प्रेम है, वहाँ हमारा पवित्र धर्म भी नहीं, फिर क्षत्रिय-धर्म का आदर्श तो बहुत ही महान् है।"

पद्मावती—"अभी अच्छी तरह मैं नहीं समझी।"

प्रताप—"प्राणों पर विजय प्राप्त करना ही हमारे धर्म की शिक्षा है। ब्राह्मण तपस्या के बल से, क्षत्रिय शौर्य से, वैश्य दान से और शूद्र सेवा से विजय को प्राप्त करते हैं। चारों के कर्म तो अलग-अलग हैं, परन्तु लक्ष्य चारों का एक ही है। देखो, युद्ध के समय यदि हम पीठ दिखायें तो जैसे मरने से डरे, वैसे ही धर्म से पतित हुए। यदि तुम अपने पति का संग एक मुहूर्त के लिए भी छोड़ दो, तो जैसे पति से अलग रहकर किसी दूसरे सुख की कामना तुम्हारे मन में हुई हो, इसलिए तुम सती-धर्म से गिर गयीं, इस विचार से ही कहा गया है कि पति-पत्नी का सम्बन्ध चिरकालिक है, पति के न रहनेसे पत्नी उसकी कामना करके स्वर्ग लोक में तत्काल उससे मिले, इससे सिद्ध है कि तुम्हें प्रेम के पीछे प्राणों की बलि देने की ही शिक्षा दी गयी है। इसी तरह प्राणों का मोह छोड़ने के बाद धर्म की व्याख्या होती है। जो राजपूत राजा हमारा विरोध करने के लिए आयेंगे, वे अनार्य धर्मवाले हैं, एक धर्मनिष्ठ को धर्म-भ्रष्ट करने से बढ़कर पाप दूसरा नहीं। इसलिए हम उनका संहार करेंगे, हमें कुछ भी संकोच न होगा।"

पद्मावती—"तुम्हारा साथ देनेवाले इस समय कौन-कौन हैं ?"

प्रताप—"कोई नहीं, हमारे राज्य के सरदारों को छोड़कर। मारवाड़, बीकानेर, अम्बर, अजमेर सबके-सब अकबर से जा मिले हैं। राजपूताना राजपूत-विहीन हो रहा है। एक-एक करके सब राजाओं ने अपना धर्म, देश और अपनी

आत्म-मर्यादा अकबर के हाथों सौंप दी है !"

पद्मावती—"पहले तो ऐसा न हुआ था, इस अकबर के समय में कैसे हो गया ?"

प्रताप—"अकबर बड़ा ही चतुर है, वह मिलाकर मारता है। अभी तक मुसलमान अपने ही धर्म की श्रेष्ठता साबित करते आये थे, हमारे धर्म को घृणा की दृष्टि से देखते थे, इसलिए राजपूतों से मेल न हुआ था, परन्तु अकबर ने एक दूसरी माया फैलायी है, वह सब धर्मों में सत्य के देखने का ढोंग करता है और राजपूत-राजाओं को दिखावटी स्नेह के जाल में फाँसकर उन्हें वश में ला रहा है।"

पद्मावती—"मुगलों के चरणों में अपनी स्वाधीनता की डाली चढ़ानेवाले उन कुलांगार राजपूतों को अलग कर देने से यहाँ और कितने राजघराने रह जाते हैं, जिनसे विवाह का सम्बन्ध रखा जा सके ?"

प्रताप—"एक भी नहीं, परन्तु यह निश्चय है कि सिसोदिया-वंश का सम्बन्ध अब उन कुलकलंक पिशाचों से कदापि न होगा। हमारे वंश का दीपक चाहे भले ही न रहे, परन्तु प्रकाश धुँधला न हो पायेगा।"

इसी समय प्रताप को एकाएक खबर मिली कि उनका आतिथ्य ग्रहण करने के उद्देश्य से महाराजा अम्बरपति मानसिंह आये हुए हैं।

सुनकर प्रताप कुछ आश्चर्यचकित हुए। कुछ देर तक सिर झुकाये विचार करते रहे। अन्त में एक निश्चय पर पहुँचकर कहा, "महाराज मानसिंह आये हुए हैं, अच्छा, कुमार अमरसिंह को भेजो।"

दूत चला गया। अमरसिंह को उसने महाराणा की आज्ञा सुना दी। अमरसिंह अपने साथियों से वार्तालाप कर रहे थे। तत्काल महाराणा के पास पहुँचे। प्रणाम कर एक ओर खड़े हो गये। प्रताप ने कहा, "सुना है अमर, महाराज मानसिंह आये हुए हैं, अतिथि होकर, भगवानदास के नामी सपूत जिनकी बहन से जहाँगीर का विवाह हुआ है !"

"हाँ, वही !" प्रताप ने गम्भीर होकर कहा, "अमर, क्या शोलापुर पर मुगलों की विजय हुई है ?"

"मुगलों की तो नहीं हुई, हाँ मानसिंह की हुई हैं।" अमरसिंह ने सविनय उत्तर दिया।

"राजपूतों का कलंक, शायद अपनी विजय का गर्व दिखलाने के लिए आया है।" पद्मावती ने घृणा से कहा।

"हाँ, बादशाह की कीर्ति-पताका का प्रभाव दिखलाना इसका उद्देश्य अवश्य होगा, परन्तु हमें इस समालोचना से कोई काम नहीं, जिस अभिप्राय के साथ वे आये हैं, उसी की पूर्ति हमें करनी चाहिए।" महाराणा ने गम्भीरतापूर्वक कहा, "देखो, अमर, हमारा धर्म है कि हम यथाशक्ति उनकी अभ्यर्थना करें, अतिथि का यथोचित सत्कार करें। जाओ, अपने सहायक मित्रों के साथ उनके रहने और

भोजन-पानी आदि का उचित प्रबन्ध करो। जब तक उनका भोजन न हो जाय, हमें न बुलाना। अभी तो उनके स्वागत के लिए ही जाते हैं, परन्तु मिलकर ही चले आयेंगे, कुल प्रबन्ध तुम्हें ही करना होगा।"

अमरसिंह चले गये। महाराणा भी इधर मानसिंह के स्वागत के लिए अपने कुछ सरदारों को साथ लेकर चले।

मानसिंह जिस जगह पर महाराणा की प्रतीक्षा कर रहे थे, वह स्थान कमलमीर के बिल्कुल पास ही था। प्रताप राजकुलोचित शिष्टाचार के साथ महाराज अम्बरपति से मिले और उनके इस परिश्रम के लिए बारम्बार धन्यवाद दिया।

मानसिंह ने भी मुगली सभ्यता की काफी शब्द-जाल-रचना की, कहा, "इससे उत्तम अवसर शायद मेरे भाग्य में कभी आया ही नहीं, आज मैं सिसोदिया-वंश के उज्ज्वल रत्न महाराणा प्रताप से मिल रहा हूँ, महाराणा का व्यक्ति-महत्त्व और वंश-महत्त्व भारतवर्ष में किसे मालूम न होगा? मैं ईश्वर को धन्यवाद देता हूँ कि आज मेरे हृदय की चिरकाल की अभिलाषा पूरी हुई।"

महाराणा प्रताप ने नम्रता से कहा, "मेरा परम सौभाग्य है कि अम्बर-नरेश श्रीमान् मानसिंह ने मेरे यहाँ पदार्पण करने का कष्ट स्वीकार किया। उनकी उदारता का इससे बढ़कर और क्या प्रमाण होगा? बिना प्रार्थना के ही मुझे सौभाग्य मिला, यह महाराज की ही महत्ता है।"

मानसिंह को बड़े आदर-यत्न से महाराणा अपने यहाँ ले आये, उधर उनके टिकने का समुचित प्रबन्ध महाराणा-कुमार अमरसिंह ने कर ही रखा था। मानसिंह अपने साथियोंसहित आनन्द से उसी भवन में ठहरे।

अमरसिंह के प्रबन्ध से मानसिंह के भोजन आदि की तैयारी उदय सागर के तट पर ही बड़े समारोह से की जाने लगी। वेनीस का ही रूपक खड़ा कर दिया गया। तालाब के चारों ओर पानी के ऊपर घाट बँधवा दिये, अनेक प्रकार के पत्र-पुष्पों के तोरण-द्वार बनवाये गये, उनमें झालरें लगीं, बड़े-बड़े झाड़ और फानूस टाँगे गये, चारों ओर रोशनी की जगमगाहट से विचित्र शोभा फैल गयी। फर्श पर सोने और चाँदी के अगणित बर्तन रक्खे हुए थे, जिनकी प्रभा से दर्शकों की आखें चकाचौंध हो रही थीं। लोगों के चेहरे पर एक अद्भुत चंचलता थी, गलती न हो, इसके लिए जैसे हजार आँखें हमेशा सतर्क हों।

मानसिंह साधारण मनुष्य न थे। वे बादशाह अकबर के दाहिने हाथ थे। मानसिंह न होते तो अकबर का इतना प्रभाव इतिहासकारों की दृष्टि में शायद ही रहता। अकबर के समय में जितनी लड़ाइयाँ मुगलों ने फतह कीं उनमें अधिकांश मानसिंह की ही जीती हुई थीं, और ये अकबर वही अकबर हैं, जिन्होंने चित्तौड़ का समूल ही नाश कर दिया, महाराणा प्रताप के जो प्रबल प्रतिद्वन्द्वी हैं, मेवाड़ की स्वतन्त्रता के प्रधान शत्रु। उधर मानसिंह राजपूत हैं, विधर्मियों से वैवाहिक सम्बन्ध करनेवाले, हिन्दू-सभ्यता और हिन्दू कीर्ति का नाश करके मुसलमानों का गौरव बढ़ानेवाले। इन अनेक कारणों से यह अतिथि-सत्कार विशेष महत्त्व

रखता था, और उसकी पूर्ति भी उसी तरह से की जा रही थी। जब से महाराणा ने व्रत ग्रहण किया था, तब से उनका जीवन एक तपस्वी का जीवन हो रहा था; वे फल-फूल और साधारण भोजन करके ही दिन पार कर रहे थे, उनके साथ उनके परिवारवाले और उनकी प्रजा भी सुख की कल्पना छोड़ चुकी थी। किन्तु यहाँ मानसिंह के लिए सभी सामान तैयार किया गया था और विलासी मानसिंह के भोजन के लिए राजसी प्रबन्ध हुआ था।

सब सामान तैयार हो गया। कुमार अमरसिंह महाराज मानसिंह को भोजन करने के लिए बुलाने गये। इधर चारों ओर आसन लग गये और लोग महाराज मानसिंह के आने की बाट जोहने लगे। सब लोग बड़े अदब-कायदे से खड़े प्रतीक्षा कर रहे थे।

राजसी ठाट-बाट से महाराज मानसिंह कुमार अमरसिंह के साथ उस सजे हुए घाट पर आये। सजावट देखकर बहुत प्रसन्न हुए। वार-वार महाराणा को धन्यवाद देने लगे और शिष्टाचार दिखाने के विचार से विनीत शब्दों में,—इतने समारोह की क्या जरूरत थी, वार-वार कहने लगे। मानसिंह के साथी भी उनके स्वर में स्वर मिलाकर कुमार अमरसिंह को हर तरह से सन्तुष्ट कर रहे थे।

मानसिंह अपने साथियों के साथ आसन पर बैठ गये। सबके सामने थालियाँ रख दी गयीं। सब लोगों ने आचमन किया, अपने-अपने इष्टदेव के नाम से अग्र-भाग निकाल दिया।

मानसिंह इस समय कुछ चिन्तित से हो रहे थे। वे महाराणा प्रताप से किसी शिष्टाचार के विचार से मिलने नहीं आये थे। उनका उद्देश्य कुछ और ही था। उनका भीतरी मतलब उनके साथी भी नहीं जानते थे। मानसिंह को मुगलों के साथ रहकर धूर्तता की खासी आदत पड़ गयी थी। कितने ही राज्यों को उन्होंने धोखा दिया। राजनीति के वे मशहूर ज्ञाता थे। अपने समय के वे प्रसिद्ध कुटिल मनुष्य थे। उन्होंने सोचा था कि इस वार महाराणा से मिलकर अपनी चालाकी और दिखावटी प्रेम के प्रभाव से प्रतापसिंह को धोखा देकर अपना मतलब अच्छी तरह गाँठ लूंगा। बात यह थी कि जब से जहाँगीर के साथ उन्होंने अपनी बहन की शादी की थी, तब से राजपूतों की दृष्टि में वे गिर गये थे। और सब तरह की प्रतिष्ठा तो वे प्राप्त कर चुके थे, परन्तु सामाजिक श्रेष्ठता उन्हें नहीं मिली, बड़े-बड़े नामी घराने के क्षत्रियों ने उनके साथ खान-पान बन्द कर दिया था। इसके लिए अकबर भी कुछ न कर सकते थे। क्योंकि वे खुद अपना उल्लू सीधा कर रहे थे, उन्हें किसी दूसरे के दर्द की क्या फिक्र थी। दूसरे उन्होंने पहले ही से घोषणा कर रखी थी कि किसी के धर्म में हस्तक्षेप हम न करेंगे, इस घोषणा के कारण किसी राजपूत पर वे धार्मिक दबाव न डाल सकते थे, किसी से कह न सकते थे कि तुम मानसिंह के यहाँ भोजन करो, इससे उन्हें कोई लाभ भी न था, बल्कि राजपूतों के लड़ जाने से उन्हें नुकसान ही था। वे पहले तो प्रवर्तक होने का कुछ गर्व रखते थे, परन्तु पीछे से उन्हें हार्दिक कष्ट हो रहा था, सामाजिक शक्ति की सत्ता

स्वीकार करने लगे। अस्तु, समाज के लोगों में मिलने के लिए उन्होंने यही उत्तम सोचा कि प्रताप से यदि किसी प्रकार से भोजन-पान का सम्बन्ध हो जाय तो जातिवालों पर इसका प्रभाव पड़े बिना न रहेगा। इस समय प्रताप जैसा वंश-मर्यादा में श्रेष्ठ राजपूत और कोई नहीं। वे एक धूर्तता से प्रताप से मिलना चाहते थे। उन्होंने सोचा,—'मेवाड़ की इस समय बड़ी खराब हालत है, चित्तौड़ के नष्ट होने के बाद से सिसोदिया-वंश निर्जीव हो रहा है, यदि शोलापुर-विजय के पश्चात् महाराणा के यहाँ जाऊँगा तो इस विजय का प्रभाव अवश्य महाराणा पर पड़ेगा और अपने राज्य को अकबर के ग्रास से बचाने के लिए वे अवश्य ही मेरे सामने विनयपूर्वक पेश आयेंगे, और उस समय इन्हें निश्चिन्त रहने का मौका हासिल कर लूँगा, यदि प्रताप के साथ भोजन-पान का प्रबन्ध हो गया तो जाति के सब लोगों पर इसका प्रभाव पड़ेगा और मेरी गयी हुई सामाजिक प्रतिष्ठा आ जायगी।'

लेकिन जब भोजन के लिए आसन पर बैठे, तब उनकी कल्पना की कच्ची दीवार आप ही ढह गयी, एकाएक कलेजे में तीर-सा आकर चुभ गया, अभिमान की ज्वाला में तमाम बदन धधक उठा। उसी आग में जलते हुए अमरसिंह से उन्होंने कहा, "क्यों कुमार, तुम्हारे पिता अभी नहीं आये, उनके बिना हम कैसे भोजन करें?"

अमरसिंह ने आँखें नीची किये हुए उत्तर दिया, "आप भोजन कीजिए, वे आते ही होंगे, कोई विशेष कारण होगा, शायद इसीलिए उन्हें रुक जाना पड़ा।"

मानसिंह ने कुछ देर और प्रतीक्षा की। उनका धैर्य जाता रहा। आवेश और उत्कण्ठा में भरकर कुछ रूखे स्वर से उन्होंने कहा, "महाराणा का यही अतिथि-सत्कार है? इतनी देर हो गयी और न आये।"

विनयपूर्वक महाराणा के मन्त्री ने कहा, "महाराज, इतने अधीर न हों, महाराणा की तबीयत अच्छी नहीं होगी, नहीं तो अब तक वे अवश्य आ गये होते। आदमी भेजा है, अभी महाराज को खबर मिल जायगी।"

मानसिंह कुछ देर बैठे रहे। उनके साथी भूख के मारे हैरान हो रहे थे, यह प्रसंग उन्हें बिलकुल न सुहाया, वे मानसिंह पर मन-ही-मन बिगड़ रहे थे।

मानसिंह उठ खड़े हो गये। उनके साथियों ने भी उनका अनुसरण किया। अपमान के विचार से मानसिंह का चेहरा उतर रहा था। उन्होंने गम्भीर स्वर में कुमार से पूछा, "क्यों कुमार, कोई खबर आयी?"

"पिताजी तो सिर-दर्द से बेचैन हैं।" विनयपूर्वक अमरसिंह ने उत्तर दिया।

सावन की अँधेरी रात में तालाब का पानी जिस तरह घोर काला-ही-काला हो जाता है, उसी तरह मानसिंह की चेष्टा भी भयावनी हो गयी। प्रतिहिंसा के कारण तमाम देह काँपने लगी। काल की गति तीव्र हो गयी। मानसिंह ने सूखे गले से कहा, "सिर-दर्द का कारण हमारी समझ में आ गया। ईश्वर करे, उनका सिर जल्द अच्छा हो। इसकी दवा हमें भी मालूम है। यथाशक्ति हम बहुत शीघ्र इसकी

दवा करेंगे; चलने से पहले हम एक वार अपनी आँखों महाराणा की हालत देखकर जाना चाहते हैं।" विषाक्त सर्प फन खोलकर खड़ा था, परन्तु दूसरी ओर भी काफी जहर था, वह चोट नहीं कर सका।

"मैं महाराणा को आपकी आज्ञा अभी चलकर सुनाता हूँ, आप कृपा करके कुछ देर ठहरिए।" कुमार ने विनयपूर्वक कहा।

"हाँ ! अपनी आँखों देखकर जाइए, अम्बर नरेश !" कहते-कहते महाराणा मूर्तिमान धैर्य की तरह अपने शरीर-रक्षकों को साथ लिये हुए गर्वित मानसिंह के सामने आकर खड़े हो गये। सब लोग बुद्धिरहित हो, महाराणा की उदार गम्भीर मूर्ति को कुछ देर तक एकदृष्टि से देखते रहे।

मानसिंह—"अतिथि-सत्कार की अच्छी विधि रही यहाँ महाराणा।"

"त्रुटि क्या हुई कुछ समझ में न आया राजा साहब, कहिए ?" महाराणा ने उतनी ही मात्रा में कहा।

"मुझे शायद आपने अपने राज्य का किसान समझ लिया था ?" मानसिंह ने घृणा से नाक-भौं सिकोड़कर कहा।

"मेरे किसानों की महत्ता आप न समझेंगे। मैंने आपको भारत-प्रसिद्ध मानसिंह ही समझा था और आपका स्वागत भी तदनुसार ही किया। आप मुझे अपनी और किस सेवा में लाना चाहते थे ?" महाराणा ने शान्त भाव से कहा।

"खूब स्वागत किया आपने घर बैठे हुए। मुझे स्वागत की यथेष्ट शिक्षा दी !" विरक्ति से मानसिंह ने कहा।

"मेरा पुत्र, मेरे राज्य का उत्तराधिकारी आपकी सेवा में मौजूद था, अम्बर-नरेश !"

"वह बालक है, प्रताप !"

"प्रताप व्रती है मानसिंह !"

"व्रत ग्रहण मेरे स्पर्श से न छूट जाता, प्रताप !"

"मानसिंह ! तुम्हारी बुद्धि भ्रष्ट हो चुकी है। संस्पर्श दोष किसे कहते हैं, अब तुम न समझोगे। मुसलमानों की अभेद मित्रता ने तुम्हारे उस भाव को नष्ट कर दिया है। धर्म की शिक्षा तुम्हें नहीं मिली। मानसिंह ! तुम हिन्दू के वेश में म्लेच्छ हो गये हो, तुम्हारे विचार इसीलिए असंस्कृत हुआ करते हैं। यदि मेरी रुचि तुम्हारे साथ भोजन करने की न हो, तो तुम्हें क्या अधिकार है कि तुम इस तरह के अनुचित शब्दों का प्रयोग करो ? यह अधिकार तुम अकबर से प्राप्त कर सकते हो, जिसके सुपुत्र से तुमने अपनी बहन की शादी की है, मानसिंह ! अभी दो पीढ़ियाँ भी नहीं बीतीं, तुम शुद्ध क्षत्रिय थे, आज मान के घमण्ड ने तुम्हें अन्धा कर दिया है, तुम समझते हो तुम्हारे सम्मान से डरकर वीर क्षत्रिय तुम्हारे साथ भोजन कर लेगा ! आज अम्बर का इतिहास, चित्तौड़ का इतिहास होता, सहस्रों राजपूत तुम्हारे छोड़े हुए अन्न को प्रसाद की तरह ग्रहण करते। यदि तुम्हें अपने वंश का कुछ भी गौरव होता, तो आज दिल्ली के तख्त पर अकबर की सत्ता न रहती, वहाँ

राजपूत दिखलायी पड़ते !"

"कल्पना से सत्य बिल्कुल पृथक् है प्रताप, कुछ ओजस्वी शब्दों के सहारे कभी जीवन का निर्वाह नहीं होता। यह अदूरदर्शिता है। मुसलमानों को कई शताब्दियाँ इस देश में राज्य करते हो गयीं। अब उनसे सम्बन्ध करना ही धर्म है। धर्म एक है। मनुष्य-मात्र से मनुष्य का सम्बन्ध हो सकता है प्रताप।" मानसिंह ने गम्भीर होकर कहा।

"अपनी कमजोरियों को इस तरह से छिपाते हो मानसिंह ! तुम्हारे वाग्जाल को साधुवाद है ! शायद यह भी अकबर के संग का फल है और अपने को धोखा देने के पाप से शायद निश्चल भी इसीलिए हो। सहयोग की बात जो तुमने कही, यह किसी हद तक मान्य है। परन्तु सहयोग कभी एकतरफा नहीं हुआ करता। बादशाह ने तुम्हें या तुम्हारे किसी घराने को मुगल-लड़कियाँ दीं ? यह वैसा ही सम्बन्ध है, जैसे मालिक और गुलाम में हुआ करता है। इस सहयोग की इतनी वैज्ञानिक व्याख्या वाहियात है, मानसिंह, अपनी भावना को देखो।"

"प्रताप को सभ्यतापूर्वक वार्तालाप करना भी नहीं आता, यह मालूम न था।"

"और वह सभ्यता भी तुर्की-सभ्यता होगी !" प्रताप हँसे।

"प्रताप, तुम अवश्य ही समझते होगे आज तुम जिसके साथ इतने स्वच्छन्द भाव से वार्तालाप कर रहे हो, वह कौन है ?"

"एक मुगलों का गुलाम, कुल का कलंक, धर्म का नास्ति, देश की आग, अकबर की छुरी और जहाँगीर का—।"

"महाराणा—" मन्त्री ने रोक दिया।

"याद रखना प्रताप इन शब्दों को। उत्तर कभी दूंगा।"

"प्रतीक्षा रहेगी, मानसिंह !"

सप्तम परिच्छेद

दिल्ली-दरबार

एक नवयुवक घोड़े पर चढ़ा, प्रचण्ड धूप बरदाश्त करता हुआ उद्देश्य से रहित मुरझाया हुआ-सा जा रहा है। चिन्ता की कालिमा तमाम मुखमण्डल पर छायी हुई युवक की परिस्थिति का परिचय दे रही है। नियति के निर्मम कराघात से जैसे उसका सम्पूर्ण जीवन जर्जर हो गया हो, शीत की कठोरता की मार न सह सकने के कारण जैसे कोमल पल्लव मुरझाकर अन्तिम साँस भर रहा हो। युवक अन्य-

मनस्क हो रहा है, मानो तमाम विश्वप्रकृति उसके साथ असहयोग करने के लिए तुली हुई है, जहाँ कहीं वह सफल मनोरथ होने को सहायता प्राप्ति के लिए जाता है, वहीं से प्रकृति की कठोर उद्दण्डता के कारण उसके पैर उखड़ जाते, उसे आश्रय नहीं मिलता, वह उज्ज्वल आकाश की निस्सीम शून्यता को एक बार उदास दृष्टि से देखकर आँखें नीची कर लेता। अपने सुख-समृद्धिवान् जीवन के पिछले हर्ष की याद करके वर्तमान समय की बदली हुई अवस्था पर जब विचार करता है, सृष्टि एक दूसरे ही रूप में उसके पास आकर खड़ी हो जाती है, उसके साथ पूर्वसमय का कोई चिह्न नहीं रहता।

युवक सोच रहा है, घोड़ा निर्लक्ष्य रास्ते पर धीरे-धीरे चला जा रहा है, 'अब क्या करना ठीक होगा ? जिस किसी तरफ दृष्टि जाती है, कहीं भी तो भोजन-वस्त्र का उपाय दृष्टिगोचर नहीं होता, और राजपूत-महाराज के यहाँ जाऊँ भी किस तरह जब कि गुलाम हैं, वे—क्या करेंगे मेरे लिए ? बदनामी होगी, इससे तो मर जाना लाख दर्जे अच्छा है। मरूँ ? नहीं, क्यों मरूँ ? आत्म-घात महापातक कहा गया है। फिर ?'

युवक ने आँख उठाकर देखा, कुछ लोग सामने से आते हुए दीख पड़े, एकाएक युवक की विचारधारा पलट गयी। लोगों से उसने पूछा, "क्यों भाई, दिल्ली का रास्ता यही है ?" "हाँ !"

युवक ने एक बार उन लोगों को अच्छी तरह देखा। उसने उन लोगों से दूसरा प्रश्न न किया, शायद अपनी उच्चता के विचार से उसने एक बार आकाश की ओर देखा, ठीक दोपहर था, उसने सामने देखा, गौर से देखता रहा, फिर कुछ तेजी से घोड़ा बढ़ाया।

एक पेड़ की डाल से घोड़े की लगाम बाँध दी और खुद एक पत्थर पर पेड़ की छाया में बैठ गया, सोचते हुए आप ही उसका सिर घुटने से लगी हुई दोनों हथेलियों के बीच में आप ही आकर रखा गया। जब होश में आकर उसने आँख उठायी, तब दोपहर ढल चुका था। एक साँस छोड़कर वह उठा, पास के तालाब में घोड़े को पानी पिलाया और फिर उसी तरह उसे बाँधकर उस शिला पर जा बैठा। चिन्ता का तार खिंचता-खिंचता जैसे समाप्त ही न होता हो और इससे वह और परेशान हो रहा हो। ललाट की सिकुड़नें, गाल और होंठों की आकुंचित मुद्रा उसकी विरक्ति के प्रकट चिह्न थे। विश्राम से जैसे और जी ऊब रहा हो। उस समय की तिरस्कृत चिन्ता द्वारा किये गये प्रबल आक्रमण के कारण, युवक ने डाल से लगाम खोल ली और फिर घोड़े पर सवार हो गया।

'कितना बड़ा अन्याय है ? अधिकार के मद में मनुष्य अपनी शक्ति का कितना दुरुपयोग करता है ? और यही एक शक्ति किसी दूसरी जाति का गला घोंटती, दूसरी जाति के बच्चों को नेस्तोनाबूद कर देती, अपनी जाति के अहंकार का झण्डा ऊँचा उठाती, उस समय विजयी जातिवाले उस शासक की स्तुति-वन्दना करते, उसे देवता से भी श्रेष्ठ मानते हैं। और जब दूसरी जाति के पदा-

घातों से उनकी अपनी स्वतन्त्रता की रंगभूमि भूमिसात हो जाती है, बालकों के चीत्कार से आकाश गूँज उठता है, तब दूसरे की विजय का यथार्थ सम्मान करना, उसे न्याय पुरस्कार देना वे भूल जाते हैं।' युवक सोच रहा है।

"तुम भ्रम कर रहे हो; सत्य की परीक्षा इसे नहीं कहते; जिस तरह मनुष्य-धर्म है, उसी तरह एक जाति-धर्म भी है; विचार जाति-धर्म से करो, 'स्वधर्मे मरणं श्रेयः परधर्मो भयावहः।' सोचो; एक जाति दूसरी जाति को सताती है; उसे अपना गुलाम बनाती है; उसका सर्वस्व लेकर बदले में उसे कुछ भी नहीं देती; उसके सम्राट के आसन पर बैठकर उसकी शिक्षा और भोजन-वस्त्र का उपाय नहीं करती; वह जाति हरगिज वरेण्य नहीं हो सकती; उससे लड़नेवाली जाति उसकी नीचता का ही विरोध करती है। येन-केन-प्रकारेण; आदर्श भी यही है; होना भी ऐसा ही चाहिए; अपनी उन्नति के लिए करना भी यही श्रेयस्कर है।" किसी ने युवक के कान में बड़े प्रभावशाली स्वर से कहा।

एक वार उसे चक्कर-सा आ गया; वह कुछ स्थिर भी हुआ; परन्तु उसकी प्रकृति इससे सहमत नहीं हो सकी; उसने फिर विरोध किया, "वाह! तमाम विराट प्रकृति अच्छेद्य भाव से एक-दूसरे को गूँथे हुए हैं; कीट से लेकर प्रत्येक मनुष्य तक उस एक ही धागे में पिरोये हुए हैं; इस विचार से विरोध किसी भी प्रकृति का न करना चाहिए। चाहे वह विजातीय भी क्यों न हो; इस विरोध को दुर्बलता ही समझना चाहिए।"

"समाज में इस तरह की दुर्बलता का होना अनिवार्य है; यदि सुख के नाम से कोई चित्र होगा भी तो दुःख के आकार की कोई वस्तु होगी, पारस्परिक विरोधी भावों के बिना कभी प्रगति हो नहीं सकती; उत्थान और पतन, विद्वत्ता और मूर्खता, विजय और पराजय इस तरह के ही चित्रों से संसार, जाति, एक और अनेकों की व्याख्या हो सकती है; जब तक तुम कुछ बोल नहीं सकते हो, सोच सकते हो, अपने कर्त्तव्य का विचार कर सकते हो, तब तक तुम्हें इन दोनों को स्वीकार करना होगा।" फिर युवक को उसी तरह पुरजोर उत्तर मिला।

उसने सोचा, 'तो मैं क्यों अपने अपमान का बदला न लूँ, चाहे जिस तरह से हो, पाप और पुण्य, धर्म और अधर्म तो सब लगे ही हुए हैं।'

"पाप का आश्रय लेना शास्त्र का विरोध करना है। पाप का आश्रय लोगे तो समाज से तुम पतित होगे, समाज के शब्दार्थ का उस तरह से विरोध होता है, समाज, समाज नहीं रह जाता। समाज तो वही है, जिसमें तुम्हारी सम्यक् उन्नति हो, शारीरिक, मानसिक, चारित्रिक और आध्यात्मिक हमने जो पहले यह कहा है कि धर्म के साथ अधर्म का होना अनिवार्य है, उसके ये अर्थ नहीं हैं कि अधर्म जानबूझकर किया जाय, इस तरह दृष्टि अधोमुखी हो जाती है, लक्ष्य से च्युत होकर पतित होना पड़ता है। वहाँ अधर्म की व्याख्या सिर्फ इसलिए है कि वह द्वैत का समर्थन करती है; तुम्हारी जाति के सर्वोच्च लक्ष्य में यह धर्माधर्म कुछ भी नहीं है, परन्तु समाज को उस जगह तक ले जाने के लिए पतन के अवश्यम्भावी

होने पर भी, उन्नति उसका लक्ष्य रखा गया है, तुम अपने मनुष्यत्व के बल से बढ़ो।"

युवक का मस्तिष्क तप्त हो उठा, निश्चय जाता रहा, विक्षिप्त की तरह वह फिर संसार में शून्य अन्धकार-ही-अन्धकार देखने लगा।

इस तरह के मानसिक प्रश्नोत्तरों की विचित्र परिस्थिति में विक्षुब्ध युवक को कई दिन हो गये। वह रास्ता पार करता जा रहा है। वारम्वार उसकी अन्तः-प्रकृति उसे उसके लक्ष्य से हटाने की चेष्टा करती थी, परन्तु बाहर पंकिल प्रकृति को ही युवक महत्त्व देता और उसी के बल पर भरोसा रखे हुए जीवन के दीपक को अनिर्वापित रखने के इरादे से कल्पना की आड़ लेकर बढ़ता चला जा रहा है।

"क्यों भाई, दिल्ली अभी कितनी दूर है ?" युवक ने पूछा।

"बस आ गये, आज शाम तक पहुँच जाओगे, कौन हो ?"

"मैं राजपूत हूँ !" युवक ने परीक्षा की दृष्टि से मुगल को देखा।

"नौकरी करोगे ?"

"हाँ, कुछ ऐसा ही विचार है।"

"साफ खुलकर क्यों नहीं कहते ?"

"और कितना साफ सुनना चाहते हो ?"

"आखिर को गँवार ही ठहरा।" मुगल ने लापरवाही से कहा।

'शठे शाठ्यं समाचरेत्।' युवक ने सोचा।

"क्या सोचता है बे !" मुगल ने मुस्कुराकर घमण्ड से कहा।

युवक की निगाह बदल गयी। दायें-बायें देखा, कहीं कोई न था। सामने देखा, रास्ता साफ नजर आया। एक तेज निगाह मुगल पर डाली। मुगल ने तलवार के कब्जे पर हाथ लगाया। "कुछ हौसला भी रखता है ?" मुगल ने युवक की ओर सामने ही घोड़ा बढ़ाया।

"अच्छा, हे ईश्वर !" एक वार फिर आकाश की ओर ताककर युवक ने तलवार फुर्ती से निकाल ली। कुछ ही समय में मुगल-सैनिक का शरीर निष्प्राण हो गया। युवक ने तेजी से घोड़ा बढ़ाया।

राजपूत युवा के अशान्त मन को इस घटना ने और भी चंचल कर दिया। अब तक हृदय में निराशा की मलिनता थी; अब प्राणों का भय समा गया। रह-रहकर अपराधी की दृष्टि से आगे-पीछे देखकर युवक घोड़ा बढ़ाने लगा। किसी को सामने से आते हुए देखकर एक वार प्राणों में खलबली मच जाती, हृदय काँप उठता। उसकी यह चिन्ता, दुख, भय और शंका को ढँकने के लिए ही मानो शत-शत प्रार्थनाओं के पश्चात् भगवान सूर्यदेव अस्ताचल की ओर अग्रसर हुए। पृथ्वी पर अँधेरा छा गया। युवक ने दिल्ली में प्रवेश किया।

युवक सीधा महाराज मानसिंह के डेरे पर पहुँचा। परिचय पा महाराज मानसिंह ने युवक को बड़े आदर-यत्न से रखा। दूसरे दिन दरबार ले चलने का वचन भी दिया। हृदय में एक दूसरे प्रकार का आनन्द अनुभव हुआ; जैसे एक

असम्भव प्रश्न के हल होने की सम्भावना दीख पड़ती हो।

एक ही दिन के बाद उस युवक में जो आकस्मिक परिवर्तन हुआ, देखकर उसके आश्चर्य की सीमा न रही। अब किसी कर्मचारी से मुलाकात होती है, तो नजर आप ही झुक जाती है, पहले का गर्व न जाने किस अनजान शक्ति ने नष्ट कर दिया। न वह आत्म-गौरव रहा, न वह पहला अभिमान। मन्त्र की तरह युवक अपने परिवर्तन को देखता जा रहा है। इस समय भी उसके पूर्वार्जित संस्कार उसे सावधान कर रहे हैं; जीविकार्जन के लिए अन्य उपाय निकालकर चलने का इशारा कर रहे हैं; पर उसके स्वाभिमान की वक्रता की ही विजय होती गयी। धर्म को उसने ढोंग करार दिया। जाति के अभिमान को उसने व्यर्थ का ढकोसला समझा। संसार को अपना स्वार्थ निकालनेवाला नीच सिद्ध करता गया। कहीं भी जैसे दया, प्रेम, मैत्री, करुणा, त्याग और परोपकार का अस्तित्व न हो, बल्कि ये स्वार्थ-साधना के ही एकाएक आकर्षक रूप हों। इस समय उसके हृदय में घोर रजोगुण का राज्य हो रहा है, अपने बाहुबल से वह संसार को दिखा देना चाहता है कि एक असहाय मनुष्य भी अपनी शक्ति और सामर्थ्य से उन्नति के उच्च शिखर पर पहुँच सकता है। जिस समय से मुगल-बादशाह से मिलने की सूचना उसे मिली, वह अनेक प्रकार की सुखकर कल्पनाओं में बह रहा है। उसकी उद्दण्ड प्रकृति को जैसे अत्याचार करने का जबरदस्त सहारा मिल गया हो और वह अपनी मानसिक विजय के गर्व में उन्मत्त हो रही हो।

आज शाही दरबार ने कुछ और ही रूप धारण कर लिया है, मानो वेश्या ने किसी प्रसिद्ध ऐश्वर्यवाले को फँसाने के लिए कृत्रिम अनेक प्रकार के हाव-भाव दिखाने के लिए अपनी सम्मोहन शक्ति का पूर्ण प्रयोग किया हो। युवक फाटक के पास आया तो किले की रक्षा का प्रबन्ध देखकर दंग रह गया। सहस्रों मुगल और राजपूत सैनिक सशस्त्र किले के पहरे में चक्कर लगा रहे थे। वैभव ने बरबस युवक का मस्तक झुका दिया। अपने साथियों के साथ वह भीतर गया। वहाँ की मणि-रत्नों से जटित विशाल अट्टालिकाएँ जैसे गर्व से युवक को देख रही थीं। उसकी तुच्छता पर हँस रही थीं। मानो कह रही थीं कि संसार की कोई भी शक्ति हमारे ऐश्वर्य की समता नहीं कर सकती और तू घमण्डी युवक अब तक हमारे विरोध का दावा कर रहा था? युवक को एक प्रकार का नशा चढ़ आया; यह वह नशा था जो मनुष्य को विवश करके वशीभूत कर लेता है। युवक ने आत्म-समर्पण कर दिया, उसके मनुष्यत्व की पराजय हुई, बादशाह अकबर का सार्व-भौम प्रभुत्व स्वीकार कर लिया। चारों ओर की प्रसन्नता पर उसकी दृष्टि गयी; अब वह उसी प्रसन्नता का हो गया, उसे भी आनन्द हुआ। चारों ओर के प्रचुर फूलों पर निगाह गयी, फव्वारे देखे; कीमती पत्थर की बनी हुई वक्र राहों के कुटिल सौन्दर्य पर ध्यान गया, क्यारियों की भव्यता देखी; सब सुन्दर थे, उसे आनन्द भी मिला।

"देखो, हम लोग जिस तरह से सलाम करें, उसी तरह से बादशाह को सलाम करना, नहीं तो बेअदबी समझी जायगी, और इसकी सज़ा बड़ी कड़ी है।" एक साथी राजपूत ने कहा। युवक ने सुन लिया। सिर झुकाये हुए कुछ सोचने लगा, चिन्ता आप ही आयी, किसी ने हृदय में कहा, 'तुम्हारी शक्ति का नाश अभी नहीं हुआ, अब भी सँभलो, लौट चलो, क्या रक्खा है, कुछ चमकती हुई इमारतों और पत्थरों में होंगे वे बहुमूल्य हीरे, संसार में अलभ्य। परन्तु तुम्हारी आत्मा का हीरा इनसे बहुत मूल्यवान है, अपने गौरव का कुछ तो विचार करो!'

युवक मुस्कुराया। मन-ही-मन कहा, 'तुम उस समय कहाँ थे, जब मेरा अपमान किया गया था? तुम्हारी शक्ति उस समय कहाँ छिपी थी, जब मेरे किसी भी अधिकार का मूल्य नहीं समझा गया,जान पड़ता है कि तुम मेरे शत्रु की सिद्धि की हुई ऐन्द्रजालिक शक्ति हो। तुम जाओ, तुम्हारे जाल से मैं अवश्य बाहर हूँगा—नीच!'

"देखो, सावधान हो जाओ, बादशाह सलामत दरबार में आने ही वाले हैं—वह देखो, तख्त दिखलायी पड़ रहा है। बड़े-बड़े राजा-महाराजा, अमीर-उमरा, वजीरे-आजम और सूबेदार आदि दरबार में हाजिर हो गये हैं। वह देखो, उस तरफवाली कतार हम राजपूत राजाओं की है।"

युवक ने सुन लिया। ध्यान से देखा। एक बार हृदय काँप उठा। इतना बड़ा वैभव उसने कभी नहीं देखा था।

राजपूत साथी अपने नवागत युवक को साथ लिये हुए अपनी जगह पर जाकर खड़े हो गये। सब लोग खड़े हुए बादशाह के आने की प्रतीक्षा में ही थे। युवक भी अपने साथियों के साथ खड़ा रहा।

बादशाह आये। दरबार गर्म हो उठा। लोग साँस भी विचार करके छोड़ने लगे। शाहंशाह आज दूसरी ही पोशाक में थे। लोगों में आश्चर्य की मात्रा बढ़ रही थी। साथ ही श्रद्धा भी हद तक पहुँच रही थी। बड़े अदब से झुककर अपनी जगह से सलाम करते हुए बड़े-बड़े राजा-महाराजा शाह के सिंहासन तक जाते और उसी तरह सलाम करते हुए आज्ञा के लिए सिर झुका खड़े हो जाते।

युवक की बारी आयी। उसने भी वैसा ही किया। जब वह अपनी जगह पर आकर खड़ा हुआ, तब महाराजा मानसिंह ने शाहंशाह को युवक का परिचय दिया।

अकबर मुस्कुराये। उसी मौन कटाक्ष में अपने सिपहसलार की ओर देखकर अपनी चंचलता का अर्थ प्रकट किया। मुसलमान वीरों में एक छोर से दूसरे छोर तक वैसी ही अवज्ञा की मिली हुई मुस्कुराहट फैल गयी।

राजपूत सरदारों की दृष्टि में जैसे तीर चुभ गया, परन्तु यह भाव छिपा न रहा। दुर्बलता से पैदा हुई ग्लानि का गाढ़ा रँग चढ़ गया। सबने आँखें नीची कर लीं। मन को सैकड़ों बिच्छू डंक मारने लगे। कलेजे पर सौ मन का पत्थर रखा गया। युवक ने भी समझा। एक बार उसके गौरव की बड़ी क्षीण झलक उसके

हृदय में आयी और करुणा-भरी दृष्टि से उसकी ओर होकर चली गयी। सर्वांग विवशता ने जकड़ लिया। मन्त्र की तरह वह चुपचाप खड़ा रहा।

इसी समय शाहंशाह ने मुस्कुराते हुए युवक से पूछा, "तुम्हारा नाम क्या है ?"

"शक्तिसिंह," आवाज भरी हुई थी, गला सूख रहा था।

"शक्तिसिंह, तुम प्रताप के भाई हो ?" अकबर की दृष्टि युवक का मर्मस्थल देख रही थी।

"हाँ, जहाँपनाह !" शक्तिसिंह को परतन्त्रता का बोझ मालूम हुआ।

"जहाँपनाह, इनके साथ अन्याय किया गया है, प्रताप ने इन्हें अपने राज्य से बाहर निकाल दिया। अब शाहंशाह की खिदमत में ये अपने दिन गुजारना चाहते हैं।" मानसिंह ने कहा।

"राजा मानसिंह, इन्हें पाँच हजारी मनसब दिया गया।" अकबर ने सहानुभूति की दृष्टि से देखा।

भक्ति से शक्तिसिंह का माथा झुक गया। अकबर दूसरे सरदारों को राजपूतों पर की गयी अपनी कृपा की दार्शनिक मौलिकता समझाने लगे।

अष्टम परिच्छेद

हल्दीघाटी का सूत्रपात

मानसिंह चले गये। हृदय में प्रतिहिंसा की प्रचण्ड ज्वाला धधक रही थी। प्रताप का किया हुआ अपमान मानसिंह को असह्य हो रहा था। आशा की पूर्ति न होने पर क्रोध का प्रबल रूप धारण करना बिल्कुल स्वाभाविक था। दिल्ली तक तमाम रास्ते में वे यही सोचते गये कि किस तरह प्रताप की ईंट का जवाब पत्थर से दिया जाय। मानसिंह शोलापुर विजय करके लौटे थे। इसलिए दिल्ली में उनका बड़ा स्वागत हुआ। स्वयं बादशाह अकबर किले की फाटक तक चलकर उनसे मिले। बड़े प्रेम से उन्हें भीतर अपने कमरे में ले गये। एकान्त में उनसे युद्ध-सम्बन्धी सब बातों की जानकारी हासिल करने लगे।

मानसिंह के चेहरे पर वह रोशनी न थी, जो विजयी मनुष्य में होनी चाहिए। अकबर को उनका चेहरा देखकर पहले ही आश्चर्य हुआ था। युद्ध की विजय पर सन्देह हुआ। परन्तु खबर झूठ नहीं हो सकती, कभी-कभी उन्हें विश्वास भी होता रहा। फिर मानसिंह के मार्ग-श्रम को ही उनके मुरझाये हुए मुख का कारण समझा। अकबर के प्रश्नों का उत्तर मानसिंह अन्यमनस्क होकर दे रहे थे, जैसे

उनके प्रश्नों से उनका कोई सम्बन्ध न हो, जैसे युद्ध में वे थे ही नहीं।

अकबर से न रहा गया। आश्चर्य से उन्होंने पूछा, "राजा मानसिंह, आप इतने मुरझाये हुए क्यों हैं? आपको तो खुश होना चाहिए।"

"एक दूसरी बात पैदा हो गयी है। मैं क्या कहूँ शाहंशाह से, मेरा घोर अपमान किया गया है।"

"किसने आपका अपमान किया? क्या उसे मालूम नहीं था कि मानसिंह कौन हैं? मेरी समझ में नहीं आ रहा मानसिंह, मामला क्या है? साफ-साफ कहो।"

"मैं महाराणा प्रताप से मिलने गया था। मेरा मतलब यह था कि उसे शाहंशाह से मिलने के लिए राजी करूँ, उसे समझाऊँ कि हठ छोड़कर दूसरे राजपूतों की तरह वह भी मिले और सुख से रहे। बागी होकर ज्यादा दिनों तक उसका रहना दुश्वार है। शाहंशाह से कहते हुए मेरा खून खौल रहा है कि उसने सम्राट् का अपमान किया। मुझे कहा कि जहाँगीर को अपनी बहन देकर अब मुझे नसीहत करने आये हो!"

"तब आपने इस गँवार राजपूत के लिए क्या सोचा?"

"मैं चाहता हूँ कि इसको कब्जे में लाऊँ, शाहंशाह का यह बागी राह पर आये, नहीं तो राजपूत-भर में यह आग फैलेगी और तमाम गँवार राजपूत शाहंशाह के खिलाफ बलवा करने के लिए तैयार हो जायँगे!"

"ठीक है, ऐसा ही करो, मैं ज़रा और सोच लूँ, अच्छा, आज तुम जाओ, आराम करो।"

मानसिंह चले गये। अकबर अपने कमरे में अकेले बैठे हुए सोचते रहे। जिस बुनियाद पर इतने बड़े साम्राज्य की उन्होंने प्रतिष्ठा की है, उसका विरोध करने-वाला एक राजपूत शाहंशाह का सामना करने के लिए तैयार है! उसे अपने वश में लाना जरूरी है। मानसिंह ने ठीक कहा है कि यह आग तमाम राजपूतों में फैल सकती है और राजपूतों से बढ़कर मुगल-साम्राज्य का शत्रु कोई नहीं है।

दूसरे दिन शाहंशाह ने अपने चुने हुए सरदारों को बुलाया, जो राजपूत थे और राजपूतों के कुल भेद जानते थे। सबसे पहले सम्राट् को शक्तिसिंह की याद आयी। इस दिन के लिए ही उन्होंने शक्तिसिंह को रक्खा था। सम्राट् याद कर रहे हैं, यह सुनते ही शक्तिसिंह को जैसे स्वर्ग का राज्य मिल गया। जब एकान्त में अकबर के पास पहुँचे और बड़े आदर से अकबर ने उन्हें बगल में बैठाया, तब तो उनकी रही-सही अक्ल भी आनन्द-रस में घुलकर पिघल गयी। उन्होंने अपने को महाभाग्यवान् समझा और शीघ्र ही मानसिंह की तरह किसी उच्च पद पर अधिकार करने की कल्पना करने लगे।

अकबर ने बड़े प्रेम से पूछा, "शक्तिसिंह, आज एक जरूरी काम आ पड़ा है और वह तुम्हीं से पूरा होगा।"

"मैं शाहंशाह की आज्ञा पूरी करने के लिए कोई बात उठा न रखूँगा।" शक्तिसिंह ने गर्व से सीना तानकर कहा।

"मुझे पूरा विश्वास है शक्तिसिंह। तुम्हारा बदला चुकाया जायगा। वह दिन तुम्हें न भूला होगा, जब प्रताप ने तुम्हें अपने राज्य से बाहर निकाल दिया था। तुम्हारे लिए कोई इन्साफ नहीं किया। तुम्हारी जान की कुछ भी कीमत नहीं समझी!"

"हाँ, शाहंशाह!" शक्तिसिंह शंका की दृष्टि से अकबर को देखने लगे।

"अब तुम हमारी फौज लेकर अपना बदला चुकाओ।" तीव्र दृष्टि से शक्तिसिंह को देखते हुए।

"मैं हर तरह से शाहंशाह की आज्ञा पालन के लिए तैयार हूँ।"

"कितनी फौज चाहिए तुमको?"

"फौज से काम न होगा सम्राट्। राजपूतों को फौज के बल से वश में करना कठिन है। फौज तो बहुत बड़ी चाहिए ही, साथ ही तोपों की भी जरूरत है। राजपूत अगर हटेंगे तो तोपों की मार खाकर, सामने से लड़कर उन पर विजय पाना असाध्य है।"

"कितनी फौज और कितनी तोपें चाहिए?"

"कम-से-कम दो लाख सैनिक और पचास तोपें।" "हाँ?"

"हाँ शाहंशाह, प्रताप की बाईस हजार सेना सदैव देश की रक्षा के लिए तैयार रहती है। वे बाईस हजार वीर आपकी दो लाख सेना के लिए काफी हैं। प्रताप को मदद देनेवाली भीलों की मार अभी आपने नहीं देखी। पर्वत पर आपकी दो लाख सेना काम आ जायगी और वे बाईस हजार वश में न आयेंगे, यदि तोपों से उनकी काफी सहायता न की गयी। तीर-तलवार और बर्छे की मार से वीर राजपूत हटनेवाले नहीं। और आजकल तो उनके अन्दर एक नया जोश भी फैला हुआ है। वे वर्षों से सम्राट् का सामना करने के लिए तैयार हो रहे हैं। चित्तौड़-गढ़ के टूटने के बाद से उनके अन्दर एक आग सुलग रही है। अगर पूरी तैयारी से न जाया जायगा तो सम्राट् के गर्वित मस्तक को वे अवश्य झुका देंगे।"

"ठीक कहते हो शक्तिसिंह, अच्छा, तुम्हारी सलाह से सेना तैयार की जायगी, अब तुम जाकर आराम करो।"

शक्तिसिंह चले गये। इसके बाद राजपूतों के कई लाड़ले लालों को बुलवाकर अकबर ने राय ली। मानसिंह भी आये। निश्चय हुआ कि सम्राट् के प्रतिनिधि स्वरूप सेना के नायक सलीम रहेंगे। मोहब्बत ख़ाँ, मानसिंह, शक्तिसिंह उनके सहायक होकर रहेंगे।

ऐसा ही हुआ। मुगलों की विराट् सेना के पद-दर्प से मेदनी काँप उठी। लोगों के हृदय हिल गये। जिस रास्ते से होकर वह सर्पाकार विशालायतन, लम्बी सेना निकलती थी, धूल से आकाश भर जाता, सूर्य ढक जाता, दिन में अन्धकार हो जाता। सबके हृदय में विजय का निश्चित रूप चित्रित था, सब लोग आनन्द में तराने छेड़ते हुए चले जा रहे थे। इतनी बड़ी सेना अकबर के समय में और कहीं भी नहीं भेजी गयी थी। सिपाहियों के हृदयों में लूटकर घर भरने की धुन, लूट

की रकम के अनेक रंगीन चित्र उठते और उन्हें बहलाकर मार्ग-श्रम की सहन-शक्ति दे जाते।

इधर प्रताप भी निश्चिन्त न थे। यों तो पहले ही से वे वीर-व्रत के उपासक हो रहे थे, परन्तु जब से मानसिंह का अपमान हुआ, वे प्रताप को चेतावनी देकर गये, तब से विशेष रूप से युद्ध की तैयारी कर रहे थे। बाईस हजार राजपूत स्वदेश के नाम पर अपने प्राणों की आहुति चढ़ाने, प्रताप के साथ मुगलों से लोहा बजाने के लिए तैयार थे। हल्दीघाटी का नाका इन वीरों की विजय-ध्वनि से गूंज रहा था। सदैव ये मुगलों के आक्रमण की प्रतीक्षा कर रहे थे।

हल्दीघाटी की स्थिति बड़ी ही सुरक्षित है। इसके उत्तर में कुम्भलमेर या कमलमीर जो उदयपुर से 40 मील और मेवाड़ के दक्षिण एक पहाड़ी पर बसा है, दक्षिण में ऋकुम्भनाथ और पश्चिम में मीरपुर से सातोल तक इसकी सीमा है। इसकी लम्बाई-चौड़ाई 40 मील के लगभग होगी। चारों ओर से दुरारोह पहाड़ियाँ घेरे हुए बीच का स्थान जैसे पहाड़ के कोट के भीतर एक सुरक्षित जगह हो। यहाँ भी अनेक छोटे-बड़े पहाड़ और पहाड़ी-नदियाँ, हरी-भरी भूमि, उपत्यका और निर्जन अरण्य विराजमान हैं। प्राकृतिक शोभा की जितनी प्रशंसा की जाय, थोड़ी है। इसे मेवाड़ का काश्मीर कहना चाहिए और वीरत्व की दृष्टि से मेवाड़ की थर्मापली समझना चाहिए। सहसा बाहर से शत्रुदल यहाँ आक्रमण नहीं कर सकता। चारों ओर से इतने संकीर्ण पहाड़ी मार्ग इसके भीतर आने के हैं कि एका-एक विशाल वाहिनी इसके भीतर प्रवेश नहीं कर सकती। अनेक दुरारोह पार्वत्य-पथ हैं। एक ऐसे ही पथ का नाम हल्दीघाटी है। यह कमलमीर के पास ही है। बाहर से आक्रमणकारियों के भीतर घुसने का यही मार्ग है। अजमेर से होकर आनेवाली फौज के लिए यही रास्ता है। प्रताप अपनी सेना के साथ इसी स्थान की रक्षा कर रहे थे। यहाँ बाईस हजार सेना का जमघट था। होशियार रहकर सब शत्रु की बाट जोह रहे थे। यहाँ के रक्षकों में भील थे। ये जितने लड़ाके थे, उतने ही साहसी। प्रताप को इन्हीं का सबसे अधिक भरोसा था। पहाड़ की लड़ाई में इनसे जीतकर लौटना बड़ा मुश्किल था। प्रताप की शक्ति के आगे आत्मसम्मान पर मर-मिटनेवाले रहे ये लोग, ये बड़ी भक्ति से उनकी आज्ञा का पालन करते थे। प्रताप ने इन्हें अपने वश में कर इन पर किसी दूसरे प्रकार का दबाव नहीं डाला। ये पहले ही की तरह स्वच्छन्द भाव से विचरण करते, शिकार करते और अपने-अपने काम करते तथा बाल-बच्चों में सुख से रहते थे। प्रताप की विपत्ति देखकर ये लोग बड़े उत्साह से उनकी मदद कर रहे थे।

उधर सलीम और मानसिंह की संरक्षता में विशाल मुगल सेना प्रताप का गर्व खर्व करने के लिए आ रही थी, साथ सहायक थे समरसिंह के विधर्मी पुत्र महावत खाँ, राजा भगवानदास, आसफ खाँ, सैयद हाशिम, गाजी खाँ, सैयद-महम्मद, मीरबख्श, रायलूनकरण और शक्तिसिंह आदि। चैत्र सुदी 5 संवत् 1633 को यह युद्ध-यात्रा हुई थी और श्रावण बदी सप्तमी 1633 को प्रतापसिंह से इस

भयानक युद्ध का आरम्भ हुआ।

श्रावण मास, चारों ओर से बादल घिरे हुए, दिन में भी घोर अन्धकार। कभी-कभी मेघों की गुरु-गर्जना और बिजली की ज्वालामयी भृकुटि। पार्वत्य-भूमि लता-गुल्मों से ढकी हुई। एक-एक झाड़ी के भीतर स्वदेश रक्षा के लिए सशस्त्र राजपूत-वीरों का एक-एक दल बड़ी सावधानी से शत्रुओं की प्रतीक्षा कर रहा है।

दूर से गुप्तचरों ने संकेत किया कि शत्रुओं की सेना आ रही है। बात-की-बात में बिजली की तरह वीर योद्धाओं में यह खबर फैल गयी। महाराणा उठकर खड़े हो गये। एक बार अरावली पार्वत्य-भूमि, 'हर-हर शंकर महादेव!' के भीम-घोष से प्रतिध्वनित हो उठी। महाराणा ने एक बार आकाश की ओर देखा, फिर अपनी सेना के मध्य भाग में खड़े होकर कहने लगे, "वीरो, आज मुगलों और राजपूतों की भाग्य-परीक्षा का दिन है। स्मरण करो अपने धर्म और देश की रक्षा के लिए हमारे पूर्वजों ने क्या शिक्षा दी है। क्षत्रियों के लिए बड़े भाग्य से ऐसा अवसर प्राप्त होता है। एक तो युद्ध-भूमि, दूसरे धर्म और देश की रक्षा, मृत्यु के लिए इससे बढ़कर अवसर दूसरा न मिलेगा। वीरो, मानसिंह के उन गर्वित शब्दों को याद करो, जो वे चलते समय सुना गये थे। आज मुगलों की सहायता लेकर वे हमें शिक्षा देने आ रहे हैं। भाइयो, ऐसे नीच कुलांगार क्षत्रिय की कुटिल भौंहों को देखकर डर जाना क्या हमारा धर्म होगा?"

"कदापि नहीं, कदापि नहीं!"

"नीच के प्रति वैसा ही व्यवहार करना चाहिए। हमें आशा है कि हमारे वीर बहादुर उस नीच को और उसकी सहायता करनेवाले को उचित शिक्षा ही देंगे। हमें विश्वास है कि आज एक-एक राजपूत पाँच-पाँच शत्रुओं को मारकर मरेगा। अब समय नहीं है वीरो, अपने-अपने स्थान पर डट जाओ और कभी एकत्र न होना, अलग-अलग फटे रहना और अपने दल की सहायता फासला रखकर करना। एक साथ सट जाओगे, तो अधिक सेना के मरने का भय है। पहाड़ी-लड़ाई में फट-कर बढ़ना ही ठीक होगा। जाओ, भगवान् एकलिंग तुम्हारी सहायता करें।"

"महाराणा प्रतापसिंह की जय!"

अरावली की कन्दरा-कन्दरा गूंज उठी। एक दूत ने आकर खबर दी, शत्रुओं की सेना बहुत समीप आ गयी है। अब उनसे भिड़े बगैर ठीक न होगा। यह खबर पाते ही राजपूत-वीरों में एक अद्भुत स्फूर्ति का संचार हो गया। आनन्दातिरेक से वे बराबर हर्षध्वनि करने लगे। महाराणा जानते थे कि एकाएक अपनी समस्त शक्ति के साथ मुगलों पर आक्रमण करना ठीक न होगा। थकी हुई सेना को विश्राम करने का समय न मिलेगा। और यदि थोड़ी-थोड़ी सेना के कई विभाग कर दिये जायँगे, तो वह सेना शत्रुओं की अगणित सेना के सामने ज्यादा देर तक न ठहर सकेगी। उन्हें मालूम हो चुका था कि मुसलमानों के साथ दो लाख सेना और कई तोपें हैं। इस परिस्थिति में किस तरह की लड़ाई हमारे लिए विजय-प्रद

होगी, यह स्थिर करना है। महाराणा ने निश्चय किया कि पहले खण्ड-युद्ध लड़ा जाय। जब तक हम ऊँचे पर हैं, तब तक शत्रुओं को ऊपर चढ़ने से रोक रखना ही हमारे सुरक्षित रहने का अच्छा उपाय है। एकसाथ कई तोपों की गर्जना सुनायी दी। महाराणा कुछ आश्चर्यचकित और अन्यमनस्क हो सोचने लगे। तोपों की काफी संख्या है। मुट्ठी भर सेना तोपों में आहुति देने भर को भी न होगी। यदि अपनी सम्पूर्ण सेना के जोर से शत्रुओं की तोपें छीन लें, नहीं यह असम्भव है, तोपों के पीछे दो लाख पैदल शक्ति है! बाईस हजार सेना कब तक टिक सकेगी ? हाँ,—ठीक है।—सरदार चन्दावत;—सरदार चन्दावत!

सामने प्रणाम करके सरदार चन्दावत कृष्ण आकर खड़े हुए। महाराणा ने कहा, "परिस्थिति बहुत अच्छी नहीं सरदार, कुछ सोचो ?" "नहीं महाराणा, यहाँ तो आज्ञा की प्रतीक्षा कर रहा हूँ। सोचना मैंने नहीं सीखा। कितने गौरव का दिन है यह हमारे लिए!"

"सुनो सरदार, पहले हमने कहा था, एक-एक दल अलग करके लड़ना ठीक होगा, परन्तु नहीं, इससे हमारी संख्या घट जायगी। तोपों से हटकर लड़ना घातक है। तोपें छीन लो। दो लाख के साथ बाईस हजार का सम्मुख-समर ही अच्छा है, एक दल तोपों पर फौरन कब्जा कर ले। जब तक तोपों का मुंह बन्द न होगा, हमारे लिए बड़ी भयानक परिस्थिति होगी। हम काफी संख्या में मरेंगे, पहले ही धावा बोल दो। तोपों का मुँह बन्द हो तो हम सब लोग उन वीरों की मदद करें।"

आज्ञानुसार कार्य करने के लिए, प्रणाम कर सरदार चन्दावत कृष्ण चले गये। परन्तु थोड़े ही समय में प्रताप के पास दूसरी खबर लेकर लौट आये। प्रताप ने लौटने का कारण पूछा। सरदार ने कहा, "महाराणा ने जो आज्ञा दी थी, उसके अनुसार कार्य करना असम्भव है, क्योंकि शत्रु-सेना कई हिस्सों में बँटी हुई है। यदि हम लोग एकसाथ धावा करेंगे तो हमारे घिर जाने का भय है। उधर मुगलों की सेना हम लोगों से कई गुनी अधिक है।"

"तो तुम्हारी क्या सलाह है सरदार ?"

"जब जैसा उचित समझ में आये, उसी के अनुसार सैन्य-संचालन करना उचित होगा।"

"अच्छा, चलो।" प्रताप भी उठे। एक वार हाथ जोड़कर इष्टदेव को प्रणाम किया, फिर चारों ओर की पहाड़ियों को एकदृष्टि से कुछ देर तक देखते रहे. फिर प्रणाम किया। उधर से होती हुई वार-वार तोपों की भयानक गर्जना सुनायी दे रही थी। अविचलित सिंह की तरह महावीर प्रतापसिंह अपनी आँखों से समर भूमि को प्रत्यक्ष करने के लिए चल पड़े।

नवम् परिच्छेद

हल्दीघाटी का युद्ध

देश की स्वाधीनता और अपने धर्म की रक्षा के लिए राजपूतों का यह हल्दीघाटी का महासमर, संसार के इतिहास में चिरप्रसिद्ध है। इसका फल राजपूतों के लिए हुआ तो बड़ा ही विषमय, परन्तु उनकी वीरता और अम्लान मृत्यु का गौरव भी इसने अक्षुण्ण रखा। देश को एक वह आदर्श मिला, जो उसे उन्नति के परम शिखर पर पहुँचाने में समर्थ है। और हिन्दू जाति जब तक जीवित रहेगी, हल्दीघाटी का पवित्र नाम, उसकी वीर-कीर्ति उसके हृदय में तब तक अपनी प्रभा विकीर्ण करती रहेगी।

मुगलों की सेना प्रलयकालीन घटा की तरह उमड़ती चली आ रही थी। जैसे भादों की नदी की मन्द गति पूर्ण यौवनावस्था, छलकती, फूलती, झूमती, तरंग भरती, भँवरों में नृत्य करती अपनी उतावली उत्फुल्लता में संसार की ओर दृष्टि-पात भी नहीं करती, अन्य सम्पूर्ण शक्तियों के प्रति उपेक्षा करती चली जाती है, वैसे ही मुगलों की दुर्दम शक्ति भी संसार की क्षुद्रता पर हँसती हुई अपनी अजेय शक्ति के पूर्ण विश्वास से चली आ रही थी। इधर राजपूतों की दृष्टि में इतनी स्वतन्त्रता, दूसरों की क्षीणता पर इतना गर्व, विभूति का इतना भेद, इतना दुरु-पयोग असह्य था। खमनौर नामक स्थान पर दोनों दलों का संघर्ष हो गया। लेकिन मानसिंह व्यर्थ का सैन्य-क्षय नहीं करना चाहते थे। वे क्रमशः आगे बढ़ रहे थे। महाराणा से बहुत शीघ्र मिलकर अपमान की ज्वाला शान्त करना चाहते थे।

एक ओर असंख्य मुगल और राजपूतों की सम्मिलित शक्ति और दूसरी ओर महाराणा के केवल बाईस हजार वीर! एक ओर भारतवर्ष की संचित सम्पूर्ण राजशक्ति और दूसरी ओर स्वतन्त्रता के उपासक वीरव्रती महाराणा प्रताप के मुट्ठी-भर सहायक! मानसिंह को अपने सैन्य-बल का गर्व था, पूर्ण विश्वास था कि यह सेना कभी पराजित न होगी। इतनी बड़ी सेना का संगठित रूप अपनी किसी लड़ाई में उन्होंने न देखा था। इस इतनी बड़ी सेना का उस समय की कोई शक्ति विरोध कर सकती, संसार में इतना प्रभाव किसी शक्ति का न था। मानसिंह को यह सब मालूम था। महाराणा को धोखा देने के लिए उन्होंने अपनी सेना के कई भाग कर दिये और एक-एक सेनापति को अलग रहकर उनके संचालन की आज्ञा दी। एक बृहत् व्यूह-सा बनाया गया—कि यदि उसके भीतर किसी तरह भी शत्रुदल आ जाय, तो घिरकर मरने के सिवा बचने का कोई उपाय न रहे। दूसरे फैली हुई शत्रु-सेना की संख्या का अनुमान भी न हो सकेगा।

उधर प्रतापसिंह भी नौसिखिये न थे। सेनापति के लिए जिन गुणों की आवश्यकता होती है, वे सभी गुण प्रताप में मौजूद थे। बल्कि कहना चाहिए था

कि अपने समय के वे सर्वश्रेष्ठ वीर थे। इतने बड़े विवेचक मनुष्य को धोखा देना आसान न था। प्रताप के सुचतुर अनुचरों ने पहले ही मुगलों की शक्ति का अनुमान कर लिया था। चारों ओर उनके गुप्तचर लगे हुए थे—और बात-की-बात में यथार्थ खबर प्रताप के पास तक पहुँच जाती थी।

मानसिंह एक दूसरी चाल में थे। वे समझते थे कि सेना के कई विभाग करके व्यूह-क्रम से सन्निवेश किया जायगा, तो प्रत्येक विभाग बहुत छोटा मालूम होगा। और प्रताप उस पर आक्रमण करने का लोभ संवरण न कर सकेंगे। यदि खुले मैदान में वे आ जायेंगे तो क्षण-भर में उनकी सेना घेरकर पीस दी जायगी।

किन्तु प्रताप से मानसिंह का यह भाव छिपा नहीं रहा। उन्होंने मुकाम नहीं छोड़ा, वे भी जानते थे कि आत्मरक्षा के लिए पहाड़ी स्थानों से बढ़कर दूसरी जगह नहीं है। राजपूत और भील पहाड़ियों से आक्रमण भी अच्छी तरह कर सकेंगे। खुले मैदान में चलकर लोहा लेना युक्ति के विरुद्ध है। प्रताप की यह युक्ति ग्वालियर नरेश को बहुत पसन्द आयी। महाराणा को वे हृदय से प्यार करते थे। उन्होंने राणा की बड़ी प्रशंसा की।

जब मैदान में प्रताप न आये, अरावली तक किसी तरह की छेड़छाड़ न हुई, तब मानसिंह के हृदय में अपनी प्रबल शक्ति का भाव जाग्रत हुआ, और पहाड़ियों में ही प्रताप को दण्ड देने का निश्चय कर, अपने गर्व की घोषणा के रूप में तोपों की आवाज से प्रताप को खबर भेजने लगे।

मुसलमानों की सेना त्रिकोणाकार से बढ़ रही थी। एक भुज की तरफ थे मोहब्बत खाँ सेनापति और मुसलमानी सेना, दूसरे भुज की तरफ थे मानसिंह और मुगल तथा राजपूतों की सेना, बीच में संचित अनगिनत शक्ति और उसके अन्दर सलीम और उनके शरीर-रक्षक। सलीम की सेना को लड़ने की जरूरत न थी। वह दोनों भुजों से बहुत दूर पर हटकर थी। मोहब्बत खाँ के साथ तोपें न थीं, पर थी उनकी सेना सबसे आगे बढ़ी हुई। मानसिंह की सेना दूसरे पार्श्व से इसकी रक्षा के लिए थी। चतुर मानसिंह का उपदेश था कि मोहब्बत खाँ की फौज से जब प्रताप की सेना सामना करेगी, पार्श्व से प्रताप की सेना पर गोलाबारी करने का मौका रहेगा, और मोहब्बत खाँ की फौज मदद के लिए फौज लेकर पीछे की ओर हटेगी, उस समय केन्द्र की फौज लेकर सलीम आगे बढ़ेंगे, तब तक राजपूतों की अधिकांश सेना तोपों से नष्ट हो जायगी और आसानी से शत्रु पर विजय प्राप्त होगी।

प्रताप ने मानसिंह की रणकुशलता देखी, मन-ही-मन बड़ाई की। राजपूतों के पास तोपें न थीं। परन्तु युद्ध करना ही था। कुछ देर तक प्रताप सोचते रहे। अपना निश्चय कर लिया। 'दीन-दीन' की आवाज से पर्वत-शिखर पर प्रतिध्वनि करती हुई मोहब्बत खाँ की फौज बढ़ रही थी। इधर दबी हुई पार्थिव ज्वाला की तरह राजपूत-शक्ति, महाराणा की आज्ञा की प्रतीक्षा कर रही थी। अवसर आया। एक वज्र-गम्भीर कण्ठ से तूफान-सा उठा—"वीरो!" एक प्रान्त से दूसरे प्रान्त

तक सेना बौखला उठी। सहस्र-सहस्र राजपूत, पहाड़ी निर्झर नदी की तरह हर-हर-महादेव !' के गगनभेदी भीमस्वर से आकाश को चंचल करते हुए मोहब्बत खाँ की फौज पर टूट पड़े। सेनापति क्रमशः अपनी सेना को मोहब्बत खाँ की फौज के बायीं तरफ बढ़ा रहे थे।

महाराणा ने निश्चय कर लिया था कि मुगल सेना को दाहिने रखना ही निरापद है। यदि उधर से किसी प्रकार की आपत्ति आयेगी, तो उससे मुगलों की ही सेना नष्ट होगी। महाराणा का रण-कौशल प्रत्यक्ष करके मानसिंह दंग रह गये। राजपूत सेना पर गोलाबारी करने का उन्हें मौका ही न मिला। यदि गोलाबारी करते तो मोहब्बत खाँ की ही सेना काम आती। राजपूतों के बायीं बगल में दुरारोह पर्वत और दाहिनी ओर मोहब्बत खाँ की फौज थी। उससे राजपूत बचते गये।

मोहब्बत खाँ के पास तोपें न थीं। वे क्रमशः पीछे हटने लगे। आक्रमण करने का अवसर मिला। राजपूतों की नवीन स्फूर्ति मुगलों की सेना पर बिजली की तरह हाथ साफ कर रही थी। देखते-देखते हजारों मुगल धराशायी हो गये। मोहब्बत खाँ के होश उड़ गये। भय हुआ कि जब तक सलीम की सेना से मिलेंगे, तब तक तमाम सेना काम आ जायगी।

मोहब्बत खाँ की विपत्ति का अनुमान सलीम ने कर लिया था। वे भी बड़ी तेजी से मोहब्बत खाँ की फौज से मिलने के लिए बढ़ रहे थे। मानसिंह भी निश्चिन्त न थे। क्रमशः अपनी फौज इस ढंग से बढ़ा रहे थे कि राजपूतों को दाहिनी ओर से घेरें, कम-से-कम मोहब्बत खाँ की फौज की ओर रुख न रहे, राजपूतों पर गोलाबारी करने का मौका हाथ आये। महाराणा की एक ही चाल से तमाम मुगल-दल विचलित हो गया। अब युद्ध-चित्र एक दूसरा आकार धारण कर रहा था।

जब तक अपनी फौजों की स्थिति सुधारने में पूर्वोक्त तीनों सेनापति लगे हुए थे, तब तक मुगलों की काफी संख्या निहत हो चुकी। क्षुधार्त व्याघ्रों की तरह राजपूत-गण मोहब्बत खाँ की फौज पर टूट पड़े। प्रथम आक्रमण में ही विपक्षियों के पैर उखड़ गये। मुगल सेना अपनी स्थिति सुधारने में लगी थी, उसे आक्रमणों को रोकते हुए हटना पड़ रहा था और राजपूत केवल आक्रमण कर रहे थे। क्षण-भर में मोहब्बत खाँ की हजारों की संख्या में सेना विनष्ट हो चुकी थी। सेना में विशृंखलता का रूप दिखलायी दिया। भय के मारे, सेनापति के संकेत से चलना छूट गया, छत्रभंग हो गया, इच्छानुसार सेना इधर-उधर भागने लगी। प्रबल राजपूतों की तेज चोटों से चारों ओर मूर्तिमान त्रास दिखलायी दे रहा था। चिरकाल की क्षुधा के बाद जिस तरह भोजन पर रुचि होती है, उसी तरह राजपूतों की तलवारें प्यास की तीव्रता से चमक रही थीं, सहस्र-सहस्र मुगलों का रुधिर पान करके भी उनकी तृष्णा की निवृत्ति नहीं हुई। धर्म का द्वेष, जाति का द्वेष और स्वतन्त्रता के अपहरण का द्वेष, एक साथ अनेक प्रकार के विद्वेष की ज्वालाएँ धधक रही थीं और उस प्रचण्ड वह्नि में पड़ रही थी— लगातार मुगलों के रुधिर की

आहुति। राजपूतों की भीम भैरव मूर्तियों में भगवान रुद्र की संहार मूर्ति के दर्शन हो रहे थे, वैसी ही भयानक उग्रता, वैसा ही निरंकुश नग्न ताण्डव। महाराणा अविचल भाव से सोत्साह सेना-संचालन कर रहे थे। अब तक राजपूत बहुत दूर बढ़ गये थे। उधर सलीम की सेना भी आ पहुँची थी। मुगल-व्यूह के तीनों भाग एकत्र हो रहे थे।

तोप छूटी, शत-शत राजपूत धराशायी होने लगे। महाराणा चौंके, देखा—पीछे से मानसिंह की राजपूत और मुगलों की सम्मिलित सेना बढ़ रही थी। आगे अनलोद्गारिणी तोपें यथाक्रम सजी हुई थीं। भादों की अनर्गल जलधारा की तरह मानसिंह की तोपें दग रही थीं।

राजपूतों के सामने काल की प्रत्यक्ष मूर्ति आ खड़ी हुई। बड़े-बड़े लड़ाके राजपूत सरदार घबड़ा गये, बचने का कोई उपाय न सूझा। मानसिंह का मनोरथ सफल हुआ। मोहब्बत खाँ की सेना को पार करके राजपूतों के ठीक पश्चाद्-भाग में वे आगे बढ़े। अब तक राजपूतों को मोहब्बत खाँ की फौज में पार्श्व में रखकर महाराणा, मानसिंह के आक्रमण से बचे रहे थे। सैन्य का संचालन करते हुए उन्हें मानसिंह की सेना के भविष्य की स्थिति पर विचार करने का अवसर नहीं मिला। अब महाराणा भी कुछ देर के लिए किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो गये। जालबद्ध मृगों की तरह राजपूत सरदारों ने मृत्यु को प्रत्यक्ष देखा। उधर अनर्गल गोलाबारी हो रही थी। सहस्र-सहस्र राजपूत निहत हो रहे थे।

राजपूतों की परिस्थिति बड़ी विकट हो रही थी। दाहिनी ओर मोहब्बत खाँ और सलीम की अगणित सेना पार्श्व से आक्रमण कर रही थी, पीछे से मानसिंह की तोपों की अविराम वर्षा, बायीं ओर अलंघ्य पर्वत थे।

"वीरो, छीन लो तोपें!" महाराणा की आज्ञा से जैसे बिजली कड़क जाय, प्रलय के बादलों में अपनी स्थिर स्फूर्ति से सरदारों ने वैसा ही इशारा किया। सेना लौट पड़ी। वह दृश्य! तोपों का धारा-प्रवाह से अग्नि-वर्षण और राजपूतों का तुमुल-उत्साह, मृत्यु से आलिंगन, मृत्यु से सोत्साह क्रीड़ा, माता के अंक पर चिर-निद्रा दर्शनीय थी।

बात-की-बात में मानसिंह की तोपों का मुख अवरुद्ध हो गया। सहस्र-सहस्र राजपूतों ने प्राणों का विसर्जन कर दिया, पर तोपों के पास पहुँच गये। लड़कर राजपूत परिश्रान्त हो रहे थे, उधर मानसिंह के पैदल सिपाहियों में नवीन स्फूर्ति थी। राजपूतों पर सम्मुख और वाम पार्श्व-भाग से आक्रमण हो रहे थे। सैकड़ों वीर सरदारों ने देश की स्वतन्त्रता के लिए प्राणों का विसर्जन कर दिया। बचे हुए राजपूतों के भी हाथ भर गये थे। सरदारों के प्रोत्साहन से बुझते हुए दीपक के प्रकाश की तरह कुछ देर के लिए उनमें शक्ति आती तो, परन्तु थकी सेना विशेष कुछ न कर सकी। युद्ध की ऐसी परिस्थिति पर विचार कर बचे हुए सरदारों और महाराणा ने निश्चय कर लिया कि अब इस समर में लड़कर प्राणों का विसर्जन कर देने के सिवा, अब और कोई दूसरा उपाय नहीं है। इस विचार

से क्षण-भर में महाराणा के अन्दर एक अद्‌भुत शक्ति का संचार हो चला। एकाएक जी में आया कि जिस मानसिंह के लिए इतनी बड़ी सेना विनष्ट हो चुकी, जिसकी सहायता से यवनों ने देश के शत-शत स्वतन्त्र राज्यों पर अधिकार जमाया, जिस राजा मानसिंह की सेना को बड़ी देर बाद लड़ने का मौका मिला था, उसकी शक्ति भी नवीन थी, राजपूतों पर उसकी गति अप्रतिहत हो रही थी। महाराणा अपनी सेना का संहार न देख सके।

चिरकाल की अर्जित तपस्या का उनमें विचित्र प्रभाव था, उसके शब्दों में दैवी शक्ति थी, उनकी ललकार सुन मुर्दा भी एक वार उठकर खड़ा हो जाता। सेना की दुर्दशा को देखकर महाराणा ने पुनः गम्भीर कण्ठ से आवाज दी, "वीरो! मृत्यु एक ही वार होगी, धर्म और अपनी माता के लिए मरना, इससे अधिक गौरव की मृत्यु हमें फिर शायद ही मिले। कीर्ति की उज्ज्वल पताका तुम्हारे हाथ से जाने न पावे वीरो!"

राजपूत पागल हो उठे। उत्साह से बाजे बजने लगे। नगाड़ों पर चोट पड़ी। नया जोश फैला। एक वार फिर राजपूतों की जड़ता दूर हो गयी। वे मृत्यु को सामने रखकर इस वार भयंकर रूप से युद्ध करने लगे। उधर महाराणा के मन में और ही बात आयी। वे मानसिंह को चाहते थे। अगणित मुगलों की उन्होंने चिन्ता न की। जोश भरा था। सेना को काटते, चीरते, मुगलों की फौज के भीतर चले गये। कुछ शरीर-रक्षक महाराणा का साथ दे रहे थे। प्रताप का ध्यान सम्पूर्ण तीव्रता से मानसिंह की खोज कर रहा था। मृगों के यूथ में क्षुब्ध शार्दूल की तरह महाराणा, मानसिंह की तलाश में फिर रहे थे। सैकड़ों शत्रु उनकी गति को रोकते हुए बुरी तरह से मारे गये। भीष्म की तरह महान् महाराणा ने मानसिंह से साक्षात्कार करने का निश्चय कर लिया था। मानसिंह को शिक्षा देने के अभिप्राय से ही वे सेना के महान् सागर में कूदे थे। उन्हें प्राणों का भय न था। वे लक्ष्य से लौटनेवाले मनुष्य न थे। बाधाओं की असंख्य अड़चनें भी उनके चित्त को चंचल न कर सकती थीं। मुगलों की सेना में कई वार महाराणा के प्राण संकट में पड़े। परन्तु उनके वीर शरीर-रक्षकों ने उन्हें सहायता दी। शत्रु के पंजे से छुड़ाया, महाराणा तल्लीन होकर मानसिंह की तलाश कर रहे थे, दूसरी ओर उनका ध्यान न था, किसने उन्हें बचाया, कौन-कौन उनके साथ हैं, इन सब बातों की ओर ध्यान देने की फुर्सत न थी। हिन्दुओं का जो सबसे बड़ा विरोधी था, उस नर-राक्षस को मानो हजार आँखों से वे खोज रहे थे।

कहते हैं जिसकी जिस प्रकार की भावना होती है, उसे फल भी वैसा ही मिलता है। उसका मनोरथ पूर्ण होता है। महाराणा की इच्छा भी पूरी हुई। एकाएक उनकी दृष्टि उसी हौदे पर पड़ी, जिस पर मानसिंह बैठे थे। प्रताप की नसों में बिजली दौड़ गयी। अपनी अमित शक्ति का क्षय वे भूल गये। शत्रु मानसिंह ही उस समय उनके ज्ञान और आनन्द के आधार हो रहे थे। महाराणा ने अपने घोड़े को इशारा किया। 'चेतक' मालिक का अभिप्राय समझ गया। अब

तक वह भी विचलित-सा हो रहा था, प्रताप को किसी के साथ भी समर करते हुए न देखकर, वह तुरन्त उस विशालकाय हाथी के पास पहुँचा, जिस पर मानसिंह बड़े गर्व से अपनी सेना को प्रोत्साहन दे रहे थे। एकाएक आक्रमण होने से मानसिंह घबड़ा गये। उनकी समझ में न आया कि इतनी बड़ी सेना को पार कर उनके ऊपर आक्रमण एकाएक हुआ किस तरह! मानसिंह के शरीर-रक्षक संख्या में अनेक थे, उधर कुछ महाराणा के सहायक भी थे। दोनों तरफ से युद्ध जारी हो गया। मानसिंह को पाकर महाराणा बहुत प्रसन्न हुए। मानसिंह के महावत ने भी सजग होकर महाराणा की तरफ अपना हाथी बढ़ाया। महाराणा और मानसिंह की दृष्टि एक हुई। मानसिंह मुस्कुराये। युद्ध का निकट-परिणाम मानसिंह भी समझ गये थे। महाराणा के तमाम शरीर में आग लग गयी। एक साथ ही शरीर की संचित शक्ति जाग्रत हो गयी। चेतक की बागडोर उठा मानसिंह को लक्ष्य कर महाराणा ने अपने विशाल बर्छों का वार किया। बर्छा चलाने में प्रताप सिद्ध-हस्त थे। प्रताप को बर्छों का वार करते देखकर ही मानसिंह के प्राण सूख गये। परन्तु किस्मत बड़ी जबरदस्त होती है। बर्छे का निशाना महावत पर बैठा, उसको पार कर बड़े जोर से हौदे से टकराया। मानसिंह बच गये। महावत के मर जाने से हाथी जी छोड़कर भागा। मानसिंह के प्राणों की रक्षा हुई। हाथी के निरुद्देश्य भागने से कितनी ही सेना उसके पैरों के नीचे कुचल गयी।

इधर महाराणा के अनेक शरीर-रक्षक अब तक उनका साथ छोड़ स्वर्ग की राह ले चुके थे। अगणित सैन्य-बल के सामने एक मनुष्य का प्रवेश ही आश्चर्य-कर है, फिर भी अब तक पैर जमाकर लड़ना तो वीरता की सीमा को भी पार कर जाता है। महाराणा के मस्तिष्क की इस समय बड़ी ही विचित्र परिस्थिति थी। जिन वीरों की रुधिर-धारा से हल्दीघाटी का स्वतन्त्रता समर प्लावित हो रहा था, महाराणा उन्हें छोड़कर अपनी रक्षा का उपाय नहीं कर सकते थे, अपने प्यारे वीरों के साथ वे भी अपनी कृति उसी दिन सम्पूर्ण कर देना चाहते थे। हार-कर भी वे शत्रुओं से विजय-प्राप्ति की इच्छा रखते थे, आदर्श समर क्या और किस तरह होता है, शत्रुओं के हृदय में इसकी अमिट छाप मुद्रित कर देना चाहते थे।

मानसिंह के भाग जाने पर तमाम मुगलों की दृष्टि महाराणा की ओर आकर्षित हुई। इधर उनके अंगरक्षक भी बहुत थोड़े रह गये थे। महाराणा को मुगलों ने चारों ओर से घेर लिया और उन पर शस्त्रों का अविराम प्रहार जारी हो गया। अपने सम्राट् को घिरा हुआ देखकर राजपूत-रक्षक भी जान हथेली पर लेकर लड़ने लगे, परन्तु क्रमशः लड़कर मरने के सिवा वे और कुछ न कर सके। प्रताप के सर्वांग से रुधिर की धारा बह रही थी, चेतक के अंग भी क्षत-विक्षत हो रहे थे। शरीर वार-वार शिथिल होता जा रहा था, केवल मनोबल के प्रभाव से प्रताप अब तक शत्रुओं के बीच में अकातर चित्त से युद्ध कर रहे थे।

कैलवाराधिप झालामान्ना ने महाराणा की यह दशा दूर से देखी। उनका

शरीर कंटकित हो गया। एक प्रगाढ़ भक्ति महाराणा के प्रति पैदा हुई। उन्होंने सोचा, 'क्या मेवाड़ का सूर्य अस्त हो जायगा ? फिर बचे हुए लोगों को स्वतन्त्रता की शिक्षा कहाँ से प्राप्त होगी ? ऐसा हरगिज न होगा !' 'महाराणा की जय।' के भीम-घोष से अपने आगमन की सूचना देते हुए अपने शरीर-रक्षकों सहित महाराणा की सहायता के लिए कैलवाराधिप आ गये। उन्होंने प्रताप का छत्र अपने ऊपर लगा लिया। उनकी स्वर्ण-पताका लेकर अपने शरीर-रक्षकों के साथ अपूर्व विक्रम प्रकट करते हुए शत्रु सेना से लड़ने लगे। मुगलों ने धोखा खाया। उन्हें ही उन लोगों ने महाराणा प्रताप समझा और उन्हीं के प्राणों के लिए आक्रमण करने लगे। महाराणा को अवसर मिला, मुगलों से युद्ध करते हुए झालामान्ना ने अद्‌भुत वीरता प्रकट की। अन्त में वे वीर-गति को प्राप्त हुए।

प्रताप ने इनकी मृत्यु के बाद इनके परिवारवालों की बड़ी इज्जत की। इस झालावंश को मेवाड़ की राजपताका उड़ाने का अधिकार मिला और झालामान्ना के आदर्श कार्य से सद्रि की जागीर भी उनके वंशधरों को दी गयी, साथ ही राजा की उपाधि से विभूषित किये गये और राजमहल तक नगाड़ा बजाते हुए आने का अधिकार दिया गया।

हल्दीघाटी के इस भयानक महासमर में 22000 राजपूतों में से केवल 6000 बचे और चौदह हजार सेना संग्राम में हत हुई। पाँच सौ तो प्रताप के ही आत्मीय थे। ग्वालियर के राज्यच्युत नरेश रामसिंह और उनके इकलौते पुत्र के साथ 350 उनके बन्धु-बान्धव भी इस युद्ध में वीरगति को प्राप्त हुए।

धीरे-धीरे भगवान् मरीचिमाली अस्ताचल में प्रवेश कर रहे थे। युद्ध का अवसान हो रहा था। मुगलों के जयोल्लास से पहाड़ियों में प्रतिध्वनि हो रही थी। उस विजय-घोष से घायल सिपाहियों की करुण ध्वनि मिलकर उसे और नृशंस बना रही थी। बचे हुए राजपूतों का मुख मुरझाया हुआ, हाथ भरे हुए और पद शिथिल हो रहे थे। सन्ध्या के कुछ पहले महाराणा ने सैन्य को हटने की आज्ञा दी, स्वयं चिन्ताक्लिष्ट, घोड़े पर सवार हो अकेले पहाड़ी की ओर चले। भारत के इतिहास में पतन की एक दूसरी कथा लिखकर राजपूतों को नियति के अन्धकारमय गर्त में चिरकाल तक के लिए डालकर हल्दीघाटी का महासमर समाप्त हुआ।

दशम परिच्छेद

पश्चात्ताप

भाग्य की अकरुण कुटिल गति पर विचार करते हुए घोड़े पर सवार निस्संग महाराणा प्रताप चले आ रहे थे। चिरकाल की संचित चिर प्रतिज्ञा पर इतना बड़ा धक्का लगा कि विश्वास की थूनियाँ हिला दी गयीं। प्रताप सोचने लगे, 'जिन वृद्ध पिताओं की सेवा के लिए उनका एकमात्र पुत्र बचा रहा था, अब वे किस दशा में होंगे ? उन्होंने तो सहर्ष देश की रक्षा के लिए पुत्र को लड़ने की आज्ञा दी थी, फिर इस विषमय परिणाम का भोग उन्हें क्यों करना पड़ा ? अवश्य ही यह धर्म सब वाहियात है।' फिर सोचते, 'नहीं, कर्त्तव्य पर विचार नहीं चलता, कर्त्तव्य की समालोचना भी नहीं हो सकती, फल की आकांक्षा रखनी ही नहीं चाहिए, जो कुछ किया गया कर्त्तव्य के विचार से ही किया गया है, आगे भी वैसा ही किया जायगा।'

प्रताप अनेक प्रकार के वाग्जाल में भूत और वर्तमान की समालोचना में फँसते-फँसाते चले जा रहे थे। सन्ध्या के अन्तिम किरण पड़ रही थी। आज प्रताप की पूर्ण पराजय हुई है। आज वे एक साधारण परिस्थिति के मनुष्य हैं, कल तक वे राज्यचिह्नों को धारण करते थे, परन्तु आज एक दिन के प्रलय में उनके ऐश्वर्य का ध्वंस हो गया। वह छाया की तरह विलीन हो गया, मानो यही अन्धकार सत्य है जिसमें अतिरंजना कोई नहीं। बाईस हजार सेना के नायक को आज एक साथी भी नहीं मिला। आज उनके साथ कोई शरीर-रक्षक भी नहीं है।

इस युद्ध में शक्तिसिंह भी थे। उन्होंने लड़ाई नहीं की। परन्तु आदि से अन्त तक राजपूतों का युद्ध उन्होंने अवश्य देखा था। राजपूतों की निर्भीकता, अगणित सेना के बीच में क्षत्रियत्व का शौर्य-दर्शन, देश की रक्षा के लिए हँसते हुए वीर-गति को प्राप्त करना, घिरकर भी भय न खाना, यह सब गुण देखकर शक्तिसिंह मुग्ध हो गये थे। देश की इस भयंकर परिस्थिति के समय वे उसके किसी कार्य में न आये। इसका उन्हें हार्दिक दुख हुआ। उनका विरोध-भाव दूर हो गया, बल्कि जिस समय झालामान्ना को प्रताप की रक्षा करते, राजचिह्नों को अपने ऊपर धारण करते देखा, लड़ते हुए अपने प्राणों का विसर्जन कर महाराणा के प्राणों को खरीदते देखा, उस समय शक्तिसिंह दूसरे ही शक्तिसिंह हो रहे थे। महाराणा की रक्षा के लिए देश के सब वीरों को उन्होंने रणक्षेत्र में प्रत्यक्ष देखा, केवल वही न थे। जिन्हें देश के बालक-वृद्ध-युवा एक ही प्रकार से भक्ति करते हैं, उनका विरोध करके उन्होंने अच्छा नहीं किया, उन्हें दृढ़ विश्वास हो गया। उनकी दृष्टि महाराणा पर ही लगी। जब राजपूतों का विनाश हो चुका, बची हुई सेना को युद्ध बन्द कर आत्मरक्षा करने की आज्ञा दी गयी, तब भी उनकी दृष्टि प्रताप पर लगी

हुई थी। जब चेतक पर महाराणा निस्संग एक ओर को चल दिये, उस समय भी उन्होंने महाराणा को देखा।

इसके पश्चात् मुगल-सरदारों में भी युद्ध की चर्चा होने लगी, हल्दीघाटी के भयानक समर में पराजित होने पर भी शत्रुदल प्रताप की शूरता की प्रशंसा करने लगा, उनके प्रधान-प्रधान शत्रुओं ने स्वीकार किया कि इतना बड़ा वीर उन्होंने कभी नहीं देखा। शत्रुओं के मुख से भी प्रशंसा वाक्य निकलने लगे, शक्तिसिंह ने भी यह सुना।

यों तो वे पहले ही अपनी प्रतिहिंसा और अपमान का भाव भूल गये थे, परन्तु अब पूर्ण मात्रा में प्रताप के प्रति उनका भक्तिभाव उदित हो गया था। वे मन-ही-मन कहने लगे, 'हाय! एक राजपूत मैं भी हूँ। कितना गर्व था उन वीरों को मृत्यु का। हँस रहे थे, मानों मृत्यु का उन्हें बिलकुल भय ही न था। मेवाड़ का कोई भी गाँव नहीं बचा, जहाँ से देश की रक्षा के लिए वीर सिपाही न आये हों, और मैं मेवाड़ के राजवंश का मनुष्य हूँ। हे ईश्वर! यह इतना घोर पतन! जहाँ और-और लोगों ने अपने प्राण देकर प्रताप की रक्षा की, वहाँ बगल में रहकर भी मैं उनके लिए लड़ न सका, और मैं प्रताप का भाई हूँ! लेकिन बस, जो होना था, हो चुका, अब मैं फिर इस रेगिस्तान से गंगा की निर्मल धारा बहाऊँगा, हे ईश्वर! मेरा उद्धार करो, मेरी आत्मा को शक्ति दो, स्वतन्त्रता दो, देश के लिए मरना सिखलाओ।' शक्तिसिंह बच्चों की तरह रोने लगे। पूर्व की स्मृतियों ने जोर मारा। पवित्र रक्त ने अपना प्रभाव दिखलाया। शक्तिसिंह के हृदय से विद्वेष बिल्कुल दूर हो गया। इस समर भूमि में देश के लिए वे कुछ न कर सके थे, बल्कि देश की स्वतन्त्रता का हरण करने के लिए ही आये हुए थे, ईश्वर से रोते हुए उन्होंने प्रार्थना की, ईश्वर ने तत्काल उनका मनोरथ पूरा किया।

जब सिपाहियों को युद्ध बन्द कर प्राण बचाने की आज्ञा दे महाराज ने पहाड़ की राह ली, उस समय उनकी दृष्टि बचाकर उनके प्राण लेने के लिए दो मुगल सिपाही उनके पीछे लगे। एकाएक शक्तिसिंह की प्रार्थना मंजूर करने के लिए ईश्वर ने उन्हें मौका दिया। उन मुगल सिपाहियों पर इनकी दृष्टि पड़ गयी। हृदय क्षुब्ध हो उठा। भाई के प्रति सहस्र धारों में भक्ति का सोता फूट निकला। वे स्थिर न रह सके। उन्होंने भी घोड़ा बढ़ाया। और वैसे ही फिरकर उन सिपाहियों का पीछा किया। मन-ही-मन शक्तिसिंह ने ईश्वर को धन्यवाद दिया। हृदय में एक प्रकार की घृणा मुगलों के प्रति पैदा हुई। कहने लगे, 'युद्ध समाप्त होने के बाद राजपूत, शत्रु पर कभी भी वार नहीं करते, मौका पाने पर भी उसे छोड़ देते हैं, परन्तु यह कितनी बड़ी नीचता है कि इस सन्ध्या के समय भी इन राक्षसों के हृदय से पैशाची प्रवृत्ति का अन्त नहीं हुआ। आज इन राक्षसों को इन्हीं की शिक्षा देनी है। इन्हीं के अस्त्र से इनका अन्त करना है। अन्यथा मैं भी तो राजपूत हूँ, सन्ध्या के समय इनके प्राण मैं अवश्य ही न लेता।

'प्रताप! तुम मेवाड़ के सूर्य हो, आज मेघों के प्रभाव से तुम्हारी किरण कुछ

काल के लिए ढक जरूर गयी है परन्तु वह चिरन्तन, अमर, स्वर्गीय और आवश्यक, अनावश्यक मेघों का अन्त एक दिन अवश्य होगा। जब तुम्हारी स्वर्गीय ज्योति फिर चमक उठेगी, छिपी न रहेगी, उसकी संसार को आवश्यकता है। प्रताप! तुम इतने महान् हो! आश्चर्य है, तुम्हारे नाम में इतनी शक्ति है, तुम्हारी हार में भी विजय है, तुम अद्‌भुत मनुष्य हो, मैं मूर्ख था, स्वतन्त्र देश के आदर्श देवता को मैंने नहीं समझा था।' शक्तिसिंह आवेश में तरह-तरह की कल्पनाएँ करते हुए चले जा रहे थे।

प्रताप का हृदय भग्न हो चुका था। तमाम चेहरे पर निराशा का राज्य था। स्वतन्त्रता की वेदी पर अपना सर्वस्व रखकर जैसे रिक्त हृदय से जा रहे हों, जैसे बदले में उन्हें कुछ भी प्राप्ति न हुई हो। वे अन्यमनस्क हो रहे थे। चेतक भी थक गया था। धीरे-धीरे चिन्ता करते हुए प्रताप चले जा रहे थे और उन्हें लक्ष्य कर उनके पीछे दो मुगल भी। प्रताप को पीछे से किसी के आने की आहट भी न मिली, वे इसी प्रकार से अपनी विचार-तरंगों में तल्लीन हो रहे थे। वे दोनों प्रताप के बिल्कुल नजदीक आ गये। परन्तु फिर भी प्रताप को कुछ मालूम न हुआ। शक्तिसिंह कुछ दूर पर थे। ईश्वर ने प्रताप की मदद की। सामने एक पहाड़ी नदी पड़ी। प्रताप का घोड़ा चेतक एक ही छलाँग में नदी पार कर गया, परन्तु मुगलों के घोड़े कमजोर थे, उन्हें नदी पार करने में कुछ देर लग गयी, तब तक शक्तिसिंह और नजदीक आ गये। मुगलों ने नदी पार करके फिर प्रताप का पीछा किया और उनके बहुत पास पहुँच गये। लड़ाई में प्रताप का सर्वांग शस्त्रों से क्षत-विक्षत हो रहा था, घावों से खून का फौवारा छूट रहा था, ऐसी ही दशा चेतक की भी थी। इसी परिस्थिति में मुगल उनका पीछा कर रहे थे। मुगल इस वार प्रताप के बिल्कुल करीब पहुँच गये। शक्तिसिंह ने सोचा कि कहीं ऐसा न हो कि फिर जीवन भर के लिए पछतावा रह जाय; इसलिए प्रताप को होशियार कर देना चाहिए।

उन्होंने उच्च स्वर से आवाज लगायी, "हो नीला घोड़ा सवार!" प्रताप चौंके। फिरकर देखा तो दो मुगल आ रहे थे। प्रताप को आश्चर्य हुआ कि मेरी भाषा में किसने मुझे सतर्क किया? ये तो मुगल हैं, इस निर्जन भूमि में राजपूत गले की आवाज कहाँ से आयी?

प्रताप सन्देह कर रहे थे कि शक्तिसिंह घोड़ा बढ़ाकर मुगलों के बिल्कुल पास पहुँच गये और देखते-देखते दोनों का काम तमाम कर दिया। प्रताप ने मुगलों को गिरते हुए देखा, फिर उनकी दृष्टि शक्तिसिंह पर पड़ी। घृणा से सर्वांग कुंचित हो उठा। वे इस निश्चय पर पहुँचे—कि इन दो मुगलों को मारने का कारण इसके सिवा और कुछ नहीं कि शक्तिसिंह अपने हाथों मुझे मारकर बदला चुकाना चाहता है, जबकि वह भी मुगलों की तरफ हो सकता है। इसके सिवा मुगलों के मारने का और कोई कारण नहीं।

प्रताप के नेत्र सजल हो आये। मन में कहा, 'हाय रे मनुष्य! तुम्हारे भीतर इतनी नीच भावना भी रह सकती है। मुझे हर तरह से पिसा हुआ, हृत-सर्वस्व,

परिश्रान्त और विक्षत शरीर देखकर बदले के लिए इससे अच्छा अवसर शक्तिसिंह को नहीं सूझा। ईश्वर की इच्छा पूर्ण हो!' प्रताप ने एक साँस ली। निराशा की विषाक्त क्रिया से सर्वांग जर्जर हो रहा था। अब तक शक्तिसिंह बहुत समीप आ गये थे। उन्हें देखकर प्रताप ने कहा, "आओ शक्तिसिंह, इससे अच्छा अवसर तुम्हें न मिलेगा, बदले के लिए तुम्हें बहुत हैरान होना पड़ा। आज देश और स्वतन्त्रता के छूटने के साथ तुम्हारे हाथ से प्राण भी निकलें, यज्ञ में पूर्णाहुति भी हो जाय! मेवाड़ का नाम अब भारत के हृदय से मिट जाना ही अच्छा है, आओ, मैं तैयार हूँ!"

शक्तिसिंह पर एकाएक जैसे सहस्र अस्त्रों का प्रहार हुआ हो। वे काँप उठे। उनकी भक्ति की परीक्षा शुरू हो गयी। आँखों में अँधेरा छा गया। दुःख और क्षोभ से हृदय बैठ गया। घोड़े से उतरकर वे कटे हुए वृक्ष की तरह प्रताप के पैरों पर गिरकर बेहोश हो गये।

प्रताप ने भाई को गोद में उठा लिया। अब शक्तिसिंह के हृदय का हाल छिपा न रहा। अपने शब्दों के लिए प्रताप को लज्जा आयी। उनके कटे हुए घावों से खून की कुछ बूँदें शक्तिसिंह के ललाट पर टपक पड़ीं।

शक्तिसिंह जागे। नेत्रों से आँसुओं की अनर्गल धारा बह चली। मुख से एक शब्द भी न निकला। एक दृष्टि से प्रताप को देखते रहे। भक्ति, करुणा और प्रार्थना से मिली हुई उस दृष्टि का अर्थ प्रताप समझ गये। दुःख और निराशा के स्वर से प्रताप ने कहा, "भाई, अब कुछ नहीं रहा, क्षण-भर में मेवाड़ की रही-सही शक्ति भी नष्ट हो गयी।"

शक्तिसिंह फिर भी न बोले। आप-ही-आप उनका मस्तक अवनत हो गया। प्रताप ने बड़े प्रेम से छोटे भाई को हृदय से लगा लिया। युद्ध के बाद यह उन्हें प्रथम शान्ति मिली थी। एक दृष्टि से निश्चल वृक्ष-समूह, भाइयों का यह सप्रेम आलिंगन देख रहा था। एक झोंका हवा का आया और उन्हें कुछ शान्ति मिली, आनन्द से पल्लव नृत्य करने लगे। शक्तिसिंह बालक की तरह प्रसन्न हो गये।

प्रताप ने कहा, "शक्ति, अब राजपूतों का उत्थान होना कठिन है। देश की दुर्दशा क्या हमें ही देखनी बदी थी? पराजय के पश्चात् अब दुर्बल प्रजा पर यवनों का न जाने कितना कठोर अत्याचार होगा? विधाता की यही इच्छा थी, नहीं तो हम हारते ही क्यों?" प्रताप की आँखें भर आयीं। सर्वांग से रुधिर की धारा बह चली।

शक्तिसिंह ने कहा, "भैया! आप क्या कहते हैं? इस संग्राम में आपकी विजय हुई है, बल्कि विजय से भी बढ़कर कोई शक्ति मनुष्य के हृदय को पराजित करने-वाली है, तो आपने उसी शक्ति को प्राप्त किया है। शत्रुओं में आपकी जितनी प्रशंसा हो रही है, आज तक भारतवर्ष के किसी वीर की उतनी प्रशंसा नहीं हुई। सेनापति से लेकर साधारण सिपाही भी यह स्वीकार करते हैं कि इतना बड़ा वीर हिन्दुस्तान में नहीं है, जिसे मरने का बिल्कुल ही खौफ न हो। भैया, तुमने अपने

शत्रुओं के हृदय में घर कर लिया है, और मुझ जैसे अधम क्रूर मन पर भी अपनी महत्ता का प्रभाव डालकर रास्ते पर ले आये हो। इस युद्ध में आपकी विजय हुई है।"

हर्षातिरेक से प्रताप के घावों से फिर खून का फौवारा छूटा। प्रताप ने कहा, "शक्तिसिंह, हमारा हृदय दुर्बल हो गया था, हम समझते थे, कि सत्य का बल समय पर काम नहीं देता। तुम्हारे शब्दों से हमारी दुर्बलता जाती रही। हम अपनी प्रतिज्ञा पर अटल रहेंगे। ईश्वर, तुम्हारी इच्छा विचित्र है!"

"भैया, आप अपने व्रत पर डटे रहिये। आपके जीवन से देश भर में जीवन का संचार होगा। आपका आदर्श देश के उत्थान का सहायक होगा। इस समय आप ही हिन्दुओं के मुकुटमणि और मुसलमानों की सत्ता का तिरस्कार करनेवाले हैं। आपके विचलित हो जाने पर देश और धर्म की मर्यादा जाती रहेगी। अब अधिक देर यहाँ ठहरना मेरे लिए अनुचित है, सलीम को सन्देह होगा। उससे मिल-कर मैं शीघ्र ही आपकी सेवा के लिए हाजिर हूँगा।" शक्तिसिंह के इन शब्दों को सुनकर प्रताप ने उन्हें जाने की आज्ञा दी। देवोपम समुज्ज्वलकीर्ति भाई की चरण-धूलि ग्रहण कर शक्तिसिंह विदा हुए।

प्रताप की तरह चेतक का शरीर भी क्षत-विक्षत हो रहा था, जगह-जगह अस्त्रों के गहरे घाव थे और उनसे अविराम रुधिर की धारा बह रही थी। अपने शरीर की पीड़ा से अधिक दुख चेतक के घावों का था। अपने मित्र और शरीर-रक्षकों में चेतक को प्रताप सबसे बढ़कर समझते थे। वह भी वैसा ही होशियार था। अपने मालिक के मनोभावों को तत्काल समझ लेता था। इसकी पीठ पर जब तक प्रताप थे, उन पर कभी संकट नहीं आया। वह अपने समय का एक सर्वश्रेष्ठ शिक्षित अश्व था।

चेतक की अवस्था क्रमशः खराब होती गयी। रुधिर बन्द न हुआ। अपनी अन्तिम घड़ी समझकर अनिमेष दृष्टि से वह अपने मालिक को देखने लगा। प्रताप भी समझ गये कि उसे असह्य कष्ट हो रहा है। चेतक की आँखों से आँसुओं की धारा बह चली। एक शब्द करके उसने प्राण छोड़ दिये।

पहले प्रताप को यह मालूम न था कि चेतक का यह अन्तिम समय है। उसकी मृत्यु हो जाने पर उसकी अनिमेष दृष्टि का अर्थ उनकी समझ में आया। अपने मालिक को वह प्रेमभाव समझाता था। वे भी उससे उसी तरह प्यार करते थे। उनको बचाकर किसी निर्विघ्न जगह पर लाने के लिए ही अब तक वह मृत्यु से लड़ रहा था। अन्यथा समर क्षेत्र में ही उसकी अवस्था शोचनीय हो रही थी, वहीं वह अब तक मर गया होता।

चेतक की कृतज्ञता का स्मरण कर प्रतापसिंह रोने लगे। वे समझ गये कि उनके प्यारे अश्व ने अपने प्राणों के बदले में उनकी रक्षा की है। प्रेम की कसौटी पर कसकर उसने अपने को खरा सिद्ध कर दिखाया है। प्रताप को आज के विगत युद्ध की याद आयी तो रोने लगे, कितने ही स्थलों में चेतक के कारण ही उनकी

प्राण-रक्षा हुई थी, कहा, "हाय ! दुःख कभी अकेला नहीं आता। आज हमारे कितने ही मित्रों, सहायकों और प्राणों से प्यारे बन्धुओं की मृत्यु हुई और आज ही चेतक भी हमें अकेला छोड़कर चला गया। यह विधाता का कितना निष्ठुर नियम है।"

प्रताप चेतक को अपना एक अन्तरंग मित्र समझते थे। उसकी मृत्यु की जगह पर उन्होंने उसका स्मारक बनवा दिया, जो आज भी मौजूद है।

इधर शक्तिसिंह अपने डेरे पर पहुँचे। जिन दो मुगल सैनिकों को प्रतापसिंह का पीछा करने के कारण उन्होंने मारा था, उनमें एक खुरासानी था और दूसरा मुलतानी। प्रताप को प्रणाम कर खुरासानी के घोड़े पर चढ़ वे मुगल-कैम्प में आये। इससे लोगों को सन्देह हुआ। सेनापति ने उनसे इसका कारण पूछा। शक्तिसिंह ने सच-सच बयान दिये। उन्होंने कहा कि युद्ध हो जाने पर शत्रु पर वार करना धर्म नहीं है। दूसरे हम राजपूत हैं। हम अगर किसी को इस तरह का पातक करते हुए देखते हैं, तो हमें भी पाप लगता है। जब इन दोनों खुरासानी और मुलतानी ने प्रताप का पीछा किया, तब हमारे लिए प्रताप की रक्षा करना धर्म में दाखिल था। यही कारण है कि मैंने खुरासानी और मुलतानी को मार डाला।

शक्तिसिंह को इस सत्यभाषण से कोई कठोर दण्ड नहीं मिला। उन्हें केवल मुगलसैन्य से निकल जाने के लिए कहा गया। इससे शक्तिसिंह बहुत प्रसन्न हुए। वे यही चाहते भी थे।

जब मुगलों के साथ से अलग होकर वे चले, तब एकाएक याद आयी कि खाली हाथ राजा के दर्शन ठीक नहीं। रास्ते में भाईंनसोर का किला पड़ता था। अपनी पाँच हजार सेना के साथ उस किले पर उन्होंने आक्रमण कर दिया और विजय प्राप्त की। उस किले पर अपना अधिकार कर प्रताप के पास गये और वह किला प्रताप की नजर किया।

शक्तिसिंह की इस अपूर्व भेंट से प्रताप मुस्कुरा दिये और वह दुर्ग उन्हें ही रहने के लिए दे दिया। उसी समय से वह दुर्ग शक्तावतों का वासस्थान हुआ। प्रताप की माता का शक्तिसिंह पर प्यार अधिक था, क्योंकि शक्तिसिंह छोटे थे, इसलिए वे शक्तिसिंह के साथ उसी दुर्ग में रहने लगीं। और क्योंकि मेवाड़ की राजमाता बाईंजी-राज के नाम से पुकारी जाती हैं, इसलिए उस कुल की स्त्रियों की बाईंजी-राज की ही उपाधि रही। शक्तिसिंह के आने से मेवाड़वासियों को एक नयी शक्ति मिली और उनसे महाराणा को भी अनेक सुविधाएँ प्राप्त हुईं।

एकादश परिच्छेद

पति-पत्नी

'मैं बीकानेर का राजकुमार हूँ, एक बहुत बड़े राज्य का मालिक। परन्तु आज काल के कुटिल चक्र में पड़कर दिल्ली के बादशाह का कैदी हूँ ! मेरे स्वतन्त्रता के द्वार पर सोने की साँकल डाल दी गयी है। कल्पना के पंख कतर लिये गये हैं। अब मुक्त रूप से प्रभात के स्वर्णाकाश में उड़ने नहीं पाता, पींजरे में डाल दिया गया हूँ। अनन्त सौन्दर्य अब मेरे लिए स्वप्न है और सत्य है, सीमा की क्षुब्ध बहुभाव-संकुल क्षुद्र-जल्पना। हल्दीघाटी का महासमर समाप्त हो गया। धन्य प्रताप, धन्य है तुम्हारा स्वतन्त्रता प्रेम और धन्य हैं तुम्हारे सहायक जिन्हें अपने प्राण भी स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए अपदार्थ से मालूम हुए। आज मेवाड़ पर कितनी बड़ी विपत्ति है। हाय ! इस युद्ध पर मैं एक पद्य भी न लिख सका। मन में वैसी स्फूर्ति होती ही नहीं कि लिख सकूँ, संकल्प-ही-संकल्प करता हूँ। हृदय के एक कोने में उसकी आभा विकसित होती है; तत्काल दूसरे कोने में विलीन हो जाती है, जैसे किसी ने मेरी शक्ति ही हर ली हो। हिन्दुओं पर कितना बड़ा अन्याय, कितना घोर अत्याचार हो रहा है !' अपने कमरे में चुपचाप बैठे हुए कविवर पृथ्वीराज विचार कर रहे हैं।

"आज इतनी चिन्ता किस बात की है?" उनकी पत्नी सुन्दरी भीतर से कहती हुई निकली और उनकी बगल में बैठ गयी।

"नहीं कोई खास बात नहीं है, कुछ विचार कर रहा हूँ।" पृथ्वीराज ने अन्य-मनस्क होकर कहा।

"विचार तो तुम करते ही रहते हो। परन्तु इतना विचार भी करना अच्छा नहीं। आजकल तुम दुर्बल बहुत हो गये हो। चेहरे का रंग फीका पड़ गया है। देखो, मैं जब तुम्हें देखती हूँ, तुम्हारा चेहरा उदास रहता है, क्या बात है?" सुन्दरी हाथ पकड़कर आग्रह से पति को देखने लगी।

"कह तो दिया, हमारे दुर्भाग्य के सिवा विशेष बात और कुछ भी नहीं है।" पति ने उसी तरह चिन्तित भाव से कहा।

"देखो, तुम्हें मेरी भी कसम है, सच कहो, आजकल कुछ दिनों से तुम बहुत उदास रहा करते हो, मेरे मायके से बुरा हाल तो नहीं आया?" सुन्दरी की आँखें सजल हो आयीं।

"तुम्हारे मायके का बड़ा बुरा हाल है सुन्दरी!" पृथ्वीराज की आवाज भर्राई हुई थी।

सुन्दरी आश्चर्यचकित हो, एकटक पति को देखती रही। उसके मुख से एक भी शब्द न निकला। दृष्टि में ही प्रश्न की व्याख्या भरी हुई थी।

पृथ्वीराज ने कहा, "तुम्हारे पिता आये थे, अकबर के दरबार में नौकरी करने के लिए।"

सुन्दरी ने पति का हाथ छोड़ दिया। घृणा से सर्वांग संकुचित हो गया, "मेरे पिता! यहाँ! अकबर के दरबार में नौकरी करने के लिए!"

"हाँ, तुम्हारे पिता, शक्तिसिंह, अकबर के दरबार में नौकरी करने के लिए।"

"कारण?" सुन्दरी ने कुछ वक्र स्वर से पूछा।

"प्रताप से उनका विवाद हो गया था, प्रताप ने उन्हें अपने राज्य से बाहर निकल जाने की आज्ञा दी थी।"

"फिर?" सुन्दरी ने आग्रह से पूछा।

"फिर क्या, अकबर को एक बचे हुए स्वतन्त्र राज्य पर अधिकार करने का साधन मिल गया। उधर मानसिंह गये महाराणा के साथ भोजन करने, महाराणा ने कह दिया, हम विधर्मियों को बेटी ब्याहनेवाले पतित क्षत्रियों के साथ भोजन-पान का सम्बन्ध नहीं रखते। मानसिंह दिल्ली आये, अकबर को उभारा, करीब दो लाख मुगलों की सेना महाराणा को दबाने के लिए भेजी गयी। मानसिंह भी गये और साथ ही तुम्हारे पिता भी।"

"फिर?" विरक्ति से मुँह फेरकर सुन्दरी ने प्रश्न किया।

"फिर हल्दीघाटी में राजपूतों से मुगलों का घनघोर युद्ध हुआ। महाराणा ने अद्भुत वीरता दिखायी।"

उत्साह से गर्दन उठाकर शेरनी की तरह पति को सगर्व देखती हुई सुन्दरी ने कहा, "उस समय मानसिंह कहाँ पर थे, ताऊजी मानसिंह से जरूर मिले होंगे।"

"हाँ मानसिंह बच गये, महावत मारा गया, हाथी मानसिंह को लेकर भाग गया।"

सुन्दरी पति से और सटकर बैठ गयी। "हाँ फिर?" आग्रह से पूछा।

"मुगलों की सेना बहुत बड़ी थी। बाईस हजार राजपूत, दो लाख मुगलों से लड़ रहे थे, झालामान्ना, रामसिंह और उनके सैकड़ों राजपूत बचे। शाम भी हो आयी थी। महाराणा ने युद्ध बन्द कर दिया।"

चिन्तायुक्त होकर "और पिताजी ने क्या किया?"

"अब वे महाराणा से मिल गये हैं। दो मुगल महाराणा के पीछे लगे थे, उन्हें इन्होंने मारा और महाराणा प्रताप से अपने अपराध के लिए क्षमा प्रार्थना की। अब वे भाईंनसारे के किले पर अधिकार कर बाईंजी-राज के साथ-साथ वहीं रहते हैं।"

"हे ईश्वर!" सुन्दरी के हृदय पर से जैसे एक बोझ उतर गया।

"हिन्दुओं के ये बड़े ही बुरे दिन हैं। अकबर की धूर्तता को हिन्दू नरेश यथार्थ सत्य समझे हुए हैं। वे नहीं जानते कि यह पर्दे के अन्दर शिकार खेलता है। बिना युद्ध के ही तमाम राजपूतों को इसने वशीभूत कर रखा है। अपना विवाह भी राजपूत घराने में किया। उच्चता की अभिलाषा हद तक पहुँची और कहीं से इसको

बाधा भी नहीं मिली। यदि आज महाराणा न होते तो हिन्दुओं पर यह इच्छानुसार कानून के बोझ लादता जाता और वे स्वीकार भी कर लेते। हाय रे भारतवर्ष ! लोभ के वशीभूत होकर आज कितनी नीचता हिन्दू जाति तुम्हारे पवित्र वक्ष पर कर रही है !" पृथ्वीराज आप-ही-आप कहते गये, एकाएक सुन्दरी को देखकर, "नौरोज भी तो अब आ गया होगा ?"

"हाँ, वेश्या की तरह बन-ठनकर जाना, मुझे नहीं पसन्द आता।"

"पराधीनता का अर्थ यही है सुन्दरी।"

"न जाने क्यों, मैं जाती तो हूँ पर मारे भय के मेरा सर्वांग काँपता रहता है।"

"दाल में काला जो है। यह खुशी का दिन नहीं, इस दिन हिन्दुओं के पर्दे के अन्दर बादशाह का आक्रमण होता है।"

"आक्रमण ? कैसा आक्रमण ?" आश्चर्य से सुन्दरी ने पूछा।

"भेड़ की तरह राजपूतों को अपनी यज्ञशाला में उन्होंने डाल ही रखा है, उन में कान-पूँछ हिलाने की ताकत नहीं रह गयी, अब स्त्रियों के सतीत्व-बल पर भी बादशाह विजय प्राप्त कर रहे हैं और उन स्त्रियों के साथ बादशाह के गुप्त समर का ही नौरोज है, यह राजपूत स्त्रियों के सतीत्व की परीक्षा का दिन है सुन्दरी !" पृथ्वीराज क्षुब्ध हो गये। सुन्दरी उनकी भाव-भंगी देखने लगी।

"तो अब मैं कदापि न जाऊँगी।" भय-विकम्पित स्वर से सुन्दरी ने कहा।

"जाओगी क्यों नहीं, जाना जरूरी है, नहीं तो तुम्हारे पति पर विपत्ति आयेगी, बादशाह नाराज हो जायँगे, धर्म अपने साथ ही है, तुम उसकी रक्षा करोगी तो वह तुम्हारी रक्षा अवश्य करेगा।" पृथ्वीराज ने अविचल स्थिर कण्ठ से कहा, "जाने में भय क्या है ? सतर्क रहना और अपनी रक्षा का समुचित उपाय करना।"

द्वादश परिच्छेद

अकबर का मीना बाजार

चारों ओर रंगीन पताकाएँ उड़ रही हैं। रास्तों पर मखमल के गलीचे बिछे हुए, पैरों में गुदगुदी पैदा करते हैं। कतार की कतार मुसलमान और व्यवसायी-वैश्यों की स्त्रियाँ टोकरियों में भाँति-भाँति के सामान रखकर बेच रही हैं। एक ओर फूलों की बहार है, तो दूसरी ओर फलों की कतार। एक ओर रेशमी साड़ियाँ बिक रही हैं, दूसरी ओर हीरे-जवाहिरात, चुन्नी, पन्ना, मोती, पुखराज। इधर मिठाइयों की दूकानों में भीड़ लगी है, तो उधर इत्र और फुलेल की शीशियाँ फूट रही हैं। दूकानदार औरतें, खरीदार औरतें। यह औरतों का मेला है। इसे ही नौरोज कहते हैं।

इसमें बेगमें, बादशाहजादियाँ, राजपूतानियाँ, और हिन्दुस्तान के हर-प्रान्त के प्रतिष्ठित घराने की हिन्दू और मुसलमान स्त्रियाँ अपने रोब-दाब पर इतराती हुई सौदा खरीद रही हैं, अपनी सहेलियों से इठलाती हुई दिल्लगी-मजाक कर रही हैं, तालियाँ पीटतीं, हँसतीं, खिलखिलातीं, लोट-पोट हो जातीं, फिर उठतीं, दौड़तीं, रुकतीं, हँसतीं और खेलती हैं। कोई अदब नहीं, कोई कायदा नहीं, कोई मनाही नहीं, कोई रोक-टोक नहीं, पूरी स्वतन्त्रता है।

इस स्वतन्त्रता के एकछत्र सम्राट हैं अकबर। बाहरी संसार के भी वे सम्राट हैं और यहाँ लोगों की गृह-स्वतन्त्रता पर भी अपने अधिकार का सिक्का जमाना चाहते हैं। बाहर भी जिसके फले-फूले राज्य को चाहते हैं, हड़प लेते हैं। और यहाँ भीतर भी लोगों के कलेजे काढ़कर उनकी प्रेम-प्रतिमाओं पर बलात्कार कर अपनी विषय वासना चरितार्थ करते हैं। अकबर की लालसा की अग्नि को घृताहुति से प्रज्वलित करने के लिए ही इस नौरोज का इन्तजाम होता है। यहाँ ही सहस्र-सहस्र स्त्रियों के वे एकमात्र रसिया—जिसके साथ चाहते हैं, इच्छानुसार लीला करते हैं. छल से, बल से या कौशल से जिस तरह हो, पसन्द आयी हुई सुन्दरी का सतीत्व हरण कर बादशाह अकबर पुरुषों और स्त्रियों में, बाहर और भीतर सर्वत्र अपना अबाध अधिकार कायम रखते हैं। और यही हैं, 'दिल्लीश्वरो वा जगदीश्वरो वा !' अर्थ-लुब्ध कवियों के स्तुति-पात्र।

मुसलमान-इतिहास लेखक अब्बुल फजल ने यथाशक्ति नौरोज के सम्बन्ध में पर्दा डालने की चेष्टा की है। वे अकबर के नौकर थे, इसलिए उनके कलंक को ढकने का प्रयत्न कर नमकहलाली की महोच्च पदवी पर प्रतिष्ठित होने का प्रशंसनीय कार्य किया है; परन्तु दुख है कि चातुरी के कृत्रिम वाग्जाल ने सत्य को ही प्रकट कर दिया है, अब्बुल फजल लिखते हैं, "नौरोज का मेला हर महीने लगता था। प्रधान उत्सव समाप्त हो जाने पर नवें दिन, (हर साल के नये दिन का न हो।) यह मुसल्मानों के लिए आनन्द का दिन था। उसी दिन एक जगह बादशाह औरतों का मेला लगाते थे। उसमें बादशाह के साम्राज्य के बड़े-बड़े व्यवसायियों की बहू-बेटियाँ चीजें बेचने आतीं और शाही-महल की बेगमें अपनी पसन्द के मुताबिक चीजें खरीदती थीं। बादशाह सूरत बदलकर उस मेले में इसलिए जाते थे कि सियासी मामलों की जानकारी हासिल करें। यानी हमारी रियासत की अन्दरूनी हालत कैसी है, रिआया के ख्यालात कैसे हैं, हमारे नौकरों के रंग-ढंग क्या हैं, चीजों की निर्ख इन दिनों क्या है, इन सब बातों की जानकारी हासिल करने के लिए ही वे वहाँ जाते थे, उनका और कोई बुरा मतलब न था।"

अब्बुल फजल के अन्तिम वाक्य की ध्वनि प्रकट कर देती है कि उन दिनों भी इस नौरोज मेले की लोगों में काफी समालोचना हो चली थी, जिसे दबाने के लिए ही यह अन्तिम बात इतनी प्रसरित युक्ति के साथ आया है। बादशाह को रिआया की हालत का पता आम सड़क पर ही लगेगा, इस नौरोज के मेले में नहीं। यहाँ साधारण घराने की स्त्रियाँ न आती थीं, जिनसे रिआया की हालत अपनी बुद्धि

की तुला पर तोलते। यह काम आम सड़क पर बहुत आसानी से हो सकता था। साधारण मनुष्य ही 'रिआया' शब्द के उचित अधिकारी हैं, राजा-महाराजा और सेठ-साहूकार नहीं। रहा चीजों के निर्ख का हाल, सो इसका भी पता बाजार में ही लगता है और इतनी आफत मचाने के बाद नहीं। सेठ-साहूकारों की औरतें कभी सौदा नहीं बेचतीं, न इससे बाजार की हालत जानी जा सकती है, यहाँ तो वे शौकिया सौदा बेचती थीं, शायद अब्बुल फजल को तर्क मालूम न था।

अकबर चरित्र के बड़े दुबले थे। अपनी विषय-वासना को चरितार्थ करने के लिए यह जाल उन्होंने फैलाया था। इसमें एक से एक ख़ूबसूरत चिड़ियाँ फँसाते थे। जो औरत उनकी नजर चढ़ जाती थी, उसका छुटकारा होना मुश्किल हो जाता था। छल से, बल से या कौशल से उसके सतीत्व को ये अवश्य ही नष्ट कर देते थे। मूर्खों की आँख में धूल झोंकने के लिए यह बाहरी दिखलावा रच रक्खा था। परन्तु अकबर का इस तरह टट्टी की ओट में शिकार खेलना अधिक दिनों तक छिपा नहीं रहा। दरबार में यह बात मशहूर हो गयी। लोग आपस में इसकी समालोचना करने लगे। परन्तु अकबर के डर से कोई खुलकर न कह सकता था। वह मुगलों का मध्याह्न काल था। मुगलों की शक्ति का विरोध करके अपनी जान खतरे में डालना था। इसलिए सब मन मारकर रह जाते थे। और नौरोज के दिन बेबसी के कारण अपनी-अपनी पत्नियों को बादशाह-सलामत की सेवा में भेजते थे।

बाजार लगा हुआ है, औरतों की भीड़ बढ़ रही है। एक से एक सुन्दर वस्त्र और आभूषणों की जगमगाहट पर निगाह काम नहीं करती। द्वादशी, त्रयोदशी, चतुर्दशी, पंचदशी, शोडषी, सप्तदशी, तरुणी और परिपूर्ण यौवना ऊँचे वंशवाली कोमलांगी कामिनियों का रंग बरस रहा है। हँसी, ठठोली, आलाप और शिष्टाचार में यौवन की विचित्र बहार खिल रही है। यहाँ सौन्दर्य की सोलहों कलाएँ विद्यमान हैं। काले कुंचित प्रलम्ब बालों, सुकोमल स्तनों, क्षीण छोटी कटियों, गुरु नितम्बों आदि सौन्दर्य की प्रदर्शनी है। कोई नीलाम्बरी साड़ी पहने हुए, कोई अरुणाम्बरी जरी की किनारीदार शुक्लाम्बर, कृष्ण, पीत, बैंजनी, गुलाबी, फिरोजी, एक रंग की सैकड़ों साडियाँ हवा में उड़ती हुई। भीतर रेशमी चोली, बालों में फुलेल, गालों में पुष्प-रेणु। सौन्दर्य के सरोवर में जैसे शतदल प्रस्फुटित हो रहे हों। जहाँ बड़े-बड़े ऋषि और तपस्वियों का धैर्य छूट जाता, ब्रह्मचारियों में काम की वासना जाग्रत हो जाती, वहाँ बादशाह बिल्कुल निर्लिप्त और निर्विकार रहकर अपने राज्य की हालत जाँच करते हैं!

दूसरी ओर मुसलमानी सौन्दर्य। बेगमें, बादशाहजादियाँ, बड़े-बडे ओहदेदारों की परीजात नवयुवतियाँ, चढ़ती हुई नागन-सी जहरीली काली गुँथी हुई खुली वेणी—कामना की सजीवता में लहराती हुई। कीमती महीन कपड़े का पाजामा, पैरों में कामदार जूतियाँ। यौवन की अनियन्त्रित स्वच्छन्द चाल। अपने जड़ाऊ

जेवरों की ओर ज़रा भी ध्यान न देनेवाला अल्हड़पन। अपने दिल का मान, अपने सौन्दर्य का गुमान, किसी को कुछ न समझनेवाली शान। मन को इशारे पर लिये हुए, इठलातीं, हास्य की तरंगों पर डोलतीं, छेड़तीं, अलग हो जातीं, आतीं, फिर हँसती-बोलतीं, एक दूसरी की बगल में बैठकर एक दूसरी के शौहर की प्रेम कथाएँ पूछतीं, एक दूसरे को देख-देखकर हँसतीं, इशारा करतीं, कोई अपनी सहेली से गुलदस्ता माँगती, कोई फिर मिलने का वादा करती, कोई मिलने का वादा पूरा न करने के अपराध से अपनी सहेली से रूठ जाती।

हिन्दू और मुसलमान औरतों की भरी हुई चहल-पहल और जगमगाती हुई जवानी से अलग, आप ही अपने में, एक कोने में एक अनुपम स्त्री सिर झुकाये हुए बैठी है। जैसे किसी तरह अपनी कैद का वक्त गुजार रही हो। परन्तु गुलाब का फूल एकान्त में खिलकर भी बचने नहीं पाता। लोगों की नजर उसे खोज लेती है। उसी तरह इस अनुपम सुन्दरी के स्वर्गीय सौन्दर्य ने अभिमानिनी औरतों को उसके पास तक खींच लिया। कोई आती और एकटक उसके रूप को देखकर शर्म से चली जाती, उसका सम्पूर्ण अभिमान, चूर्ण-विचूर्ण हो जाता। कोई आती और बिना किसी कारण के उससे वार्तालाप करने लगती। प्रश्नों का उत्तर सुन्दरी को देना ही पड़ता। "तुम इतनी उदास क्यों हो? क्या महाराणा की पराजय से तुम्हें यह शोक हुआ है? तुम्हारे पति ने तो नहीं तुम्हें कुछ कहा? आज तुम अपनी सहेलियों से रूठी हुई क्यों हो? तुम्हारी तरह कोई सुन्दरी नहीं है, क्या इसलिए तुम अपनी हेठी होने से डरती हो?" इस तरह के आवश्यक-अनावश्यक प्रश्नों का उत्तर उसे ही देना पड़ता है। किसी तरह बेचारी बचकर इन प्रश्नों का उत्तर देती और प्रत्येक आक्रमण से अपना जी बचाती। देखते-देखते शाम हो आयी, औरतों ने अपने-अपने घर की राह ली। प्रायः मेले का आँगन खाली हो गया। पर सुन्दरी के घर से कोई सवारी न आयी, जिससे उसकी चिन्ता और भी बढ़ गयी। कुछ और शाम होने पर पालकी आयी। पर सुन्दरी की दासी उस पालकी के साथ न थी। कहारों ने पृथ्वीराज के नाम से आवाज लगाते हुए सुन्दरी को उस पालकी पर बैठने का इशारा किया। दासी के न रहने से चित्त में एक प्रकार की चंचलता हुई, पर शीघ्र घर पहुँचने के लालच ने सुन्दरी को दासी के न आने के कारण पर विशेष विचार करने का मौका न दिया।

चन्द्रमुखी पालकी पर बैठ गयी। चित्त पति के पास रखा था। पालकी का द्वार कहारों ने बन्द कर दिया और पालकी उठाकर धीरे-धीरे चलने लगे।

एकाएक सुन्दरी के हृदय में धड़कन होने लगी। उसे भय होने लगा। परन्तु इस भय के कारण वह कोई अनुमान न कर सकी।

कहारों का ध्यान अपने गन्तव्य स्थान पर शीघ्र पहुँच जाने पर लगा था, वे बड़ी तेजी से बढ़ रहे थे। इधर सुन्दरी के मन में भी सन्देह पैदा हो रहा था। अब तक वह अपने घर पहुँच जाती थी। इस बार देर होने पर उसने पालकी की खिड़की खोलकर झाँका। सब स्थान अपरिचित थे! इस राह से वह पहले कभी

नहीं गयी। उसने कहारों से पूछा, "तुम लोग कहाँ जा रहे हो?" "सरकार, पृथ्वीराज के यहाँ।" विनयपूर्वक एक कहार ने उत्तर दिया।

"इस राह से पालकी पहले कभी गयी ही नहीं, तुम कैसे लिये जा रहे हो?"

"सरकार आम रास्ता आज बन्द है, इसलिए चक्कर काटकर जाना पड़ रहा है।"

सुन्दरी चुप हो गयी। परन्तु उसकी शंका न गयी। नौरोज का विषमय फल वह सुन चुकी थी। उसके पति ने उसे सावधान कर दिया था। हृदय को दृढ़ करके वह बैठी रही। एक बार अपनी अँगूठी के हीरे को देखा। फिर कमर में बँधे हुए कटार को भली-भाँति आजमाया, अपने इष्टदेव को स्मरण किया और दृढ़ होकर बैठ गयी। अनेक प्रकार की कुतर्कनाएँ उठकर मस्तिष्क को क्षुब्ध करने लगीं, तमाम बदन पसीने-पसीने हो गया। कभी भय होता और कभी कुछ ही देर में फिर साहस आकर उसे धैर्य देता। कभी मरने का संकल्प करती, कभी पति के उदास मुख को देखकर फिर जीने और पति को प्रसन्न करने का निश्चय करती। इस तरह की परिस्थिति में बैठी हुई व्याकुल हो रही थी। उधर कहार तब तक एक सुरंग की राह पार कर रहे थे। सुन्दरी ने पालकी के दरवाजों को खोलकर झाँका तो चारों ओर अँधेरा दिखायी पड़ा। उसकी समझ में न आया कि वह कहाँ जा रही है और इस छल का कारण और परिणाम क्या है? क्रमशः कहार अपने अभीष्ट स्थान पर आ गये। पालकी रख दी। चारों ओर अँधेरा छाया हुआ था। एक दूसरे की सूरत न देख सकता था। वह जगह एक अहाते के अन्दर थी। सुन्दरी ने पालकी के दरवाजे खोले, स्थान का दृश्य देखकर हैरत में पड़ गयी। डपटकर कहारों से पूछा, "यहाँ तुम लोग मुझे कहाँ ले आये? जल्दी मुझे मेरे घर पहुँचाओ।"

एक बूढ़े कहार ने कहा, "आप किसी तरह की चिन्ता न करें। यहाँ आपको कोई खतरा नहीं है। आपके पति यहीं पर हैं। उन्हीं के हुक्म से हम लोग आपको यहाँ पर लाये हैं। आप भीतर जाइए। वे भीतर हैं।"

कहार की बात से चन्द्रमुखी को कुछ आश्चर्य हुआ। उसके स्वामी यहाँ क्यों आये, कैसे आये, सोचने लगी। हिम्मत बाँधकर पैर उठाया और उस कमरे के भीतर गयी। दरवाजे के भीतर जाते ही किसी ने तुरन्त दरवाजा बन्द कर दिया। शब्द से सुन्दरी चौंक पड़ी। चारों ओर देखने लगी, परन्तु वहाँ नजर काम न करती थी, इतना अँधेरा था। अँधेरे से सुन्दरी को कुछ भय हुआ। जी में यह आया कि यहाँ से जिस तरह से हो बाहर निकल जाना चाहिए, यहाँ खतरा अवश्य है। यह सोचकर जिस दरवाजे से होकर वह आयी थी, उसके पास चलकर उसे खोजने लगी। पर दरवाजा इस ढंग से बन्द था कि खुल न सकता था। सुन्दरी बड़ी चिन्ता में पड़ी। दरवाजा मजबूत भी इतना था कि तोड़ने से टूटता भी नहीं था। दुर्बल हृदय और बठ गया। परन्तु तुरन्त ही उसे अपने पति के शब्दों की याद आयी, मन की सारी कमजोरी उसी वक्त दूर हो गयी। हृदय में एक नया साहस

उमड़ चला। उस भयानक विपत्ति में भी जैसे उसका पति उससे कह रहा हो, तुम मुझे स्मरण करती रहोगी, तो तुम्हें कभी भय न होगा, तुम्हारा केशाग्र भी कोई न छू सकेगा।

इसी समय पास ही से किसी के आने की आहट मालूम हुई। वह धीरे-धीरे आ रहा था। जैसे चोर अपना पद-शब्द भी रोककर चलता है। बिल्कुल पास आ उसने सुन्दरी को सप्रेम सम्बोधन किया, "सुन्दरी!"

आवाज काँप रही थी, जैसे बाँस का पत्ता हवा में थर-थर काँपता हुआ शब्द करता है। 'सुन्दरी' सम्बोधन सुनते ही सुन्दरी के रोवें खड़े हो गये। उसने चारों ओर निगाह में जोर देकर देखा। पर कहीं कोई दिखलायी न पड़ा। सुन्दरी को निश्चय हो गया, कि आज ईश्वर की इच्छा से उसकी यह भयानक परीक्षा का दिन आ गया है। उसका हृदय काँपने लगा।

बिल्कुल नजदीक से आवाज आयी, "मैं तुम्हें प्यार करता हूँ सुन्दरी।"

"जैसे एक बच्चा अपनी माँ को!" सुन्दरी ने तुरन्त उत्तर दिया। मन-ही-मन उसने कहा, 'हे ईश्वर, मेरी लाज आज तुम्हारे हाथ है, भगवन्, इस कठिन संकट से मेरी नाव पार लगाओ। इस घोर भँवर से बचानेवाले तुम्हीं हो, तुमने कितनी ही सतियों की रक्षा की, पापियों के हाथों उन्हें कलंक नहीं लगने दिया, इस बार मेरी भी उसी तरह रक्षा करो स्वामी।'

इस समय वह अपरिचित स्वर सुन्दरी को बिल्कुल पास ही सुनायी दिया, "देखो, तड़फते हुए को न सताओ, नहीं तो तुम्हारी जवानी काम की न रहेगी। मैं तुम्हें इतना प्यार करूँ और तुम जरा आँख उठाकर देखती भी नहीं! देखो, ईश्वर के लिए अब न सताओ।" आवाज में कामना की जो दुर्गन्ध आ रही थी, बिना देखे हुए ही सुन्दरी ने निश्चय कर लिया कि यह कोई बिड़ाल है, अथवा वैसी ही नीच प्रकृति का मनुष्य, इससे छुटकारा पाना ईश्वर के ही हाथ है। हाय! मैं कहाँ आकर फँसी।

सुन्दरी को उसके ताऊ वीरवर महाराणा प्रतापसिंह की याद आयी। उसने सुना था कि हल्दीघाटी के अगणित शत्रुओं के अन्दर घिरकर भी वे नहीं घबराये। धैर्य के साथ, अपरिमित विक्रम से शत्रुओं का संहार करते गये। मैं उन्हीं की भतीजी हूँ, उनके सगे भाई की लड़की, यदि वे अगणित शत्रुओं में अपने धर्म, देश और जाति की मर्यादा की रक्षा कर सकते हैं, तो क्या मैं यहाँ अपने धर्म और सम्मान की रक्षा न कर सकूँगी?

इतना विचार पैदा होने के साथ ही मानो अनेक हाथियों का बल उसके भीतर आ गया। कड़ककर उसने कहा, "तू कौन है मुझे छेड़नेवाला? क्या तू राजपूतों की स्त्रियों को नहीं पहचानता?"

एकाएक कमरे में सैकड़ों बत्तियाँ जल उठीं और सुन्दरी ने देखा, उसके सामने दीन भाव से भारतेश्वर दिल्लीपति अकबरशाह उससे प्रेम की भिक्षा-प्रार्थना कर रहे हैं!

अकबर ने देखा, उसके कमरे में हजारों दीपकों का पुंजीभूत प्रकाश उसी सुन्दरी के रूप के आगे जैसे मलिन पड़ गया हो, उसकी प्रदीप्तकान्ति से एक विचित्र सौन्दर्य उस समय निकल रहा था। अकबर ने जीवन में ऐसी सुन्दरता कभी नहीं देखी, दीपक के पतंग की तरह एक दृष्टि से उस सौन्दर्य की आग को देख रहे थे। ऐसा रूप, इतनी गोराई, सुडौल देह, उन्होंने कभी नहीं देखा। उनकी बेगमें, बादशाहजादियाँ, उसके मुकाबिले में बाँदियों की तरह जँच रही थीं।

अकबर की भड़कीली पोशाक और कामान्ध-दृष्टि देखकर सुन्दरी का कलेजा काँप उठा। एकाएक प्रकाश में एक सबल पुरुष को सामने देखकर सुन्दरी का धैर्य जाता रहा। उसे पद्मिनी की याद आ गयी। मायके में लाखों सती राजपूत-वधुओं के जौहर की कथा, जलती हुई चिताग्नि से भस्म होकर अपनी मर्यादा की रक्षा करने की कहानी उसने सुनी थी। हृदय में रुधिर-बल का संचार हुआ। कमर के कटार और अँगूठी के हीरे की याद आयी। उसने अविचलित दृढ़ कण्ठ से फिर पूछा, "कौन है?"

"तुम्हें दिलोजान से प्यार करनेवाला अकबर।" सम्राट् दोनों हाथ फैलाये हुए सुन्दरी से मिलने के लिए आतुर हो रहे थे।

नाम सुनते ही युवती के रोम-रोम से घृणा, द्वेष, और ज्वाला का जहर निकलने लगा। नाम सुनते ही उसका संकोच-भाव तिरोहित हो गया। आँख-भौं आप-ही-आप कुंचित हो गयीं। धिक्कार की कर्कश ध्वनि से उसने कहा, "अकबर? कौन अकबर?"

"तुम्हारा प्यारा अकबर?"

"मैं भारत के सम्राट् को चाहती हूँ, क्या तुम वही अकबर हो?"

"हाँ प्यारी, तुम जिसे चाहती हो, मैं वही अकबर हूँ, हिन्दोस्तान का बादशाह लेकिन तुम्हारे गुलामों का गुलाम।"

"हिन्दोस्तान के बादशाह की नीचता! अकबर, ईश्वर है, तुम कहते हो, तुम हिन्दू और मुसलमानों को बराबर की निगाह से देखते हो, लेकिन जरा सोचो तो कि तुम करोड़ों मनुष्यों को कितना बड़ा धोखा दे रहे हो, तुम चाहते कुछ और हो, कहते कुछ और, और करते कुछ और हो। तुम हिन्दू स्त्रियों का सतीत्व भी अब नष्ट कर देने पर तुले हुए हो, जिस तरह हिन्दुओं की शक्ति को तुमने अपनी चालबाजियों से समाप्त कर दिया। परन्तु और चाहे जिसे तुम धोखा दो पर ईश्वर को धोखा न दे सकोगे अकबर, ईश्वर की सजा बड़ी भयानक होती है, तुम्हारी बादशाहत जलकर राख हो जायगी! मैं उस रिआया की स्त्री हूँ जिसे हर तरह से तुमने कमजोर कर रखा है। आज किसी की वाणी का स्वर उसकी गिरती हुई जाति के पास नहीं पहुँचने पाता। उस स्वर्गीय शक्ति को तुम कैद कर सकते हो सम्राट्, लेकिन सती के सतीत्व को स्पर्श भी नहीं कर सकते। आज तक मुसल्मान बादशाहों को कितनी ही बार सतियों की परीक्षा का फल मालूम हो चुका है; परन्तु आज तक उनकी दृष्टि का मोह दूर न हुआ, इससे अधिक दुःख का विषय

और क्या होगा अकबर ? —हिन्दोस्तान में राज्य कर हिन्दोस्तान के एक अच्छे-से-अच्छे विषय का अध्ययन वे न कर सके ।"

"तो यहाँ तुम कैसे सती हो सकोगी ? यहाँ मैंने पहुँच के अन्दर एक दीया भी नहीं रक्खा, यह मैंने पहले ही सोच लिया था प्यारी !"

"मूर्ख है तू, जल जाना ही सतीत्व नहीं है, सती पति के रहते हुए नहीं जलती ।"

"देखो, यह कुछ मेरी समझ में नहीं आता, खुदा के लिए कोई नया शिगूफा न खिलाना कि यह भेद खुल जाय ।"

"भेद खुलने से डर भी है ?"

"बहुत काफी । देखो, प्यारी, अब तो नहीं रहा जाता । मैंने जब से तुम्हें देखा है, मेरा दिल मेरा नहीं रहा । अब मुझे इतना न जलाओ, इन व्यर्थ की बहसों में भला क्या रक्खा है ?" अकबर सुन्दरी से लिपटने के लिए बढ़ने लगे ।

"ठहरो बादशाह, अभी मेरे कई प्रश्नों का उत्तर बाकी है । फिर तुम्हारे दर्द की दवा करूँगी ।"

"यह नौरोज का मेला क्या इसीलिए लगता है ?"

"हाँ, इसीलिए ।"

"हर मेले में तुम ऐसा ही कृत्य करते हो ?"

"हर मेले में ।"

"क्यों ?"

"लोगों की नजर में घटकर रहना मुझे पसन्द नहीं ।"

"ईश्वर को मानते हो ?"

"नहीं ।"

"तो हिन्दू और मुसलमानों के धर्म का मेल फिर कैसे करोगे ?"

"यह सब बाहरी दिखावट है। मैं सिर्फ अपनी बादशाहत की जड़ मजबूत करना चाहता हूँ । हिन्दू और मुसलमानों का धार्मिक ढोंग दोनों के दिल से हटाकर ।"

"लेकिन तुम्हारे पाप से लोगों में अविश्वास पैदा होगा, तो तुम टिक न सकोगे ।"

"शक्ति के रहते अविश्वास का डर मूर्खों को हुआ करता है ।"

"लोगों की शक्ति ही तुम्हारी शक्ति है और तुम्हारी तरफ से अविश्वास फैल जाने पर तुम्हारी शक्ति भी क्षीण हो जायगी ।"

"मैं किसी तरह भी अपने पापों को जाहिर न होने दूँगा ।"

"पाप कभी दबाया नहीं दबता ।"

"मैं दबा लूँगा । मेरी इच्छा पर दबाव नहीं काम कर सकता । मैं उसे पूरा करके छोड़ता हूँ । आज तुम्हें जब से मैंने देखा है, हजार जान से आशिक हो रहा हूँ । जब तक तुम्हें न पाऊँगा, मुझे चैन नहीं । मैं सच कहता हूँ, तुम जितनी सुन्दरी हो, मेरी तमाम सल्तनत तुम्हारे ऊपर निछावर है । आज तक कितनी ही सुन्दरियों

को मैंने गले लगाया, पर मेरे गले का हार तुम्हीं हो सकी हो। प्यारी, अब देर न करो, हिन्दोस्तान का बादशाह तुम्हारा---" हाथ फैलाये हुए कलेजे से लगा लेना चाहा।

"बस, खबरदार, स्पर्श मत करना, पापी, भस्म हो जायगा, जल जायगा, अभी तुझे बहुत-सा पाप भोगना है, नहीं तो अकबर मैं तुझे दिखाती कि सती किसे कहते हैं, परन्तु कामान्ध, ले तू एक परीक्षा देख।"

सती आँखें झुकाये हुए कुछ देर तक चुपचाप खड़ी रही, कमर से कटार निकालकर फेंक दिया। अकबर कटार की झंकार से चौंक पड़े, आश्चर्य की दृष्टि से एक वार कटार को और एक वार सुन्दरी को देखते रहे। हाथ जोड़कर सती ने दीपक के प्रकाश की ओर लक्ष्य करके प्रणाम किया। फिर शान्त गम्भीर स्वर से कहा, "माता, आज बड़ी कठिन परीक्षा में मुझे डाला है तुमने। आज मैं क्षत्राणी की तरह से बादशाह के पशुत्व की हत्या न करूँगी—माँ, मेरी आत्मा में विराजमान हो, माता ब्राह्मणी के रूप में, बादशाह के पशुत्व की हत्या न करो!"

बादशाह विस्मय-विमुग्ध की तरह खड़े हुए यह अद्भुत नाटक देखते रहे। जैसे उनमें कोई शक्ति न रह गयी हो। धीरे-धीरे उनके अंग शिथिल होने लगे। एक स्वर्गीय शक्ति से उनकी तमाम देह आकर्षित होने लगी। उषा के उदय से जैसे अन्धकार दूर हो जाय, हवा से बादल कट-छँट जाय, उसी तरह बादशाह के भीतर से वासना का विष निकल गया, उनकी देह फूल की तरह हल्की हो गयी। आँखों में ठण्डक आयी, हृदय की आँख खुली और उन्होंने देखा—उनके सामने खड़ी हुई वह सती उन्हें देखकर हँस रही है, जैसे माता बालक को देखकर हँसती है।

बादशाह पैरों पर गिर पड़े। "तेरी ऐसी महिमा मैंने कभी नहीं देखी—माता, मेरा अपराध क्षमा कर, अब इस तरह का अपराध न होगा—माता! माता!"

"अकबर! अभी तुम्हारी शक्ति का मध्याह्नकाल है। हिन्दोस्तान के अर्थ को तो तुम समझे, परन्तु उसकी आध्यात्मिक शक्ति को न समझ सके। चेष्टा करो; बहुत बड़ा ऐश्वर्य है वह बादशाह!" सती ने धीरे से कहा।

"हाँ, माँ; मैं चेष्टा करूँगा। कितना सुख है, कितना आनन्द है।"

आनन्द के आवेश में बादशाह विह्वल हो रहे थे। एकाएक उन्हें समय की याद आयी। तुरन्त बाहर गये। कहारों को पालकी लगाने के लिए कहा। पालकी लग गयी। भीतर आ, हिन्दोस्तान के बादशाह अकबर ने हाथ जोड़कर कहा, "माता, बहुत देर हो गयी; मुझे आशीर्वाद देकर अब अपने घर जाओ।"

"तुम मुसलमानों से हिन्दोस्तान की शूद्र शक्ति का उत्थान होगा। उन्हें दवानेवाले ब्राह्मण और क्षत्रियों से लड़ने के लिए; उन्हें क्षीण करने के लिए ही मुसलमानों का हिन्दोस्तान में आना हुआ है। अभी तुम्हें बहुत-सा कार्य करना है अकबर।"

सती पालकी पर बैठ गयी। हिन्दोस्तान के बादशाह ने माथा झुका दिया।

त्रयोदश परिच्छेद

खण्ड-युद्ध

हल्दीघाटी के महासमर के पश्चात् महाराणा का जीवन एक दूसरे ही रूप में बदल गया। उनकी तपस्या हद दर्जे को पहुँचने पर तुल गयी। हम कह आये हैं कि महाराणा की शक्ति का विनाश एक तरह से हल्दीघाटी के संग्राम में हो चुका था। अब न उनके पास सेना थी और न उसकी परवरिश के लिए राजकोष। अब अकेले महाराणा ही महाराणा रह गये थे। उनके अन्तरंग मित्र अब हल्दीघाटी के महासमर में ही उन्हें छोड़कर स्वर्ग का रास्ता ले चुके थे। मुगलों को दबाने का मौका मिला। मानसिंह और अकबर ने यह मौका चूकना अनुचित समझा। नयी-नयी मुगल सेना आकर महाराणा पर आक्रमण करने लगी। ऐसी भयानक परिस्थिति में पड़कर शत्रु को आत्मसमर्पण जिसने न किया हो, इस तरह का उदाहरण संसार के इतिहास में नहीं मिलता। इसीलिए महाराणा के जीवन का एक दूसरा अध्याय आरम्भ हुआ, जो पहले से और भी महान तथा शिक्षाप्रद है; स्वतन्त्रता के प्रेमी का यथार्थ हृदय-चित्र और देश की स्वाधीनता का सरल उदाहरण है। आज हजार वर्षों से हिन्दोस्तान दास्ता के कठिन पाश में जकड़ा हुआ तरह-तरह के दुःख और कष्टों का सामना कर रहा है; इस इतने समय के अन्दर बाहरी स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिए जितने महापुरुष भारतवर्ष में पैदा हुए और तदनुसार कार्य किया, उनमें महाराणा प्रताप का स्थान सबसे ऊँचा और सबसे विशद है। क्षत्रियों के इतिहास में महाराणा बेजोड़ हैं। इस तरह का एक भी दूसरा उदाहरण नहीं मिलता। भारत के उत्थान के इतिहास में निस्सन्देह महाराणा पथ-प्रदर्शक रहेंगे। इतनी महान् आत्मा, इतना कठोर त्याग, इतनी निष्कलुष जातीयता और इतना महान् शौर्य, आश्चर्य है कि कलिकाल में भारत को प्राप्त हुआ।

जीवन में महाराणा को सुख कभी प्राप्त नहीं हुआ। थे तो मेवाड़ के सम्राट्, परन्तु वे उस फले-फूले मेवाड़ के सम्राट् न थे। अकबर के आक्रमण से नष्ट-भ्रष्ट हुए राज्य का संचालन-भार उन पर आया था। उन दिनों न सेना थी, न अर्थ। लोगों का उत्साह भी वार-वार हार खाकर नष्ट हो रहा था। उस श्मशानभूमि के वे सम्राट् हुए थे और उसके उद्धार के लिए ही कठोर व्रत धारण किया था। इतिहासकारों का कथन है कि पराधीनता भारत के भाल में लिखी हुई थी, नहीं तो महाराणा प्रताप जैसे महावीर के लिए यह समय न था जब वे राजा हुए। यदि वे अपने पिता के समय, उससे और कुछ पहले मेवाड़ के राजसिंहासन पर बैठे होते, तो दिल्ली के भाग्य-परिवर्तन के समय कुछ और ही दृश्य दीख पड़ता। पराजित हुमायूँ अपने पुत्र अकबर को लेकर दुबारा दिल्ली का सिंहासन अधिकार न

कर सकते। परन्तु ईश्वर की इच्छा से उस समय दिल्ली का पठान-बादशाह भी दुर्बल, इन्द्रियपरायण और डरपोक था, इधर मेवाड़ में भी एक वैसी ही मूर्ति बैठी हुई ऐशो-आराम से समय पार करना चाहती थी। महाराणा प्रताप तब आये जब प्रबल अकबर का सिक्का भारतवर्ष में जम गया, सब राजा-महाराजा उसका लोहा मान चुके। परन्तु कल्पना और ही चाहती है और ईश्वर कुछ और ही कर डालता है! महाराणा के लिए भी उसने यही किया।

अस्तु, हल्दीघाटी के महासमर में सर्वस्व से रहित होकर भी महाराणा हिम्मत नहीं हारे। उनका लक्ष्य वही रहा जो पहले था। मानसिंह और अकबर के प्रति उनका भाव वैसा ही बना रहा। वे फिर उद्योग करने लगे। वीर राजपूतों को देश की रक्षा के लिए जगाना, युद्ध के लिए मैदान में शत्रु के सामने डटकर अस्त्र चलाने की शिक्षा देना। विजय से राज्य-सुख और मृत्यु से स्वर्ग-लाभ करना, इस तरह की और-और आकर्षक शिक्षाएँ देते हुए सैन्य-संग्रह कर युद्ध की फिर से तैयारी करने लगे।

इधर कुछ दिनों के लिए युद्ध बन्द भी हो गया। हल्दीघाटी महासमर बारिश के दिनों में ही हुआ था। इससे कुछ दिनों में मुगलों को वहाँ बड़ा कष्ट होने लगा। अरावली की पहाड़ी नदियों में पूर्ण यौवन आ गया। चारों ओर से गिरती हुई जलधारा मुगलों के लिए असह्य हो गयी। रास्ता बन्द होने के कारण रसद के पहुँचने में कठिनता होने लगी, जिससे कुछ काल के लिए युद्ध बन्द कर देना ही मानसिंह आदि ने उचित समझा। धीरे-धीरे वहाँ से मुगलों का अड्डा उखड़ने लगा। कुछ दिनों में अरावली प्रान्त बिल्कुल शान्तिमय, निर्जन और पूर्ववत् श्यामल, सजल और सुखशान्तिकर हो गया। महाराणा के चित्त को इससे कुछ स्थिरता मिली। कुछ दिनों तक विचार करके एक निश्चय पर आने का उन्हें समय मिला।

परन्तु किसी तरह प्रताप के मन के अन्दर सन्धि की बात न धँसी; मुगलों से सन्धि के नाममात्र से उनका सर्वांग संकुचित हो जाता था। शत्रु के सामने सिर झुकाकर खड़े होने की कल्पनामात्र से उनके सर्वांग से ज्वालाएँ निकलने लगतीं, उनकी मूर्ति भयंकर हो जाती थी। आखिर उन्होंने यही निश्चय किया कि मृत्यु के प्रथम मुहूर्त तक शत्रु से लोहा बजाना क्षत्रिय के लिए यही उचित धर्म है। बप्पारावल के वंश को कलंक लगाना किसी तरह भी उचित नहीं। जिस मानसिंह से इतनी कड़ी-कड़ी बातें हो चुकी हैं, उसी के द्वारा सन्धि का प्रस्ताव करना, मृत्यु से भी अधिक कष्टप्रद है। ऐसा तो हरगिज न होगा। यह निश्चय है कि अब लड़ने की शक्ति हममें न रही, हमारी शिक्षित सेना विनष्ट हो चुकी है और नौसिखियों से मुसलमानों की शिक्षित सेना का सामना करना हास्यास्पद होगा, तथापि सन्धि के प्रस्ताव से युद्ध करके मरना ही धर्मानुकूल होगा। इस समय धर्म और देश की पुकार पर अपनी इच्छा से जो राजपूत आयेंगे, उन्हें ही लेकर युद्ध करना होगा। आर्थिक सहायता से सेना का संग्रह करना बिल्कुल असम्भव है। राजकोष सम्पूर्णतः

धनशून्य हो रहा है।

प्रताप इन्हीं विचारों में मग्न थे कि वसन्त का समय भी देखते-देखते आ पहुँचा। अब तक कुछ ही राजपूत देश की रक्षा के लिए एकत्र हुए थे। इधर दल के दल मुगल चींटियों की तरह अरावली को चारों ओर से घेरने लगे। उन मुगलों से एकत्र किये हुए नौसिखिये राजपूतों को लेकर, माघ महीने में, प्रतापसिंह ने युद्ध किया, पर यह युद्ध नहीं, एक निर्बल के साहस का उदाहरण मात्र था। कहाँ मुगलों की अपरिमित शक्ति, लाखों सैनिक; कहाँ इने-गिने मुट्ठी-भर राजपूत। इस तरह के युद्ध का परिणाम पराजय के सिवा और होना ही क्या था। राजपूत हारे। इस वार पराजय के पश्चात प्रताप ने कमलमीर के किले में आश्रय लिया। परन्तु मुगल तो उनके पीछे-पीछे लगे ही रहते थे। उन्हें एक क्षण के लिए भी विश्राम दुर्लभ था। मुगलों को पता लगा तो सेनापति शहबाज खाँ ने किला घिरवा लिया। किसी तरह वैशाख के प्रथम सप्ताह तक प्रताप किले की रक्षा करते रहे। परन्तु ग्रीष्म-ऋतु में किले की रक्षा करना असम्भव हो गया। किले में पानी का अभाव पड़ा। कुएँ और जलाशय जलहीन हो गये, जिससे सेना को कष्ट पहुँचने लगा। इसी समय एक विपत्ति और आयी। कमलमीर में एक कुआँ ऐसा था, जिसमें कभी जल का अभाव न हुआ था। आबू के राजा ने सोचा, यदि हम मुगलों को इस कुएँ का पता बतला देंगे, तो बादशाह की तरफ से हमारी इज्जत बढ़ जायगी। इस कमजोरी में पड़कर उसने मुगलों को उस कुएँ का गुप्त हाल बतला दिया। इस कुएँ का नाम 'नगुण' था। मुगलों ने उस कुएँ के पानी में जहर मिला दिया। इससे पानी का बेतरह अभाव हुआ। सेना में त्राहि-त्राहि मच गयी। आखिर पानी के अभाव से प्रताप को कमलमीर भी छोड़ना पड़ा। अपनी अधिकांश सेना के साथ वे एक दूसरी जगह चल दिये। इसी समय मुगलों के कठोर-से-कठोर बारम्बार किले पर आक्रमण होने लगे। रक्षक ने जब देखा कि आत्मरक्षा का अब कोई दूसरा उपाय नहीं है, तब उसने किले का फाटक खोल दिया। युद्ध में उसने वीरगति प्राप्त की।

यहाँ से चलकर महाराणा, मेवाड़ के दक्षिण-पश्चिम प्रान्त की 'चप्पन' नामक पहाड़ी पर बसे हुए चौंध-ग्राम में आये। यहाँ भीलों की ही आबादी है। पहाड़ी की चोटी दुरारोह होने के कारण प्रताप ने इस स्थान को अपने परिवारवालों की रक्षा के लिए निरापद समझा। कमलमीर से चलकर यहीं प्रताप ने आश्रय ग्रहण किया।

परन्तु दुर्भाग्यवश यहाँ भी मुगलों से उनका पिण्ड नहीं छूटा। उनके हजारों-जासूस प्रताप का पता लगाने के लिए लगे रहते थे। जब मुगलों को मालूम हो गया कि इस समय यहाँ प्रतापसिंह डेरा डाले हुए हैं, तब उन्होंने उस स्थान को भी आकर घेर लिया।

यहाँ मुगलों के साथ प्रताप का घनघोर युद्ध हुआ। यहाँ भी राजपूतों की लड़ाई बड़ी भयानक, आश्चर्यचकित कर देनेवाली हुई। परन्तु फल जो हो रहा था, वही हुआ। वास्तव में प्रताप कहीं भी जमकर युद्ध करने का समय न पाते थे। एक स्थान से दूसरी जगह गये नहीं कि पीछे से शत्रु की सेना भी आ पहुँची और

चारों ओर से घेर लिया। इस हालत में जमकर लोहा बजाना असम्भव हो जाता है। दूसरे मुट्ठी-भर राजपूतों को लेकर मुगलों की लक्ष-लक्ष सेना के साथ लड़ना; क्रमश: बलहीन हो जाने के सिवा कोई और विशेषता इस तरह के युद्ध में नहीं हुआ करती। वही हुआ भी।

प्रताप की अल्पसंख्यक सेना ने अद्‌भुत वीरता प्रकट की। मुगलों को नाकों चने चबवाये। हरएक ने निश्चय कर लिया था कि मरने से पहले पाँच दुश्मनों की जान लेकर मरेंगे। इस युद्ध में प्रताप के दो परम मित्र, देश के यथार्थ सेवक, सोनीगढ़ के राजा भानुसिंह और चारणदेव की मृत्यु से लोगों को बड़ा दुख हुआ। यह अभाव पूरा होनेवाला न था। चारणदेव की ज्वालामय वाणी ने देश का सविशेष उपकार किया था। वे कवि थे और सुललित गायक। उन्होंने राजपूतों में जागृति फैलाने का प्रशंसनीय कार्य किया था। इनके शब्द-शब्द से आग की चिनगारियाँ निकलती थीं। कायरों में भी प्राण आ जाते थे और वे भी देश के लिए मरने-मारने को तुल जाते थे। इन दो महोपकारी बन्धुओं से छूटकर प्रताप को बड़ा ही दु:ख हुआ।

इसके बाद मुगलों के एक दूसरे सेनापति फरीद खाँ को जब मालूम हुआ कि प्रताप चप्पन के जंगल में हैं, तब उसने दक्षिण की ओर से क्रमशः उस स्थान की ओर बढ़ना आरम्भ किया। प्रताप कठिन परिस्थिति में पड़ गये। चारों ओर से शत्रुओं ने उन्हें घेर लिया। रसद भी बन्द हो गयी। इस समय फिर इस व्यूह से निकलने और किसी दूसरी जगह आश्रय लेने का उन्होंने निश्चय किया।

प्रताप क्षत्रिय थे। कठिनता उनके जीवन का व्रत था। परन्तु उनकी पत्नी और उनके छोटे-छोटे बच्चे, राजपूताना की प्रचण्ड धूप में नंगे सिर, नंगे पैर, एक स्थान से दूसरे स्थान की यात्रा कर रहे हैं, कहीं क्षण-भर आराम करने का समय नहीं मिलता, पीछे शत्रुओं के जासूस लगे हुए—वर्षा की प्रबल जलधारा गिर रही है, पर किसी छत के नीचे उन्हें जगह नहीं मिल रही कि ठहरें। पेड़ की डालियों के नीचे राजकुमार और राजकुमारियाँ काँपती हुई, एक दृष्टि से अपने पिता और माता के मुख की ओर ताकतीं, दु:ख में सहानुभूतिसूचक एक शब्द भी न पाकर, चुपचाप भाई-बहनें एक दूसरे की ओर मूक, शून्य, निरर्थक दृष्टि से देखकर दु:ख सह लेतीं। शीत की तीव्रता से हड्डियाँ हिल रही हैं, पेट में अन्न नहीं पड़ा, आज दो दिन से घास की रोटियों से गुजर करनी पड़ती, राजराजेश्वर पिता और महारानी माता दृष्टि के सामने मौजूद हैं, वस्त्र नहीं माँगते, काँपते हुए जोर से मुट्ठियाँ बाँधकर रह जाते हैं, आग तापते हुए किनारे पड़कर सो जाते हैं और ये हैं गजनी पर विजय करनेवाले बप्पारावल के वंशधर, मेवाड़ के भावी सम्राट्!

इस समय प्रताप के सहायक नहीं के बराबर रह गये थे। युद्ध करते हुए क्रमश: उनके हाथ में जितने किले थे, एक-एक करके सब निकल गये थे। केवल धर्मावती और गोगुण्डा, यही दो स्थल उनके अधिकार में रहे। स्थान का न रहना कोई बड़ी

बात नहीं। स्थान न रहने से कर भी लिये जा सकते हैं। चाहिएँ सिपाही। लड़ने की शक्ति और भोजन के लिए अन्न। यह प्रताप के पास न था। इसलिए वे दोनों स्थान भी रहकर, न रहने के बराबर थे। प्रताप को उनसे आशा छूट गयी थी। वे मानते थे कि सिपाहियों की कमी के कारण इन स्थानों की रक्षा न हो सकेगी। वैसा ही हुआ। एक दिन मानसिंह एक अच्छी फौज के साथ पहुँचे और इन स्थानों पर अधिकार कर लिया। यह मानसिंह ने प्रताप के साथ युद्ध का व्यंग्य किया था। प्रताप की तुच्छ शक्ति पर हँसे भी। धीर प्रताप इस अपमान को पी गये। अपने देश और धर्म का स्मरण कर उस महावीर ने उन स्थानों को शत्रु के अधिकार में सौंप दिया। आज प्रताप के पास एक टुकड़ा भूमि भी नहीं रह गयी। आज मेवाड़ के सम्राट् की वही दशा है जो रास्ते के एक भिक्षुक की।

इस समय प्रताप के पास न कोई सहायक है, न कोई स्थान, न राज्य, न नौकर। परन्तु अपनी दीनता से प्रताप को दु:ख न हुआ। वे महापुरुष थे। वे जानते थे कि ये सब प्रकृति की चालें हैं। जब तक उनकी तपस्या पूर्ण न होगी, तमाम विश्व-प्रकृति उनका विरोध करेगी, उन्हें नीचा दिखाने की कोशिश करेगी। यह सोचकर अपने तमाम कष्टों को वे चुपचाप सहन करते गये।

सब किलों को हारने के पश्चात् प्रताप ने अपने वीर सैनिकों से जैसा अच्छा और हृदयग्राही बर्ताव किया, वह वास्तव में बड़ा ही करुण और नितान्त सहृदयता से भरा हुआ है। प्रताप ने अपने रहे-सहे सैनिकों को विदा कर दिया। कहा, "भाइयो, अब तक जिस वीरता से तुम लोगों ने देश और धर्म की रक्षा का प्रयत्न किया है, उसकी शप्त मुखों से भी प्रशंसा नहीं हो सकती। परन्तु राजपूतों से विजयलक्ष्मी अप्रसन्न हैं। इसलिए उनकी हार-पर-हार होती गयी है। अब एक भी किला हम लोगों के हाथ में नहीं रहा। अब हमारी दशा एक भिक्षुक की है। इस अवस्था में जब न राज्य रहा न अर्थ, तुम्हारे प्रति हमारा यह आदेश है कि तुम लोग अब हमारा साथ छोड़कर अपने भाइयों और कुटुम्बियों से जा मिलो। हम तुम्हारी रक्षा करते, परन्तु हमारे पास अब अर्थ बिल्कुल ही नहीं रहा। रही हमारी बात, हम भी किसी तरह अपने दिन कहीं पर बितावेंगे। यदि मौका मिला और ईश्वर की हमारे ऊपर कृपादृष्टि हुई तो हम फिर तुम्हारी याद करेंगे।"

महाराणा के शब्द सिपाहियों के हृदय में तीर की तरह चुभ गये। बहुत से तो महाराणा के करुणालुप्त मर्मस्पर्शी शब्दों को सुनकर रो दिये। उन्होंने कहा, "हमारे पिता, हमारे रक्षक, हमारे इष्ट मित्र, हमारे बन्धु-बान्धव आप ही हैं। हम आपको इस अवस्था में छोड़कर घर की ओर एक पैर भी न बढ़ावेंगे। आपके साथ हमें परमसुख है। आपके लिए लड़कर मर जाना ही हमारा धर्म है। अब तक जिनकी कृपा से हमारे बाल-बच्चों को भोजन-वस्त्र मिलता रहा है, अब हम अपने उन महाराणा को इस दशा में छोड़कर एक पैर भी दूसरी ओर न उठावेंगे। आप हमारे ऊपर कृपा कीजिए। हमें अपने साथ ही रहने दीजिए।"

महाराणा की मूर्ति में अद्भुत गम्भीरता आ गयी। उन्होंने शान्त दृष्टि से

सिपाहियों को देखा, कहा, "मैं तुम्हारा महाराणा हूँ। मैं तुम्हें आज्ञा देता हूँ, जाओ! जब काम पड़ेगा, तुम बुला लिये जाओगे।" प्रताप की इस आज्ञा पर कुछ बोलने का किसी को साहस नहीं हुआ। सबने प्रणाम किया। प्रताप हाथ उठा सबकी सलामी ले चल दिये। जब तक वे दृष्टिपथ पर रहे, तब तक सिपाहियों की दृष्टि अपने सरदार पर लगी रही। अन्त में सबने अपने-अपने घर का रास्ता लिया।

अब प्रताप सब तरह से असहाय हो गये। परन्तु फिर भी बादशाह की अधीनता उन्होंने स्वीकार न की। अकबर इसे अपना विशेष अपमान समझने लगे और इस हालत में भी उन्हें कैद कर लाने की आज्ञा उन्होंने जारी रक्खी। मानसिंह ने भी यही सलाह दी और उदयपुर में मोहब्बत खाँ को अधिकार देकर टिके रहने का आदेश दिया। मानसिंह इस समय प्रताप की दीन-दशा को देखकर विशेष प्रसन्न रहते थे। उनकी इच्छा थी कि प्रताप को कैद करके सम्राट् के पैरों पर डाला जाय और वे प्रताप के गर्व की उचित दवा करें। हाय देश! इस तरह की वृत्तियों का जोर दासता के आदिकाल से लेकर, आज तक तुम्हारे हृदय को विचलित किये हुए है!

जब सर्वस्व खोकर भी प्रताप ने अकबर को माथा न झुकाया, इधर-उधर जंगलों में आश्रय लेकर रहने लगे, तब इससे अकबर और मानसिंह को विशेष अपमान का अनुभव होने लगा। अकबर ने सोचा, 'जयपुर, जोधपुर, अम्बर, बिकानेर जैसे बड़े-बड़े महाराजाओं ने तो मेरी सत्ता स्वीकार कर ली। परन्तु प्रताप ने मेरी इच्छा पूरी न होने दी, मेरे चक्रवर्ती होने में ज़रा-सी त्रुटि रह गयी, परन्तु मैं भी प्रताप को ऐसे न छोड़ूँगा, उसे नीचा दिखाकर ही दम लूंगा।' अकबर ने घोषणा करा दी कि यदि कोई प्रताप को दिल्ली पकड़कर ला सकेगा, तो हम उसे इनाम में आधी जागीर देंगे और उसकी अच्छी इज्जत की जायगी। बादशाह की घोषणा के अनुसार हजारों जासूस मेवाड़ के चारों ओर फिरने लगे और एक अच्छी सेना भी इधर-उधर प्रताप की खोज में रहने लगी। सबको यह तो मालूम हो चुका था कि अब प्रताप के पास सेना या सहायक नहीं है, अब उनको पकड़ लेना आसान है, इससे निःसंकोच भाव से मुसलमान अरावली में चक्कर काटने लगे।

चौंधा पर अधिकार कर लेने से सेनापति फरीद खाँ को इससे एक प्रकार का गर्व था। परन्तु वह भीलों की बस्ती थी। भील महाराणा को बहुत मानते थे। जब अपने सब किले महाराणा हार गये, तब भीलों के साथ रहना ही उन्होंने अपने बच्चों के लिए निरापद समझा। अस्तु, कुछ भीलों को लेकर प्रताप ने चौंधा पर फिर आक्रमण किया। फरीद खाँ भीलों की कठोर मार न सह सके। शीघ्र ही अपने सहायकों के साथ चौंधा छोड़कर भाग गये। अब बारिश के कारण आक्रमण का भय भी न था। इससे महाराणा को कुछ दिनों के लिए शान्ति से रहने का सुयोग मिल गया।—एक बार महाराणा प्रताप के साथियों ने शेरपुर नामक स्थान पर छापा

मारा। यहाँ बादशाह की सेना के अफसर मिरजा खाँ, अब्दुल रहीम खाँ, पीछे से खानख़ाना, रहते थे। बादशाही फौज हार गयी। अमरसिंह ने मिरजा खाँ की बेगम को कैद कर लिया, और अपने पिता के पास ले गये, उस औरत को महाराणा ने बड़ी इज्जत के साथ उसके पति के पास भिजवा दिया। मिरजा खाँ कवि थे। महाराणा के इस आकर्षक बर्ताव पर वे मुग्ध हो गये और महाराणा के पास एक कविता लिखकर भेजी। —"संसार नश्वर है। राज्य, धन, कुटुम्ब और परिवार यह सब नष्ट हो जाता है। कुछ ही दिनों के लिए है। अन्त में सब इन्द्रजाल की तरह अन्तर्धान हो जाता है। अपना कोई अस्तित्व यहाँ नहीं छोड़ जाता, जो कुछ रहता है, वह है महान् पुरुषों का गौरव। प्रताप ने राज्य तथा धन सबकुछ परित्याग कर दिया, परन्तु अपना मस्तक नहीं झुकाया। अपनी जाति के सम्मान की केवल उन्होंने ही रक्षा की है।"

चतुर्दश परिच्छेद

अन्तिम परीक्षा

अब महाराणा की विपत्तियों का और विस्तार हो चला। सैकड़ों जासूस उनके पीछे लगे रहते, क्षण-भर का विश्राम भी उन्हें हराम हो गया। आज इस जंगल में हैं, तो कल उस जंगल में। आज इस पहाड़ की चोटी पर हैं, तो कल उस नदी की खोह में। इस तरह भागते हुए अपने परिवारवालों की प्राणरक्षा करने लगे। कभी एकाएक सैकड़ों मुगल आकर घेर लेते। महाराणा इधर अकेले, उधर सैकड़ों हथियारबन्द सिपाही। लड़ते-काटते, रास्ता करते हुए निकलते। इसी तरह दिन-पर-दिन और महीने-पर-महीना बीतने लगा। पर दुःख का अन्त न हुआ। बल्कि साथ-साथ कष्ट भी बढ़ चले। भोजन-पान और शयन का कष्ट तो लगा ही रहता था, परन्तु इतने पर भी महाराणा विचलित नहीं हुए। अकबर से सन्धि करने का नाम भी उन्होंने न लिया।

अकबर के पास भी महाराणा की दैनिक खबर पहुँचती थी। महाराणा की सहिष्णुता से उनका हृदय द्रवीभूत हो गया। उन्होंने अपने एक दूत के द्वारा महाराणा के पास संवाद भेजा कि यदि एक बार मुख से भी महाराणा पराजय स्वीकार कर लें, तो उनकी सम्पूर्ण जागीर फेर दी जाय और फिर बादशाही सेना के त्रास से वे सदा के लिए निश्चिन्त रहेंगे। महाराणा के पास अकबर का यह संवाद आया तो घृणा से उन्होंने मुख फेर लिया। पराजय स्वीकार करने से मृत्यु को ही उन्होंने अपने लिए श्रेयस्कर समझा। हृदय ने कहा, क्या यवनों के भय से हम अकबर की

सत्ता स्वीकार कर लें ? पराजय के बिना हुए ही पराजय के कलंक से अपनी आत्मा को कलुषित कर डालें ? यह तो कदापि न होगा।

महाराणा, अकबर की सलाह से सहमत न हो सके। दूत लौट गया। अकबर और उनके दरबारियों पर महाराणा के इस पवित्र चरित्र का बड़ा ही जबरदस्त प्रभाव पड़ा। वे लोग मन-ही-मन महापुरुष के प्रति भक्ति और श्रद्धा का भाव रखने लगे।

इधर अब साथियों में भील ही प्रताप के साथी और इष्ट मित्र थे। उन्हीं के साथ रहना, उन्हीं के साथ बोलना और उन्हीं के साथ सलाह करना। भीलों की महाराणा पर बड़ी भक्ति थी। वे उन्हें देवता से भी बढ़कर मानते थे। महाराज कुमारियाँ भीलों की लड़कियों से खेलतीं, उन्हीं के साथ रहतीं। उनकी भाषा बहुत अच्छी तरह सीख गयी थीं।

एक दिन प्रताप इस भयानक जंगल में बैठे हुए कुछ सोच रहे थे कि एकाएक कुछ भील दौड़े हुए उनके पास आये और काँपते हुए स्वर से कहा, "राणा, बहुत जल्द यह स्थान छोड़ दीजिए, मुगलों की सेना आ गयी। शीघ्रता न करोगे तो प्राणों की रक्षा न हो सकेगी।"

तब तक चारों ओर से 'दीन-दीन' की भयंकर आवाज आने लगी। प्रताप उठे। भील से कहा, "हमारे बच्चों को तुम लोग किसी तरह दूसरी जगह ले चलो। हम इन सिपाहियों से लड़कर अपने निकलने का रास्ता कर लेंगे।"

भीलों ने महाराणा प्रताप के परिवारवालों को टोकरियों में भर लिया और बहुत ही शीघ्र एक दल अपने साथ लेकर दूसरे जंगल की तरफ चल दिये। इधर महाराणा से न रहा गया। अत्याचार की हद हो रही थी। वे छेड़े हुए शेर की तरह मुगलों पर टूटे। उनका प्रचण्ड आक्रमण मुगल सैनिकों से न सहा गया। देखते-ही-देखते सैकड़ों सिपाही जमीन चूमने लगे। शेष जान लेकर भागे। रास्ता साफ हो गया। एक भील ने आकर कहा, "महाराणा, चिन्ता न करना, तुम्हारे बाल-बच्चे आराम से हैं, हम लोगों ने उन्हें दूसरी जगह जबरे के जंगल में पहुँचा दिया है।" महाराणा निश्चिन्त हुए।

उसी भील के साथ जबरे के जंगल में पहुँचकर उन्होंने देखा—उनके बच्चे टोकरों में पेड़ से लटक रहे थे! वह स्थान बड़ा ही बीहड़ और भयंकर था। जंगल घना था। वहाँ बाघ, रीछ और शेर रहते थे। मनुष्य के लिए वह स्थान अगम था। प्राणों की रक्षा के लिए प्रताप को ऐसे भयानक स्थान में चलकर रहना पड़ा, जहाँ प्रताप के बच्चे टोकरियों में पेड़ से लटकाये हुए थे, उसके चारों ओर एक बड़ा-सा जाल भीलों ने तान रखा था, जिससे बच्चों पर जंगली जानवर आक्रमण न कर सके। रक्षा की यह सब रचना देखकर प्रताप की आँखों में आँसू आ गये। वे उस राज्य के राजपरिवारवाले थे, जिनका एक इशारा मात्र पाकर राजपूतों की हजारों तलवारें एक साथ म्यान से बाहर निकल पड़ती थीं, देश के मध्ययुग के इतिहास में जो घराना भारत का सिरमौर रहा है।

एक भील ने प्रताप को समझाया। रानी पद्मावती ने उन्हें उनके व्रत का स्मरण करा दिया। अनेक प्रकार से वे स्वामी को शान्त करने लगीं। जबरे के जंगल में बहुत दिनों तक प्रताप रहे। यहाँ मुगलों के उपद्रव का विशेष भय न था। यह स्थान बड़ा ही दुर्गम और चारों ओर से कँटीले पेड़ों और घने जंगलों से घिरा हुआ था।

मुगलों का भय न रहने पर भी यहाँ एक और बड़ी कठोर विपत्ति सामने आयी। खाने-पीने का बड़ा कष्ट होने लगा। दूसरी जगह से कुछ लाने का उपाय न था। जिस दिन कोई शिकार खाने लायक मिल जाता था, उस दिन तो किसी तरह सब लोग भर पेट भोजन कर लेते थे, परन्तु शिकार के न मिलने पर अक्सर घास की रोटियों से समय पार करना पड़ता था! बच्चों को क्रमशः बड़ी तकलीफ होने लगी। भूख और प्यास के मारे उनका गुलाब-सा मुखड़ा सदा ही मुरझाया रहता। वे एक दृष्टि से माता और पिता को ताकते। कभी मारे भूख के गले से चिपटकर रोने लगते। इस एक दिन नहीं, कितने ही दिन तक बच्चों ने भूख की विकलता जाहिर की। परन्तु आश्वासन के सिवा कभी उन्हें भरपेट भोजन पिता की ओर से न मिला, जिससे वे और दुखी रहते। घास की रोटियाँ खाकर वे कोमल बच्चे, दुबले से दुबले, अन्त में हड्डियाँ शेष मात्र रह गये। महारानी खून के आँसू पीकर रह जातीं। प्रताप बच्चों को देखकर मुँह ताककर फेर लेते और एक लम्बी साँस लेकर अपने देश और समय का स्मरण कर रह जाते!

ज्यों-ज्यों प्रताप के परिवारवालों को कष्ट होने लगा, त्यों-त्यों उनके मन में एक प्रकार का परिवर्तन आरम्भ हो गया। यह परिवर्तन प्रताप की दुर्बलता का द्योतक होने पर भी सत्य की दृष्टि से मानव चरित्र-चित्रण के विचार से जितना आवश्यक था, उतना ही वरेण्य भी। यदि दुर्बलता का समावेश उनके जीवन में न दिखलाया जाता, तो उनका जीवन उच्चकोटि के समालोचकों की दृष्टि में वास्तव में एक कहानी, एक प्रकार की कल्पना का रूप ही लिये रहता। जीवन में जय और पराजय दोनों का रहना आवश्यक है। पराजय के भीतर से किस प्रकार से विजय-लक्ष्मी हस्तगत होती है, उसके सूक्ष्म-विसूक्ष्म भाव और अनुभवों पर विचार करके ही समालोचकों को व्यथा से सुख मिलता है और जीवन के इतिहास को एक प्रकार की पूर्णता प्राप्त होती है। जहाँ सीता के चरित्र का वह अंश है, जिस जगह लक्ष्मण के प्रति उन्होंने कटु शब्दों का प्रयोग किया है, वहाँ वह उतनी ही कालिमा सत्य की नींव पर रख सकने में समर्थ हुई है। यह सम्भव है कि जीवन में शत-शत विजय हों, परन्तु चाहे भ्रम के कारण ही हो, एक बार पराजय होना अत्यन्त आवश्यक है। जीवन के लिए आलोक और अन्धकार दोनों आवश्यक हैं।

केवल आलोक से अथवा केवल अन्धकार से कभी संसार की व्याख्या नहीं हो सकती। प्रवाह के लिए उत्थान और पतन दोनों चाहिएँ। तरंग की व्याख्या केवल उत्थान से नहीं होती, साथ ही पतन का रहना भी जरूरी है, चाहे वह कैसी ही बड़ी तरंग क्यों न हो। प्रताप के सम्बन्ध में भी इस तरह के एक पतन का आना

आवश्यक था। विरोधी शक्ति का उन पर विजय प्राप्त करना जरूरी था। अब तक प्रताप हारते ही गये थे, किसी लड़ाई में कभी जीते नहीं, परन्तु पराजय में भी उन्हें विजय का गौरव मिलता रहा है। न उनके शत्रुओं के दिल में यह बात धँसी कि प्रताप हारे, न प्रताप ने ही स्वीकार किया कि हम पराजित हुए। मन की इस अपराजित शक्ति के कारण अब तक हारकर भी प्रताप नहीं हारे, उनके जीवन में किसी प्रकार का दाग नहीं लगा।

परन्तु इस वार वे वास्तव में पराजित हुए। इस क्षणिक पराजय को प्रताप ने भी समझा कि पराजय है और उनके परम शत्रु अकबर ने भी समझा कि प्रताप पराजित हुए। हम लिख चुके हैं कि यह क्षणिक कल्पित पराजय थी। यह केवल प्रताप के जीवन की पूर्णता के लिए हुई, और खासकर इसलिए कि वे परिवार-वाले थे, त्यागी नहीं। उन्हें दूसरों के दुःख और सुख के अनुकूल रहना पड़ता था, वे दूसरों से सम्बन्ध छिन्न न कर सकते थे।

प्रताप की यह दुर्बलता उनकी एक सांसारिक घटना के भीतर से पैदा हुई। उससे प्रताप के स्नेह की भी थाह मिलती है। वे आखिर मनुष्य ही थे, काठ के पुतले नहीं। उनके अन्दर वही सहनशीलता थी, जो एक उच्च-से-उच्च पुरुष में हुआ करती है और साथ ही वह स्नेहजनित दुर्बलता भी थी, जो एक पिता के हृदय में अपने प्यारे बच्चों के सुख के लिए रहा करती है।

एक रोज उसी जंगल में एक जगह महारानी भोजन पका रही थीं। कुछ सामग्री उन्हें मिल गयी। बाहर से भीलों ने राजपरिवार के खाने के लिए कुछ अन्न ला दिया। उस चूल्हे के आसपास उनकी छोटी लड़कियाँ ललचीली निगाह से उस अन्न की ओर देख रही थीं। पास ही महाराणा भी घास के बिछौने पर लेटे हुए यह दृश्य देखकर विचार कर रहे थे। राजकुमारियों के कपड़ों में सैकड़ों ग्रन्थियाँ लगी हुई थीं। महारानी भी मैले, फटे और पुराने जीर्णवस्त्र पहने हुई थीं। उधर महाराणा की दशा भी यही थी। बाल बढ़ रहे थे, नाखून वर्षों से न कटे थे। कपड़े पुराने होकर फट चुके थे किसी तरह उनसे लज्जा की रक्षा की गयी थी। उनको और उनके परिवारवालों को देखकर क्या कोई कहता कि ये मेवाड़ के महाराणा, बप्पारावल के वंश के सूर्य, महाराणा प्रतापसिंह हैं ? उनकी पारिपार्श्विक कुल बातों से उनके अखण्ड व्रत के निर्वाह का पता चलता था। इसी समय, भोजन पकने से पहले ही बच्चियों ने माँगना शुरू कर दिया। जब एक रोटी निकली तब उसे हर एक अपने लिए पहले माँगने लगीं। एक रोटी के लिए यह तकरार हो रही थी। मेवाड़ की महाराज-कुमारियों में एक रोटी के लिए छीना-झपटी का तुमुल संग्राम जारी हो गया। महाराणा शान्त भाव से यह लड़ाई देख रहे थे। उन्होंने देखा, सबसे छिपाकर महारानी ने चुपचाप आँसू पोंछ लिये हैं।

वीर-शिरोमणि महाराणा का हृदय दहल उठा। एक प्रचण्ड तूफान आया और पहले कुल की सृष्टि को नष्ट-भ्रष्ट करके, डुबाकर अतल में विलीन करके चला गया। एकाएक हृदय ने कहा, यह क्या ? क्या यह महापाप नहीं ? पिता के

रहते हुए बच्चे भूखों मरें, पत्नी को एक वस्त्र भी पहनने को न मिले, क्या धर्म का स्वरूप ऐसा ही हुआ करता है? मेवाड़ के उद्धार के लिए जो व्रत था, वह महाराणा प्रताप के लिए था, मुझ भिक्षुक के लिए नहीं। प्रताप के हृदय में विप्लव का तूफान उठा हुआ था। पहले के विश्वास को एक ही झकोरे ने हिला दिया और इस तरह प्रकृति की शक्ति का परिचय देकर, प्रताप को शिथिल करके चला गया।

एक दूसरे दिन एक और घटना हुई, जिससे इस विरोधी भाव को सजग होने की सहायता मिली। बात यह हुई कि महारानी उस दिन भोजन पका रही थीं। अन्न न मिला था। 'पल' नामक घास की रोटियाँ बन रही थीं। लड़के चारों ओर से चौका घेरकर बैठे हुए थे। महारानी चुपचाप लड़कों की आँख बचाकर आँसू पोंछती और रोटियाँ पकातीं। हरएक बच्चे के हिस्से में एक ही रोटी आयी थी। पक जाने पर बच्चे अपना-अपना हिस्सा लेकर खाने लगे। एक छोटी-सी लड़की थी। उसने आधी रोटी खायी और आधी अपनी गोद में डाल रक्खी। यह रोटी उसकी शाम की खूराक थी। प्रताप लेटे हुए अपनी प्यारी पुत्री को एक दृष्टि से देख रहे थे। हृदय में प्रलय का तूफान उठ रहा था, अब तक जिस वीर के धैर्य को अकबर के अनगिनत निष्ठुर प्रहार भी नहीं विचलित कर सके थे, आज वह एक छोटे से विवर्तन में पड़ कुछ-का-कुछ हो गया।

जिस समय जाँघ पर बची हुई रोटी का टुकड़ा रखे हुए प्रताप की लड़की बाहर की बातों में बहल रही थी, उस समय मौका पा कहीं से एक जंगली नेवला झपटा, उस लड़की की जाँघ से लड़की की रोटी का टुकड़ा फौरन लेकर चलता बना। लड़की चौंककर रोने लगी। प्रताप ने देखकर दृष्टि फेर ली। पद्मावती ने भी भागते हुए नेवले को देखा। मुँह फेरकर आँसू पोंछ लिये।

प्रताप पड़े हुए चुपचाप यह दृश्य देख रहे थे। रानी के आँसू भी उनके परीक्षक नेत्रों से छिप नहीं सके। थोड़ी देर बाद लड़की रोकर आप-ही-आप शान्त हो गयी। जिस समय यह क्षण-भर के लिए क्षुब्ध हुआ वायुमण्डल अपनी पूर्व प्रकृति को प्राप्त हुआ, उस समय प्रताप के हृदय में महाप्रलय की ज्वाला धधक रही थी। कुछ समय पहले ही से उनका चित्त परिस्थिति से उठकर एक दूसरे चक्र के अन्दर चक्कर काट रहा था, अब उसे उस चक्र में स्वच्छन्द भाव से अपनी रक्षा का चक्र-व्यूह निर्माण करने की स्वतन्त्रता मिली, साथ ही सुदृढ़ प्रमाण भी मिला। बस एक क्षण में प्रताप ने उस दूसरी परिस्थिति की रचना का चक्र निश्चय कर लिया। अकबर ने पहले प्रताप के कष्टों का हाल सुनकर सन्धि करने के लिए कई बार दूत भेजकर उन्हें समझाया था। परन्तु उस समय अकबर के प्रस्ताव के अनुसार महाराणा को मंजूर नहीं हुआ। अकबर ने यहाँ तक कहलाया था कि केवल पराजय स्वीकार कर लेने से ही हम तुम्हारा सर्वस्व तुम्हें वापस कर देंगे। परन्तु महाराणा को इतनी-सी बात भी उनके शौर्य के मुकाबले में अत्यन्त अपमानजनक मालूम हुई थी, उन्होंने सन्धि के प्रस्ताव को अस्वीकृत कर दिया था। परन्तु आज

उनके मन की वह अभेद्य दीवार करुणा की एक ही जलधारा में ढह-बहकर न जाने कहाँ चली गयी ।

पंचदश परिच्छेद

कविवर पृथ्वीराज

आज दरबार में अकबर की प्रसन्नता उनके सर्वांग से जाहिर हो रही है । प्रत्येक वाक्य को हृदय की सरसता दुर्लभ वस्तु की प्राप्ति से जैसे सजीव कर रही हो । चिरकाल के परिश्रम से अब तक जो वस्तु हाथ न आयी थी, वह अनायास ही प्राप्त हो गयी । प्रतापसिंह ने अकबर की अधीनता स्वीकार कर ली !

अकबर की प्रसन्नता, बारिश के बाद की गर्मी की तरह कभी-कभी सहनशीलता से रहित हो अक्षय सन्देह का रूप धारण कर लेती थी । प्रताप के स्वभाव को अकबर बहुत अच्छी तरह पहचानते थे । उनके हृदय की शंका प्रताप के सन्धि-पत्र के पश्चात् भी वैसी ही बनी रही । "क्या कभी समुद्र एक छोटे से गढ़े के अन्दर समा सकता है ?---सूर्य का उदय कभी पश्चिम की ओर नहीं होता ।"

इस तरह सन्देह के आने पर उनका हर्ष-आनन्द सब दूर हो जाता, वे अपने दरबारियों को बुलाकर एक-एक करके, सबसे पत्र की लिखावट देखकर पहचानने के लिए कहते । सम्राट् की आज्ञा के अनुसार सभासद वर्ग देखते बड़े गौर से थे, परन्तु कहते थे वे वैसा ही जैसा उस समय सम्राट् का रुख देखते थे । यदि सन्देहा-वशात् सम्राट् ने कहा, नहीं यह लिखावट प्रतापसिंह की नहीं हो सकती, तो साथ ही और लोगों ने भी कहा, नहीं, हरगिज नहीं हो सकती । यदि अकबर कहते कि, जान पड़ता है अब तकलीफ में पड़कर प्रतापसिंह ने सन्धि का प्रस्ताव मंजूर किया है, तो और लोग भी कहते, हाँ, जहाँपनाह ने बजा फरमाया, तकलीफ में पड़कर प्रतापसिंह ने सन्धि का प्रस्ताव मंजूर किया है ।

अकबर बड़े चतुर मनुष्य थे । परीक्षा के लिए, जान-बूझकर वे इस तरह की बातें करते थे । सभासदों की उक्ति से उन्हें मालूम हो गया कि ये लोग मेरी ही प्रशंसा कर रहे हैं, प्रतापसिंह की लिपि ये लोग नहीं पहचानते । कुछ देर बाद उन्होंने पूछा, "क्या यहाँ प्रतापसिंह की लिपि पहचाननेवाला कोई है ?"

एक राजपूत ने कहा, "हाँ, जहाँपनाह, है । पृथ्वीराज उनकी लिपि पहचानते होंगे, उनकी शादी महाराणा के घराने में ही हुई थी ।" अकबर को एक पुरानी बात याद आ गयी । कुछ देर तक वे सिर झुकाये हुए कुछ सोचते रहे, फिर नजर उठाकर सिपाही को हाथ के इशारे से पास बुलाकर कहा, "तुम बहुत जल्द पृथ्वी-राज को यहाँ बुला लाओ । शाही तरीके से सम्मान प्रदर्शन कर सिपाही चला

गया और पृथ्वीराज को शीघ्र दरबार में लाकर हाजिर किया।

पृथ्वीराज को सामने हाजिर देखकर चतुर अकबर ने अपने सन्दिग्ध आतुरता को छिपाते हुए पत्र पृथ्वीराज के हाथ में देकर कहा, "देखो, महाराणा को हमारी सुलह की शर्तें मंजूर हैं, उन्होंने अपने दस्तखत करके यह खत हमारे पास भेजा है।"

पृथ्वीराज के सामने यदि स्वच्छ आकाश में बिजली चमकने लगती तो भी इतना आश्चर्य न होता। अकबर के शब्दों पर उन्हें तिल-मात्र भी विश्वास नहीं हुआ। वे पत्र लेकर अन्वेषक की दृष्टि से हस्ताक्षरों को देखने लगे। अकबर उनके मुख की भाव-भंगी स्थिर दृष्टि से देखते रहे।

दस्तखत देखकर पृथ्वीराज का हृदय काँप उठा। चेहरा मुरझा गया। गला सूख गया। आवाज भर्राई हुई निकली, जब अकबर ने पूछा, "क्यों पृथ्वीराज, है न हमारी बात सच ?"

पृथ्वीराज, "जहाँपनाह की बात सदा ही सत्य होती है, परन्तु मुझे विश्वास नहीं हो रहा है। मुझे तो महाराणा का सुलह कर लेना उतना ही असम्भव मालूम दे रहा है, जितना हिमालय का हिल जाना, सागर का सूख जाना, जमीन का अपनी जगह से हट जाना, गुस्ताखी मुआफ हो जहाँपनाह, जान पड़ता है, यह खत किसी दुश्मन का लिखा हुआ है।" पृथ्वीराज ने नम्रतापूर्वक कहा।

अकबर, "क्या ये दस्तखत प्रतापसिंह के नहीं हैं ?" अकबर ने आश्चर्य की निगाह से देखकर पूछा।

पृथ्वीराज, "नहीं, जहाँपनाह, ये दस्तखत प्रतापसिंह के नही हैं, परन्तु प्रताप-सिंह के ऐसे जरूर मालूम दे रहे हैं।"

अकबर, "क्या तुम्हारे पास प्रतापसिंह का कोई खत मौजूद मिल सकता है ?" अकबर ने अत्यन्त आग्रह से पूछा।

पृथ्वीराज, "नहीं जहांपनाह, मेरे यहाँ महाराणा का लिखा हुआ कोई खत नहीं है। होता तो मैं जरूर शाहंशाह की नजर करता।"

अकबर, "तो तुम कहो कि जानते हुए भी यह खत प्रतापसिंह का है, तुम छिपा रहे हो।"

पृथ्वीराज, "नहीं जहाँपनाह, मैं अपनी अन्तरात्मा की बात कह रहा हूँ। मैं प्रतापसिंह के स्वभाव को बहुत अच्छी तरह पहचानता हूँ। वे विपत्ति में पड़कर घबरानेवाले मनुष्य नहीं हैं। दूसरे, धर्म को प्रतापसिंह कभी नहीं छोड़ेंगे, चाहे उनके प्राण शरीर से जुदा हो जायँ।"

अकबर, "ठीक है, इसी खयाल ने तो तुम्हें मार रखा है। इस तरह सच बात भी कभी छिप सकती है, अगर यह खत उनका लिखा हुआ हो भी, तो भी तुम कहते रहोगे कि यह उनका लिखा हुआ खत है ही नहीं।"

पृथ्वीराज, "नहीं जहाँपनाह, मैं एक मनुष्य की उचित समालोचना कर रहा हूँ, और अब तक उस मनुष्य के विचारों और उसके अलौकिक कार्यों का शाहंशाह

को भी यथेष्ट परिचय मिल चुका है। क्या बादशाह सलामत यह विश्वास करते हैं कि महाराणा प्रतापसिंह में इतनी मृदुलता आ जायेगी कि एकाएक वे सम्राट् से सन्धि का प्रस्ताव करने लगेंगे ?"

अकबर, "नहीं, यह विश्वास तो मुझे जरूर नहीं है, मगर आदमी के मन का कुछ ठिकाना भी नहीं रहता कि कब वह किस रंग पर चढ़ा रहता और कब कौन-सा रंग बदलता है। मुमकिन है कि अब उसे अपनी जर-जमीन का खयाल आया हो, और की तरह अब वह भी बादशाह से सुलह करके रहने में अपनी भलाई समझता हो।"

पृथ्वीराज, "कमजोर दिलवालों का यह हाल बादशाह सलामत ने फरमाया। एक वही नुस्खा हर मर्ज के लिए नहीं होता, यह शाहंशाह को मालूम है। प्रताप-सिंह मर्द आदमी है। वह किसी कमजोरी की वजह से सुलह न करेगा। प्रतापसिंह के आत्मत्याग का हाल जिन्हें मालूम है, वे एक स्वर से कहेंगे कि बादशाह यदि अपनी तमाम सल्तनत प्रतापसिंह को देकर कहें कि तुम बादशाह की अधीनता ज़रा देर के लिए स्वीकार कर लो, तो भी महाराणा बादशाह की अधीनता स्वीकार न करेंगे। बादशाह सलामत प्रतापसिंह के व्रत की कथा सुन चुके हैं। अपने देश को स्वाधीन करने के लिए इतनी कठोर प्रतिज्ञा की, भारत के एकछत्र सम्राट् की प्रतिकूलता करते हुए जिसे ज़रा भी खौफ न आया, बादशाह के साथ सम्बन्ध करनेवालों के हाथ का पानी पी लेना भी जो अधर्म में दाखिल समझता है, आज तक अत्याचार पर अत्याचार करके भी बादशाह जिसे दबा नहीं पाये, वह वीर एकाएक सन्धि का प्रस्ताव स्वीकार कर लेगा, यह कसे किसी समझनेवाले को विश्वास होगा ?"

अकबर, "हाँ, तुम्हारा कहना बहुत दुरुस्त है, मगर इस खत का पता भी तुम्हीं लगाओ कि प्रतापसिंह का लिखा हुआ है या जाली।"

पृथ्वीराज को अभीप्सित दुर्लभ वस्तु की प्राप्ति हो गयी। मन-ही-मन वे बहुत ही प्रसन्न हुए। बाहर वैसे ही गम्भीरता दिखाकर विनयपूर्वक कहा, "जहाँ-पनाह की आज्ञा के अनुसार मैं बहुत जल्द इसका पता लगाता हूँ।"

अकबर की प्रसन्नता एक प्रकार की चिन्ता में परिवर्तित हो गयी। उस रोज का दरबार समाप्त करके अकबर उठे, साथ ही उनके पारिषद् भी उठ खड़े हो गये। अकबर चिन्तित भाव से अपने रंगमहल की ओर गये और पृथ्वीराज हर्ष और विषाद की संयुक्त-मूर्ति बने हुए घर पहुँचकर एक अलग कमरे में बैठकर सोचने लगे।

'प्रकृति की परीक्षा में उत्तीर्ण होकर मनुष्य के हृदय के सिंहासन पर अधिकार प्राप्त करना कठिन है। महाराणा जैसे अद्वितीय वीर का मस्तक भी प्रकृति ने आखिर झुका ही दिया। उनका उद्देश्य अब उनके ध्यान से अवश्य जाता रहा होगा। हाय ! हिन्दुओं में अब तक यही एक नाम लेने के लिए बच रहे थे, सो इनका हृदय भी अब शत्रुओं की चोटों से जर्जर, शत्रु की भृकुटि से दबकर, अपना उद्देश्य भूल गया। ईश्वर की इच्छा बड़ी विचित्र है। वह चाहे जो करे। सच है कि

—राई को पर्वत और पर्वत को राई कर देता है। आज तक समस्त हिन्दुस्तान में जिनके नाम का आतंक छाया हुआ था, अकबर भी जिनकी कीर्ति से दबकर तारीफ करने लगते थे, वही महाराणा प्रतापसिंह आज अकबर से सन्धि का प्रस्ताव कर रहे हैं!'

दासी से पृथ्वीराज के एकाएक आकर एकान्त में बैठने का हाल सुनकर 'सुन्दरी' भी पति के पास पहुँची। परन्तु पति को चिन्ता में डूबे हुए देखकर उसे पूछने का साहस नहीं हुआ, एक ओर चुपचाप खड़ी हो गयी। पृथ्वीराज के हृदय में आज अपनी प्रियतमा पत्नी को देखकर भी प्रसन्नता नहीं हुई। वे शून्य दृष्टि से उसे देखकर ही रह गये। इससे सुन्दरी के हृदय में शंका उत्पन्न हुई। इस तरह का बर्ताव अपनी जिन्दगी में अब तक उसने न देखा था, सदा उसे देखते ही पृथ्वीराज प्रसन्न हो जाते थे, होंठों पर मुस्कुराहट आ जाती थी। उसने पति से पूछा, "आज इतनी चिन्ता किस बात की कर रहे हो? सब कुशल है न?"

"नहीं, आज एक बहुत बड़ी अनहोनी हो गयी, आज आकाश के ऊपर पृथ्वी है, समुद्र सूख गया है, और पश्चिम में सूर्य उगा है।" पृथ्वीराज ने आवेश में कहा।

"मेरी समझ में इस तरह की कविता न आयेगी। साफ-साफ कहो, बड़ी चिन्ता हो रही है, बात क्या है?" सुन्दरी ने चिन्तित होकर कहा।

"महाराणा प्रतापसिंह ने अकबर के पास सन्धि के लिए पत्र भेजा है!" पृथ्वीराज ने सिर झुकाकर कहा।

"नहीं, ऐसा हरगिज न होगा, आपको किसी तरह का भ्रम हो गया है।" कड़ाई से सुन्दरी ने उत्तर दिया।

"नहीं सुन्दरी, मैं ठीक कहता हूँ, यह देखो महाराणा का पत्र मैं साथ ही ले आया हूँ।" पृथ्वीराज का सुन्दरी को पत्र देना।

पत्र को बड़े ध्यान से देखकर—"यह क्या, ये हस्ताक्षर तो उन्हीं के हैं!" सुन्दरी ने क्षोभ और दुःख से पति की ओर देखकर कहा।

"मुझे भी बड़ा आश्चर्य हो रहा है। क्यों महाराणा ने सन्धि का प्रस्ताव किया, कुछ समझ में नहीं आता। अनुमान से यह जान पड़ता है कि उन पर और उनके मेवाड़ पर कोई विशेष विपद् पड़ी होगी।" पृथ्वीराज ने चिन्तायुक्त होकर कहा।

"कष्ट में पड़कर वे अपने धर्म को छोड़ देंगे, विश्वास भी नहीं होता, तुम्हें पत्र किसने दिया?"

पृथ्वीराज ने पत्र की पूर्वापर बातें सुन्दरी से कहकर भविष्य के कार्यक्रम के सम्बन्ध में सुन्दरी से राय देने के लिए पूछा। पृथ्वीराज की तरह उसने भी कहा, मेरी इच्छा नहीं कि यह सन्धि हो; मेवाड़ की मर्यादा भूमिसात् हो जाय, यह मुझे किसी तरह से भी स्वीकार नहीं। मेरा जी अच्छा नहीं है, मैं जाती हूँ; इसके सम्बन्ध में ऐसा ही कोई अच्छा प्रबन्ध करके मुझे बतलाइए कि क्या किया।

यह कहकर सुन्दरी वहाँ से चली गयी। महाराणा के आदर्शच्युत होते ही उनके प्रति उसका पूर्वभाव न रह गया। अपने कुल के सूर्य को आकाश से टूटकर पृथ्वी पर आते देखकर उसके चित्त में एक विचित्र परिवर्तन आ गया।

सुन्दरी तो चली गयी, परन्तु पृथ्वीराज उसी तरह उसी कमरे में बैठे रहे। वे कवि थे और कवि भी वैसे नहीं, सहृदयता की सजीव मूर्ति थे। वे केवल महाराणा प्रताप की बातें सोच रहे थे; साथ ही मुसलमानों का अदम्य बल, हिन्दुओं की क्रमशः अध:पतित कर देनेवाली दुर्बलता, मन में समायी हुई गुलामी और सब सत्यानाश का मूल कारण पारस्परिक ईर्ष्या, इन सब विषयों का क्रम भी वे अपने विचार के साथ रखते जा रहे थे। महाराणा के सन्धि करने का मूल कारण उन्हें मिल गया, उनकी सहृदयता के आगे कुछ छिप नहीं सका, वे समझ गये कि महाराणा को कहीं से किसी से किसी प्रकार की भी सहायता नहीं मिली। दु:ख के दिन ऐसे ही बड़ी मुश्किलों में पार होते हैं, फिर जले पर निमक, उस दु:ख में जिन लोगों से सहायता की आशा की जाती है, वही यदि विमुख हो जायँ या शत्रुता करने पर तुल जायँ, तो अवश्य ही यह आचरण मनुष्य को अधिक काल तक उसके लक्ष्य पर रहने नहीं देता और वीरता अकेले होती भी नहीं। सम्पूर्ण मुगल-साम्राज्य के विरोध में अकेले महाराणा कब तक ठहर सकते हैं? जान पड़ता है किसी विशेष मानसिक परिवर्तन के आने पर ही महाराणा ने सन्धि का प्रस्ताव किया है। वे दु:खों में पड़कर घबड़ानेवाले मनुष्य नहीं हैं।

इस तरह सोचते हुए पृथ्वीराज बहुत दूर तक चले गये, मन के भीतर की अपनी युक्तिपूर्ण बातों पर उन्हें विश्वास था। महाराणा के मानसिक विकार का कारण बहुत कुछ उनकी समझ में आ गया। वे फिर सोचने लगे, 'यदि इस तरह की परिस्थिति में मैं महाराणा को सन्धि करने के लिए लिखूंगा तो फिर मुगलों के बीच में हमारा मस्तक कभी भी ऊँचा न होगा, हम सदा के लिए उनके दबैल हो जायँगे। महाराणा के गिरे हुए मन को इस समय बल देने की आवश्यकता है। अपनी मर्यादा का उन्हें पूरा खयाल है। वे अवश्य ही अपना मत बदल देंगे।'

कविश्रेष्ठ पृथ्वीराज के हृदय में तरह-तरह की बातों ने एक अद्भुत भावना ला दी; एक स्वर्गीय शक्ति उनकी लेखनी में आ गयी, जिससे एक मुर्दा भी उठकर खड़ा हो जाता, कायर के दिल में लड़ने की उमंग पैदा हो जाती।

यह कविता महाराणा के पास उन्होंने लिखकर दूत के हाथ भेजी,—

अकबर समद अथाह, सूरापण भरियो सजल।
मेवाड़ो तिण माह, पोयण फूल प्रताप सी॥ 1॥
अकबर एकण वार दागल की सारी दुनी।
अणदागल असवार, रहियो राम प्रताप सी॥ 2॥
अकबर घोर अंधार, ऊंघाण हिन्दू अवर।
जागे जुग दातार, पौहर राणा प्रताप सी॥ 3॥

हिन्दू पति परताप, पत राखी हिन्दुवासारी।
सहे विपत संताप, सत्य सपथ करि आपणी ॥ 4 ॥
चौथी चित्तोड़ाह, बाँटी बाजन्ती तणी।
माथे मेवाड़ाह, सोहे राण प्रताप सी ॥ 5 ॥
सारभ, अकबर शाह, अड़ियल आभड़िया नहीं।
चम्पो चित्तोड़ाह, चोरस तणी प्रताप सी ॥ 6 ॥
पातल खाँग प्रमाँण, साँची साँगा हर घणी।
लही सदा लग राण, अकबर सूँ ऊ भी अणी ॥ 7 ॥

दोहा

भाईं जश अहड़ा जणे, जहड़ा राण प्रताप।
अकबर सूतो ओझके, जाण सिराणे साँप ॥ 8 ॥

सोरठा

राखो अकबरियाह, तेज तिहारो तुरकड़ां।
नम नम नीसरियाह, राणा विना सहराजवी ॥ 9 ॥
सह गावड़िये साथ, ये कण बाड़े बाड़िया।
राण न मानी नाथ, तांडे राण प्रताप सी ॥ 10 ॥
सोया सो संसार, असुर पलोले ऊपरे।
जागे जगदातार, पौहर राण प्रताप सी ॥ 11 ॥
धर बाँकी दिन पाधरा, मरदन मूके माण।
घणे नरिन्दा घेरियां, रहे गिरिन्दा राण ॥ 12 ॥

हिन्दी के सुप्रसिद्ध कवि बाबू मैथिलीशरणजी गुप्त की मर्मस्पर्शिनी कविता नीचे पाठकों के सुरुचि सम्पादनार्थ दी जाती है :--

"स्वस्ति श्री स्वाभिमानी कुल कमल तथा हिन्दूआसूर्य सिद्ध।
शूरों में सिंह सुश्री शुचि रुचि सुकृती श्री प्रताप प्रसिद्ध ॥
लज्जाधारी हमारे कुशलयुत रहें आप सद्धर्म-धाम।
श्री पृथ्वीराज का हो विदित विजय से प्रेमपूर्ण प्रणाम ॥ 1 ॥
मैं कैसा हो रहा हूँ इस अवसर में घोर आश्चर्य लीन।
देखा है आज मैंने अचल चल हुआ, सिन्धु संस्था विहीन ॥
देखा है क्या कहूँ, मैं निपतित नभ से इन्द्र का आज छत्र।
देखा है और भी हाँ, अकबर-कर में आपका संधि पत्र ॥ 2 ॥
आशा की दृष्टि से वे पितरगण किसे स्वर्ग से देखते हैं?
सच्ची वंश-प्रतिष्ठा क्षितिज पर अपनी वे कहाँ लेखते हैं?
मर्यादा पूर्वजों की अब तक हममें दृष्टि आती कहाँ है?
होती है व्योमवाणी वह गुण-गरिमा आप ही में यहाँ है ॥ 3 ॥

खोके स्वाधीनता को अब हम सब हैं नाम ही के नरेश।
ऊँचा है आपसे ही इस समय अहो देश का शीर्ष-देश॥
जाते हैं क्या झुकाने अब उस सिर को आप भी हो हताश ?
सारी राष्ट्रीयता शिव-शिव फिर तो हो चुका सर्वनाश॥ 4॥
हाँ, निस्संदेह देगा अकबर इससे आपको मान दान।
खोते हैं आप कैसे उस पर अपना उच्च धर्माभिमान॥
छोड़ो स्वाधीनता को मृगपति ! वन में दुःख होता वड़ा है।
लोहे के पींजड़े में तुम मत रहना स्वर्ण का पींजड़ा है॥ 5॥
ये मेरे नेत्र हैं क्या कुछ विकृत कि हैं ठीक वे पत्र-वर्ण ?
देखूँ, है क्या सुनाता विधि अब मुझको, व्यग्र हैं हाय ! कर्ण।
रोगी हों नेत्र मेरे वह लिपि न रहे आपके लेख जैसी।
हो जाऊँ दैव ! चाहे वधिर पर सुनूँ बात कोई न वैसी॥ 6॥
बाधाएँ आपको हैं बहुविध वन में, मैं इसे मानता हूँ।
शाही सेना सदा ही अनुपद रहती, सो सभी जानता हूँ॥
तो भी स्वाधीनता ही विदित कर रही आपको कीर्तिशाली।
हो चाहे वित्तवाली पर उचित नहीं दीनता चित्तवाली॥ 7॥
आये थे, याद है क्या, जिस समय वहाँ 'मान', सम्मान पाके।
खाने को थे न बैठे मिस कर उनके साथ में आप आके।
वे ही ऐसी दशा में हँसकर कहिये, आपसे क्या कहेंगे ?
अच्छी हैं ये व्यथाएँ, पर वह हँसना आप कैसे सहेंगे॥ 8॥
है जो आपत्ति आगे वह अटल नहीं, शीघ्र ही नष्ट होगी।
कीर्ति-श्री आपकी यों प्रलय तक सदा और सुस्पष्ट होगी॥
घेरे क्या व्योम में है अविरत रहती सोम को मेघमाला।
होता है अन्त में क्या वह प्रकट नहीं और भी कान्तिवाला॥ 9॥
है सच्ची धीरता का समय बस यही हे महा धैर्यशाली !
क्या विद्युद्वह्निका भी कुछ कर सकती वृष्टिधारा-प्रणाली ?
हों भी तो आपदाएँ अधिक अशुभ हैं क्या पराधीनता से ?
वृक्षों जैसा झुकेगा अनिल-निकट क्या शैल भी दीनता से॥ 10॥
ऊँचे हैं और हिन्दू, अकबर-तम की है महा राजधानी।
देखी है आप में ही सहज सजगता हे स्वाधर्माभिमानी।
सोता है देश सारा यवन नृपति का ओढ़ के एक वस्त्र।
ऐसे में दे रहे हैं जगकर पहरा आप ही सिद्ध-शस्त्र॥ 11॥
डूबे हैं वीर सारे अकबर-बल का सिन्धु ऐसा गभीर।
रक्खे हैं नीर-नीचे कमल-सम वहाँ आप ही एक धीर॥
फूलों सा चूस डाला अकबर-अलि ने देश है ठौर-ठौर।
चंपा-सी लाज रक्खी अविकृत अपनी धन्य मेवाड़-मौर॥ 12॥

सारे राजा झुके हैं जब अकबर-तेज आगे सभीत।
ऊँचा, ग्रीवा किये हैं सतत तब वहाँ आप ही हे विनीत।
आर्यों का मान रक्खा, दुःख सहकर है प्रतिज्ञा न टाली।
पाया है आपने ही विदित भुवन में नाम आर्यांशुमाली।। 13।।
गाते हैं आपका ही सुयश कवि कृति छोड़के और गाना।
वीरों की वीरता को सु-वर मिल गया चेतकारूढ़ राना।।
माँ! है जैसा प्रताप प्रिय-सुत जन तू तो तुझे धन्य मानें।
सोता भी चौंकता है अकबर जिससे साँप ज्यों हो सिरानें।। 14।।
'राना ऐसा लिखेंगे, यह अघटित है, की किसी ने हँसी है।
मानी हैं एक ही वे बस नस-नस में धीरता ही धँसी है।।'
यों ही मैंने सभा में कुछ अकबर की वृत्ति है आज फेरी।
रक्खो चाहे न रक्खो अब सब विध है आपको लाज मेरी।। 15।।
हो लक्ष्य-भ्रष्ट चाहे कुछ, पर अब भी तीर है हाथ ही में।
होगा हे वीर! पीछे विफल सँभलना, सोचिये आप जी में।।
आत्मा से पूछ लीजे कि इस विषय में आपका धर्म क्या है?
होने से मर्म-पीड़ा समझ न पड़ता कर्म-दुष्कर्म क्या है।। 16।।
क्या पश्चात्ताप पीछे न इस विषय में आप ही आप होगा?
मेरी तो धारणा है कि इस समय भी आपको ताप होगा।।
क्या मेरी धारणा को कह निज मुख से आप सच्चा करेंगे?
या पक्के स्वर्ण को भी सचमुच अब से ताप, कच्चा करेंगे।। 17।।
जो हो ऐसा न हो जो हँसकर मन में 'मान' आनन्द पावें।
जीना है क्या सदा को फिर अपयश की ओर क्यों आप जावें।।
पृथ्वी में हो रहा है सिर पर सबके मृत्यु का नृत्य नित्य।
क्या जानें, ताल टूटे किस पर उसकी, कीजिये कीर्ति-कृत्य।। 18।।
हे राजन्! आपको क्या यह विदित नहीं, आप हैं कौन व्यक्ति।
होने दीजे न हा! हा! शुचितर अपने चित्त में यों विरक्ति।।
आर्यों को प्राप्त होगी, स्मरण कर सदा आपको, आत्मशक्ति।
रक्खेंगे आप में वे सतत हृदय से देव की भाँति भक्ति।। 19।।
शूरों के आप स्वामी यदि अकबर की वश्यता आन लेंगे।
तो दाता दान देना तजकर उलटा आप ही दान लेंगे।।
सोवेंगे आप भी क्या इस अशुभमयी घोर काली निशा में?
होगा क्या अंशुमाली समुदित अब से अस्तवाली दिशा में।। 20।।
दो बातें पूछता हूँ, अब अधिक नहीं, हे प्रतापी प्रताप!
आज्ञा हो, क्या कहेंगे अब अकबर को तुर्क या शाह आप?
आज्ञा दीजे मुझे जो उचित समझिये, प्रार्थना है प्रकाश।
मूँछें ऊँची करूँ या सिर पर पटकूँ हाथ होके हताश।। 21।।

पत्र लिखा गया। पृथ्वीराज ने कई बार उसे आदि से अन्त तक पढ़ा। हृदय को पत्र के भाव और भाषा की उच्चता का विश्वास हो गया। पत्र पढ़कर वे फिर चिन्तित से हो गये। वे सोचने लगे कि यह पत्र महाराणा के पास किसके हाथ भेजा जाय ! अकबर को अगर इस पत्र का भेद मालूम हो जाय कि इसमें कुछ का कुछ लिखा गया है, तो निस्सन्देह एक बड़ा अनर्थ होगा। बहुत सम्भव है कि वह मेरी जान लेकर ही रहे। इस तरह सोचते हुए पृथ्वीराज को उस दूत की बात याद आ गयी, जो महाराणा का पत्र लेकर आया था और झौर दरबार में पृथ्वीराज की अकबर से बहस होने पर कैद कर लिया गया था ! अकबर की कैद से महाराणा के उस दूत को छुड़ाने की जबर्दस्त फिक्र पृथ्वीराज को पैदा हो गयी। इससे उनका कार्य भी अच्छी तरह सध सकता था। वह दूत पृथ्वीराज का पत्र लेकर बिना किसी रोक-टोक के महाराणा को सुपुर्द कर सकेगा, इसलिए उसकी मुक्ति कई दृष्टियों से आवश्यक है, यह सोचकर पृथ्वीराज ने अपने एक नौकर को बुलाकर बहुत-सा धन-रत्न देकर कहा,—पहले फाटक में एक राजपूत कैद करके सिपाहियों की निगरानी में रखा गया है। ये जवाहारात सिपाहियों की भेंट करना और कहना कि उस राजपूत को बहुत जल्द छोड़ दें।

नौकर शाही-किले की तरफ गया और पृथ्वीराज अपनी कविता लेकर सुन्दरी के कमरे में गये। सुन्दरी ने भीतर से दरवाजा बन्द कर लिया था। बाँदियों ने कहा, "जब से आपके कमरे में आयी हैं, न जाने इन्हें क्या हो गया है, न किसी से बोलती हैं न किसी को अपने पास जाने देती हैं, अब सरकार आये हैं, सरकार ही देखें कि कौन-सी बीमारी हो गयी है।"

एक दूसरी बाँदी ने कमरे के दरवाजे के पास जाकर आवाज दी और कहा, "सरकार आये हैं, भीतर आना चाहते हैं।"

सुन्दरी ने दरवाजा खोल दिया। पृथ्वीराज भीतर चले गये। सुन्दरी की आँखें फूले हुए पलाश की तरह सुर्ख हो रही थीं। पृथ्वीराज ने देखा,—तकिया, चादर, सिरहाने की तरफ का तमाम बिस्तरा आँसुओं से तर हो गया है। परन्तु उन्होंने कुछ कहा नहीं। वे समझ गये कि महाराणा की सन्धि करने की बात सुनकर सुन्दरी को इतना हार्दिक दुःख हुआ है। वे जानते थे, महाराणा के वंश की यह युवती अपनी मर्यादा का पूरा विचार रखती है। शाही बेगमों के सामने इसने कभी भी आँख नीची नहीं की। पृथ्वीराज ने बड़े प्यार से उसके हाथ में वह कागज जिसमें उन्होंने महाराणा को कविता लिखी थी, रख दिया और कहा, "इसे पढ़ो, तुम्हारे ताऊ को हमने चिट्ठी लिखी है।" सुन्दरी ने कुछ न कहा, चिट्ठी ले ली और चुपचाप पढ़ने लगी।

पढ़कर उसके हृदय को एक प्रकार का स्वर्गीय आनन्द मिला। उसका दुख एक प्रकार के जोश में बदल गया। गर्व की दृष्टि से अपने पति को उसने एक बार देखा, कहा, "हाँ, यह भाषा आपके योग्य ही हुई है, मुझे विश्वास है, पत्र का महाराणा उचित मूल्य देंगे और आपकी स्वर्गीय प्रतिभा का समुचित आदर भी

करेंगे।"

बाँदी ने पृथ्वीराज को किसी के बाहर आकर पुकारने की खबर दी। पृथ्वीराज कमरे से बाहर आये। उनका नौकर और महाराणा का वह दूत बाहर खड़ा था। दूत की मुक्ति से पृथ्वीराज को बड़ा हर्ष हुआ, उन्होंने उसे गले लगा उसके कष्टों के लिए सहानुभूतिसूचक शब्दों से उसे यथेष्ट सन्तोष प्रदान कर अन्त में महाराणा की सेवा में लिखा गया अपना पत्र देकर महाराणा से अपना प्रणाम कह देने के लिए कहा। पृथ्वीराज की सहृदयता को देखकर दूत मुग्ध हो गया। उसे दिल्ली में एक राजपूत के प्रति सहानुभूति रखनेवाला कोई दूसरा राजपूत अब तक न मिला था। तब तक पृथ्वीराज ने अपने नौकर को अस्तबल से एक तेज घोड़ा कसकर शीघ्र ले आने की आज्ञा दी और खुद घर में यथेष्ट धन-रत्न दूत के राह-खर्च के लिए लेने गये। बात-की-बात में एक अच्छा घोड़ा कसा हुआ दरवाजे पर साईस ले आया और पृथ्वीराज भी यथेष्ट धन लेकर घर से बाहर निकले। दूत को वह सब धन-रत्न देकर बड़े आदर से उन्होंने विदा किया। बार-बार महाराणा को प्रणाम कहने के लिए कहा और कुछ दूर तक छोड़ने भी गये। अन्त में मुगलों की चालबाजी से बचे रहने के लिए कई प्रकार के उपदेश दे दूत को विदा किया।

षोडश परिच्छेद

मत परिवर्तन

उधर अकबर को पत्र लिखने के पश्चात् प्रताप की आत्मा में एक दूसरा ही परिवर्तन हो गया। पहले जिन विरोधी शक्तियों ने व्रत-भंग करने के लिए उन्हें उत्साहित किया था, पत्नी और पुत्र-पुत्रियों की ममता का इन्द्रजाल सामने ला मोह में डाल अभीष्ट सिद्धि की भी, वे शक्तियाँ अब तिरोहित हो गयीं। आत्मग्लानि से उनका सर्वांग मुरझा गया था। वे अपने को घोर अपराधी समझने लगे थे।

एक रोज पत्र लिखने के बाद ही अरावली की एक शिला पर बैठे हुए वे अपने अतीत जीवन के करुणापूर्ण इतिहास के पृष्ठ उलट रहे थे। देखा: उसमें जीवन का प्रभात था; आत्माहुति थी; स्वदेश और स्वधर्म के प्रति अविचल अनुराग था; राजपूत-वीरों की निष्ठा थी; देश-रक्षा के महान् व्रत से भरा हुआ अदम्य साहस था। फिर याद आयी हल्दी घाटी में राजपूत-वीरों की समर-कीर्ति, वीरों का लड़कर प्राणार्पण कर देना; महाराणा की रक्षा के लिए झालामान्ना

की अद्भुत वीर-गति; प्रताप की आँखों में आँसू आ गये। जिन वीरों ने प्रताप को देवता के तुल्य समझकर उनकी रक्षा की, अपना अमूल्य जीवन दिया, उनकी आत्माओं को कितना दुःख होगा ? वे स्वर्ग में क्या सोचेंगे ? वे सोचेंगे, हमें धोखा हुआ; हमने जिसे देश का संरक्षक समझा था, वह देश का भक्षक निकला। ओह ! कितना पतन हुआ !

हल्दीघाटी के पश्चात् सैकड़ों योद्धाओं से मेरी मुठभेड़ हुई। वर्षों तक इस जंगल से उस जंगल, उस जंगल से दूसरे खोह में इसी तरह मुझे जीवन बिताना पड़ा; परन्तु इससे मेरी आत्मा को कभी नीचा नहीं देखना पड़ा; सबकुछ खोकर भी वह प्रसन्न थी; आज सबकुछ प्राप्ति की आशा है, परन्तु वह अवसन्न है, जैसे उसका सर्वस उसके भीतर से निकल गया हो।

बस; अकबर की भिक्षा ग्रहण कर जीवित रहना मुझे बिल्कुल पसन्द नहीं। मैंने बुरा किया। एक क्षणिक पतन का कितना कष्टप्रद परिणाम हुआ करता है; शायद यह दिखाने के लिए ही ईश्वर ने मुझे पतन के पथ पर कुछ ही देर के लिए खड़ा किया था।

महाराणा बैठे ही थे कि दूत सामने से आता हुआ दिखायी दिया। दूत को देखकर महाराणा की देह में आग-सी लग गयी। याद आया कि यह अकबर के पास से कोई सन्धि की खबर लेकर आ रहा है। महाराणा उठकर चल दिये। उन्हें सन्धि मंजूर न थी। अपनी भूल वे समझ गये थे।

दूत ने प्रणाम किया। महाराणा के हाथ में पत्र देना चाहा, परन्तु शेर की तरह डपटकर महाराणा ने कहा, "ले जाओ, मैं सन्धि नहीं चाहता, फाड़ डालो यह पत्र।"

"यह पत्र पृथ्वीराज ने महाराणा की सेवा में भेजा है, फिर जैसी आज्ञा हो।" दूत ने विनयपूर्वक सिर झुकाकर कहा।

पृथ्वीराज का नाम सुनकर महाराणा ने पत्र ले लिया। दूत से कहा, फिर मिलो, कुछ देर के बाद, पत्र एकान्त में बैठकर पढ़ने लगे। प्रणाम कर दूत चला गया।

पत्र ने अग्नि में घृताहुति का काम किया। महाराणा का यथार्थस्वरूप उस पत्र में वीर भावुक कवि ने चित्रित कर दिया था, उनकी आँखें लाल हो गयीं, बड़ी तेजी से नसों में खून की धारा बह चली, भुजाएँ फड़क उठीं। जिस पृथ्वीराज के प्रति आज तक महाराणा की धारणा वैसी ही थी, जैसी वे गुलाम राजपूतों के प्रति रखते थे, जिन्होंने भोग और विलास के पीछे पड़कर अपनी प्यारी स्वतन्त्रता और स्वाभिमान का खून किया था, मुगलों की अधीनता लोभ में पड़कर स्वीकार कर ली थी, अब उस पृथ्वीराज के प्रति उनका भाव बदल गया। वीर कवि ने एक ही कविता द्वारा उनके हृदय के अन्तर प्रदेश पर अधिकार कर लिया। पत्र में दिल्ली के दरबार में अकबर से बहस करके पत्र को जाली सिद्ध करना, महाराणा की इज्जत बचाना, उनके गौरव की याद दिलाना, अकबर का उद्देश्य जाहिर करना, हिन्दुओं की वर्तमान दशा का दिग्दर्शन कराना, ये सब बातें किसी पराधीन हृदय-वाले की लेखनी से नहीं निकल सकतीं। महाराणा मुग्ध हो गये। वे सोचने लगे,

आज हिन्दुओं का हृदय दिल्ली में कैद है, मुझे तो फिर भी चलने-फिरने की स्वतन्त्रता है, परन्तु मुक्ति के उज्ज्वल आकाश में विहार करनेवाले इस कवि को बन्दी दशा में कितना कष्ट होगा, उसकी आत्मा पर कितना दबाव पड़ा होगा ?

महाराणा इन्हीं सब बातों पर विचार कर रहे थे कि दिल्ली से दूत के आने की खबर सुनकर सरदार चन्दावत, महारानी पद्मावती तथा और-और भील-सरदार भी वहाँ आकर एकत्र हुए। महाराणा ने पृथ्वीराज का पत्र चन्दावत-सरदार को देकर कहा, देखो तो सरदार, हिन्दुओं की कितनी गिरी हुई दशा है। आज हिन्दुओं के हृदय का सम्राट् अकबर के दरबार में एक कैदी की हैसियत से अपने दिन पार कर रहा है। चन्दावत-सरदार ने पृथ्वीराज का लिखा हुआ पत्र पढ़ा, सब लोग ध्यान से उसे सुनने लगे। प्रताप की सन्धि करने की बातें सब लोग सुन चुके थे, पीछे उस सन्धि के प्रस्ताव से महाराणा के इनकार कर जाने, अपनी भूल के लिए पश्चात्ताप करने पर उनके साथियों को हार्दिक प्रसन्नता हुई थी, अब पृथ्वीराज के पत्र से उनके आनन्द का ठिकाना न रहा। जब उन्हें यह मालूम हुआ कि अकबर के दरबार में पृथ्वीराज ने उस पत्र को जाली सिद्ध कर दिया है, तब महाराणा की सम्मान-रक्षा से उन्हें और भी हर्ष हुआ। सब लोग पृथ्वीराज की भूरी-भूरी प्रशसा करने लगे। महाराणा की आज्ञा के अनुसार अब कुछ समय व्यतीत होने पर दूत भी वहाँ पहुँचा, लोगों ने चारों ओर से दूत को घेर लिया और दिल्ली के समाचार सुनने के लिए उत्सुकतापूर्वक उसकी ओर ताकने लगे। महाराणा ने उसे दिल्ली के समाचार कहने की आज्ञा दी। दूत कहने लगा, कि किस तरह महाराणा का पत्र पढ़कर बादशाह अकबर को प्रसन्नता हुई, किस तरह और-और लोगों से महाराणा के दस्तखत के सम्बन्ध में उनकी बहस छिड़ी, पृथ्वीराज से महाराणा का सम्बन्ध जानकर किस तरह अकबर ने उन्हें बुलवाया, दरबार में महाराणा के हस्ताक्षरों के स्वभाव का परिचय देना, पत्र को जाली बतलाना, पृथ्वीराज पर अकबर का जाँच करने का भार सौंपना, दूत का बन्दी होना, सिपाहियों को प्रचुर अर्थ देकर नौकर द्वारा पृथ्वीराज का दूत को छुड़वाना, दूत के हाथ अपना पत्र देना, महाराणा को बारम्बार अपना सविनय प्रणाम कहना, आदि-आदि शुरू से आखिर तक की कुल बातें, सब आदमियों के सामने दूत ने सुनायीं। पृथ्वीराज की सहृदयता और स्वदेश के प्रति प्रगाढ़ अनुराग देखकर लोग उनकी मुक्तकण्ठ से प्रशंसा करने लगे। उस रोज महाराणा के साथियों को एक प्रकार का स्वर्गीय आनन्द मिला।

प्रताप के हृदय में पत्र लिखने के पश्चात् ही परिवर्तन हो गया था, सन्धि के प्रस्ताव को उन्होंने दिल से दूर कर दिया था, अब पृथ्वीराज के पत्र ने उन पर और भी गहरा प्रभाव डाल दिया। उन्होंने निश्चय किया कि सन्धि तो अब होगी ही नहीं, किन्तु यहाँ रहना भी अब अनुचित है। इस पहाड़ का आश्रय छोड़कर किसी दूसरे देश के लिए प्रस्थान कर जाना चाहिए। यहाँ प्रतिदिन होनेवाले मुगलों के अत्याचार असह्य हो रहे हैं।

अन्त में इस विचार को महाराणा ने निश्चय का रूप दे दिया। उन्होंने साथ

ही यह भी सोचा कि अब हम सर्वथा असमर्थ हैं, दाने-दाने को मुहताज हो रहे हैं, हमारा सर्वस्व जाता रहा, अब न तो हम देश का ही उद्धार कर सकेंगे और न यहाँ रहकर अपनी बची हुई व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को ही बचा सकेंगे। न जाने कब शत्रुओं से घिर जायँ, यदि कैद हो गये तो जान गँवाने से पहले हमें अकबर और मानसिंह की कुटिल भौंहें जरूर देखनी पड़ेंगी। इसलिए यह स्थान छोड़ देना ही सबसे उत्तम उपाय है। अब चित्तौड़ की तरह मेवाड़ भी विधर्मियों के कब्जे में है; वही अब इसके राजा हैं, वही इसका शासन करते हैं, व्यर्थ ही जन्मभूमि के उद्धार का स्वप्न देखना है। आह ! राजपूतों का यह कितना घोर पतन हुआ है।

अपने विचार के अनुसार दिन निश्चय करके महाराणा अपने परिवार सहित मेवाड़ की विशाल मरुभूमि के किनारे पर खड़े हुए, चारों ओर से बालुकाराशि समुद्र की तरह दिखलायी पड़ रही थी। उन्हें बिना किसी सवारी के, बिना किसी सहायता के, बिना अर्थ के, यह रेगिस्तान पार कर जाना होगा। जिनके पैर हमेशा मखमल के गलीचे पर पड़ते थे, उन्हें स्वाधीनता के प्रेम ने पहाड़ की बीहड़ जमीन पर चलाया; परन्तु फिर भी उसे सन्तोष न हुआ, अब तपती हुई बालुकाराशि पर उनकी परीक्षा होगी। महाराणा ने चुपचाप खड़े हुए एक बार अपनी सती-सहधर्मिणी देवी-पद्मावती के मुख की ओर देखा—फिर अपनी छोटी-सी लड़की को देखा—उस कठोर हृदयवाले पुरुष-सिंह का भी हृदय दहल उठा; आँखों से दो बूँद आँसू टपक पड़े।

चन्दावत सरदार सिर झुकाये हुए खड़े थे। महाराणा का वियोग उनके कलेजे में तीर की तरह चुभ रहा था, परन्तु कोई उपाय न था। महाराणा के भील-बन्धु भी दु:खित भाव से खड़े थे। चिरकाल से जिस वीर केसरी के साथ रहकर उन लोगों ने सुख और दु:ख के दिनों में उनकी सहायता की थी, आज उनके वियोग से उनके कोमल सरल जंगली बन्धुओं के हृदय में भी करुणा का सागर उमड़ रहा था। परन्तु सब लाचार थे। प्रताप की प्रतिज्ञा अटल थी। सब लोग यह जानते थे। दूसरे रोकने का कोई कारण भी किसी के पास न था। बेचारे सब गरीब किस हिम्मत पर उन्हें रोककर रखते ? और पहाड़ पर मुगलों से महाराणा के परिवार को कष्ट भी बहुत मिल रहा था। सबके-सब काठ के पुतले की तरह खड़े हुए विदाई का वह करुण दृश्य देख रहे थे।

विधाता की इच्छा बड़ी बलवान होती है। वह चाहे तो राई को पर्वत और पर्वत को क्षणमात्र में राई कर दे सकता है। उसी ने प्रताप की खबर ली। यह उनकी अन्तिम परीक्षा थी, जब मरुभूमि को पार कर जाने का संकल्प उन्होंने दृढ़ कर लिया, तब उनकी तपस्या भी सिद्धि के आसन पर पहुँच गयी, और स्वाधीनता की देवी उन पर प्रसन्न हो गयी। उनके सामने एक वह दृश्य उपस्थित हुआ, जिसे देखकर प्रताप के आश्चर्य का ठिकाना न रहा। विदाई के उस करुण मुहूर्त में वृद्ध मन्त्री भामाशाह वहाँ आ पहुँचे। बड़े सम्मान से उन्होंने महाराणा को प्रणाम किया। उनके पीछे वाहनों पर बहुत धन-रत्न लदा हुआ आ रहा था। भामाशाह

को देखकर महाराणा बड़े आश्चर्य में पड़े। उनके एकाएक आने का कारण कुछ महाराणा की समझ में न आया। वे एक दृष्टि से अपने विश्वस्त वृद्ध-मन्त्री की ओर देखने लगे। भामाशाह विनीत शब्दों में महाराणा से प्रार्थना करके कहने लगे "मेवाड़ के रत्न! सिसोदिया कुल के कमल! इस वृद्ध सेवक की एक प्रार्थना है उसे पूरा कीजिए।"

भामाशाह के शब्द सुनकर महाराणा ने कहा, "भाई, यथाशक्ति तुम्हारी प्रार्थना पूरी की जायगी। तुम और तुम्हारे वंशवालों की सेवा से मेवाड़ राज्य का विशेष उपकार हुआ है। तुम्हारे जैस विश्वस्त कर्मचारी बड़े भाग्य से प्राप्त होते हैं। परन्तु इस समय तुम जानते हो, हम बिल्कुल अशक्त हैं, न हमारे पास राज्य है, न धन, न लोकबल है। ऐसी दशा में हम तुम्हारी प्रार्थना पूरी कर सकेंगे, इस विषय में हमें सन्देह हो रहा है।"

भामाशाह ने विजय से गद्गद होकर कहा, "आपकी शक्ति इस दास की दृष्टि में पहले से अनेक गुणों में अधिक हो गयी है। और धन, जन तथा राज्य के सम्बन्ध में जो आपने कहा, सो इस दास का तो यह विचार है कि श्रीमान् के पहले से अधिक कुटुम्बी हो गये हैं। मेवाड़ के प्रत्येक मनुष्य के हृदय पर आपका अधिकार हो गया है। धन मेवाड़ के अधिवासियों के पास जितना है, सब महाराणा का ही है। मैं विनयपूर्वक महाराणा की सेवा में अपना सर्वस्व धन भेंट करने के लिए ही आया था, प्रार्थना यह है कि इस धन को महाराणा स्वीकार करें।"

भामाशाह के भक्ति से भरे हुए शब्दों को सुनकर प्रताप चकित रह गये। त्याग की महिमा देखकर उनकी आत्मा को बड़ी प्रसन्नता हुई। मेवाड़ की गोद में इस तरह के रत्न पैदा होते हैं, प्रताप का वक्ष गर्व से स्फीत हो उठा। परन्तु नीति के वश हो उन्होंने कहा, "मन्त्रीवर, यह धन तुम्हारा है, इसको हम ग्रहण न करेंगे, यह हमारा धर्म नहीं है। आज बड़े अच्छे मुहूर्त में तुम आये। हम मेवाड़ राज्य से बाहर जा रहे हैं। यहाँ की विपत्ति अब सही नहीं जाती। कोई सहायक भी नहीं रहा। और अब हम इस भूमि के राजा भी नहीं हैं। इसलिए अपने प्राणों और अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए हमें किसी ऐसे स्थान में चलकर रहना चाहिए, जहाँ कुछ निश्चिन्त रह सकें। अकेले युद्ध भी नहीं होता। मुगलों से जी घबरा गया है। तुम आये, यह अच्छा हुआ। मेवाड़ से विदा होते ससय हमने तुम्हें भी अन्तिम वार के लिए देख लिया। अब हम धन लेकर क्या करेंगे मन्त्रीजी, सुख-भोग हमारे भाग्य में लिखा ही नहीं है।"

महाराणा के मर्मस्पर्शी शब्दों को सुनकर भामाशाह रो दिये। रुँधे हुए कम्पित कण्ठ से वृद्ध ने कहा, "महाराणा, आपको मेवाड़ के उद्धार के लिए यदि इतना बड़ा त्याग करने का अधिकार है, तो क्या मुझे एक छोटा-सा त्याग भी आप न करने दीजियेगा? आप हमारे सम्राट् हैं, हमारे धन पर आपका नहीं तो फिर और किसका अधिकार है? इस वृद्ध अवस्था में मैं मेवाड़ को स्वतन्त्र देखकर मरूँ, मुझे बड़ी आशा है, महाराणा, मैं हाथ जोड़कर प्रार्थना करता हूँ, मेरी इच्छा

पूरी कीजिए।"

महाराणा ने गम्भीर होकर कहा, "तुम्हारा हृदय निर्मल और आत्मा पवित्र है। तुम्हारे देश का कल्याण हो, यदि मुझे तुम निमित्त करने के लिए आये हो तो मैं बड़ी प्रसन्नता से तुम्हारे कार्य का भार ग्रहण करूँगा। आह ! क्या वह दिन भी कभी होगा, जब मेवाड़ से यवनों के पैर उखड़ जायँगे !"

"महाराणा, आप यह क्या कहते हैं कि आप निमित्त होकर रहेंगे, नहीं, कार्य और कारण दोनों आप ही हैं, मैं आपको—अपने महाराणा को—अपने उत्तराधिकारी को अपना धन-रत्न दान कर रहा हूँ कि यह धन देश की रक्षा के निमित्त खर्च कीजिए। मैं दाता और इस कार्य का प्रधान नहीं हूँ। यह सब मुझे आप ही के यहाँ से मिला है, इस पर मेरा अधिकार कुछ भी नहीं है। देश का धन देश की विपत्ति के समय अवश्य खर्च किया जाना चाहिए।" भामाशाह ने विनयपूर्वक महाराणा को देखते हुए कहा।

चन्दावत सरदार और अन्यान्य वीरों को इससे अत्यन्त प्रसन्नता हुई। सब लोग मारे हर्ष के वारम्वार भामाशाह को धन्यवाद देने लगे। प्रताप ने भामाशाह का धन स्वीकार कर लिया और उसी समय सरदार चन्दावत को आज्ञा दी कि राजपूत-सेना के जो सिपाही पहले हमारे यहाँ थे, उन्हें शीघ्र एकत्र करो और नयी सेना भी काफी संख्या में इकट्ठी करो। लेकिन इस कार्य को चुपचाप करना।

महाराणा को फिर से युद्ध की तैयारी करते देख, भामाशाह को हार्दिक सुख प्राप्त हुआ। उनके उपार्जित धन से देश को स्वतन्त्रता प्राप्त होगी, अपनी भूमि पर वीर राजपूत सीना तानकर चलेंगे, मुगलों का अत्याचार दूर होगा, गोवध बन्द हो जायगा, इन सब भविष्य की सुखकर बातों का स्मरण कर भामाशाह की आत्मा को मानो इस मर्त्यलोक में ही अमरता का रसास्वादन मिलने लगा।

सप्तदश परिच्छेद

मेवाड़ का उद्धार

प्रताप की तपस्या सिद्ध हुई। हम पहले ही लिख चुके हैं कि जिस दिन राजपूताना की विशाल मरुभूमि को पार कर जाना उन्हें सुगम और मस्तक झुकाना अगम जान पड़ा, उसी दिन स्वतन्त्रता की निष्करुण-देवी का अजस्र आशीर्वाद उन्होंने प्राप्त किया। वे मुक्त हुए; उन्हें साधन मिला; युद्ध की तैयारियाँ होने लगीं; वीरों की सेना फिर उसी प्रकार प्रबल जलधारा की तरह प्रताप के हृदय के सागर से मिलने के लिए मेवाड़ के स्थान-स्थान से आने लगीं।

विना विपक्षियों को किसी प्रकार की खबर हुए, एकान्त पहाड़ी भू-भाग पर प्रताप की विशाल राजपूत-सेना एकत्र हो गयी। सब सामन्त-सरदार भी अपने महाराणा की सहायता करने के लिए आने लगे। इस वार शोरगुल कुछ न था। प्रतिज्ञा की गम्भीरता, दृढ़ता और मौन ही सेना में एक छोर से दूसरे छोर तक दिखलायी दे रहा था। अत्याचार के उद्दाम उच्छृंखल शासन का वदला लेने के लिए ही मानो वह महामौन आज एक दूसरे रूप से शत्रु का सामना किया चाहता है। कहीं किसी प्रकार की जयध्वनि नहीं सुनायी पड़ती, कहीं कोई युद्ध का वाद्य नहीं बज रहा, किन्तु फिर भी इस गम्भीरता में जो अपराजित वीरता विराजमान थी, वह उस पहले के महासमर हल्दीघाटी के युद्ध में न थी। उस समय ऐश्वर्य का अहंकार राजपूतों में भी था। उस समय गर्व की घोषणा, अल्पसंख्यक होने पर भी राजपूतों में यथेष्ट थी। वह वीर्य का परिदर्शन था और यह अभीष्ट प्राप्ति का मौन। उसमें जितनी चहल-पहल थी, इसमें उतनी ही सावधानी। उसमें आत्म-त्याग था, इसमें आत्म-रक्षा। वह ऐश्वर्य की मृत्यु थी, यह ऐश्वर्य की तृष्णा। वह स्वच्छन्द, मुक्त, अनाहत और अबाध था, यह नियन्त्रित, अवरुद्ध, आहत और सँभला हुआ।

प्रताप ने एक वार अपने सुसज्जित वीर राजपूतों को देखा। तपस्वी प्रताप के लिए अब शब्दों द्वारा सैन्य को उत्तेजित करने की आवश्यकता न थी, उनकी मौन साधना से मेवाड़ के प्रत्येक घर में यथेष्ट उत्तेजना भर गयी थी। उन्हें अपनी ओर ताकते देखकर सेना सचेष्ट हो गयी, मानो इशारा करने की आज्ञा चाहती है।

प्रताप देवीर की ओर चले। सेना के सुशिक्षित सरदार अपनी-अपनी वाहिनी का इस तरह संचालन कर रहे थे कि पद-शब्द में भी वे यथेष्ट ध्यान रखते थे। देवीर नामक स्थान मेवाड़ के उत्तर की तरफ है। वहाँ शाहनवाजखाँ अपनी मुगल-सेना के साथ पड़े हुए थे। पहले उन्हें प्रताप की खबर कभी-कभी मिलती थी, परन्तु इधर बहुत दिनों से प्रताप का कोई संवाद न पा, वे निश्चेष्ट हो रहे थे। कभी-कभी उन्हें कोई कहता, प्रताप अब मेवाड़ छोड़कर कहीं चले गये हैं। पहले प्रताप मेवाड़ छोड़ने को तैयार थे ही, परन्तु एकाएक फिर से युद्ध करने का साधन मिल जाने पर रुक गये, परन्तु प्रताप के प्रिय अनुचरों ने तेजी से यह झूठी खबर फैला दी कि महाराणा मेवाड़ छोड़कर चले गये। तमाम राजपूताने में यह संवाद आग की तरह फैल गया। सेनापति शाहनवाज खाँ ने भी सुना। उन्हें भी विश्वास हो गया। वे सुख की नींद सोने लगे। व्यर्थ का वितण्डा उन्हें पसन्द न था। जिस महाराणा के लिए वे आये थे, जब वे ही न रहे, तब अकारण प्रजा को कष्ट देने से फायदा के बदले नुकसान अधिक होगा। इसलिए वे और उनकी सेना नाच-रंग में ही डूबी रही, युद्ध का खयाल ही छूट गया।

इधर प्रताप ने देवीर में शाहनवाज खाँ पर चढ़ाई कर दी। खाँ साहब तैयार न थे। शराब, कबाब और ऐश की लहरों में बेहोश हो बह रहे थे। प्रताप

का प्रबल आक्रमण उसकी सेना सह न सकी। बड़ी बुरी तरह मुगलों का संहार हुआ। राजपूत-वीर बहुत दिनों के भूखे शेर की तरह मुगलों की सेना पर एकाएक टूटे, सब फौज तितर-बितर हो गयी, एक-दूसरे की मदद करने को कोई न पहुँच सका। ऐसी हालत में आत्म-रक्षा के लिए मुगल-सेना भागी। प्रताप ने उसका पीछा किया। अपाहन नामक स्थान तक प्रताप, मुगल-सेना का संहार करते हुए चले गये।

मुगलों की कुछ सेना यहाँ भी पड़ी थी। खलबलाये हुए राजपूतों को उस सेना को देखकर बहुत क्रोध आया। प्रताप की सेना हल्दीघाटी के समर के बाद से बदला चुकाने के लिए पागल हो रही थी। वह मुगलों के अत्याचार वर्षों तक चुप-चाप सहती रही थी। इस समय ब्याज समेत अपनी पिछली कसर पूरी कर रही थी। अपाहन के मुगल-सिपाहियों को भी उसने तलवार के घाट उतारा।

विजय राजपूतों के लिए महामन्त्र हो गयी। उनका उत्साह बढ़ गया। जिस नीति से इस बार उन्होंने लड़ाई ठानी उनकी वही नीति रही। और यहाँ से महाराणा ने कमलमीर पर चढ़ाई कर दी। कमलमीर उनकी बड़ी प्यारी भूमि थी। यहाँ उन्होंने अपनी पूर्व तपस्या के दिन बिताये थे। यहाँ बादशाही-फौज के सेनापति अबदुल्ला खाँ थे। इनकी फौज ने भरसक महाराणा के राजपूत सिपाहियों से लोहा बजाया, परन्तु अड़ न सके। आँधी के उखड़े हुए पेड़ों की तरह अबदुल्ला की फौज के सिपाही वीर राजपूतों की मार खाकर धराशायी होने लगे। इस संग्राम में सेना-पति अबदुल्ला खाँ भी मारा गया। राजपूतों की शक्ति दुर्दम हो चली। तूफान की तरह राजपूत-सेना अपने छुटे हुए किलों में घुसकर अधिकार जमाने लगी। हल्दी-घाटी के महासमर में जितने राजपूतों का नाश हुआ था, उससे अधिक मुगलों के प्राण इन राजपूतों ने अपनी विजय में लिये।

कमलमीर और गोगुण्डा विजय के बाद एक साल के अन्दर-ही-अन्दर 1586 ई. में अपने 32 किलों पर प्रताप ने फिर अधिकार प्राप्त कर लिया।

चारों ओर मेवाड़ में जहाँ मुगलों का विजय का झण्डा उड़ रहा था, वहाँ स्वतन्त्रता की विमल वैजयन्ती फहराने लगी। अकबर के पास मुगलों की पराजय का समाचार पहुँचा। परन्तु फिर उन्होंने महाराणा पर आक्रमण करना उचित नहीं समझा। वे राजपूत-वीरों का लोहा मान गये। उधर भामाशाह का दिया हुआ धन अब तक की लड़ाई में खर्च हो गया। महाराणा को धन का अभाव हुआ। मानसिंह से बदला लेने की जलन भी अब तक उनके हृदय में बनी ही थी। उन्होंने अम्बर राज्य के प्रधान वाणिज्य-स्थान माल पर चढ़ाई की और उसे लूट लिया। इस लूट में महाराणा को प्रचुर अर्थ मिला। उनका धनागार फिर धन से परिपूर्ण हो गया।

इसके पश्चात् महाराणा ने अपनी नवीन राजधानी उदयपुर पर चढ़ाई की। राजपूतों की नवीन विजय का समाचार चारों ओर फैल चुका था। शत्रु-दल सदा ही सशंक रहा करता था। उसने उदयपुर छोड़ दिया। बिना परिश्रम के ही

महाराणा को उदयपुर का अधिकार मिल गया। उन्होंने इसे ही अपनी राजधानी बनाया।

चारों ओर राजपूतों की विजय का हर्षोत्साह छाया हुआ था। महाराणा के पराजित होने के बाद से मानो मेवाड़ का हर्ष-स्रोत सूख गया था; आनन्द का प्रवाह क्रमशः बन्द हो रहा था। अब फिर वैसे ही विमल धारा बहने लगी। साधारण लोग तो आनन्द मना रहे थे, परन्तु महाराणा के मन को शान्ति न थी, उनके भाग्य में मानो तपस्या के सिवा सुखोपभोग लिखा ही न था। वे चित्तौड़ की चिन्ता में सूख रहे थे। सब कुछ तो उन्होंने मुगलों से प्राप्त कर लिया, परन्तु अपने राज्य के प्राण-स्वरूप चित्तौड़ का उद्धार न कर सके। वहाँ पूर्ववत् मुगलों का ही अधिकार रहा। प्रताप को इसकी चिन्ता में कभी क्षण भर के लिए भी आराम न मिलता था।

अष्टादश परिच्छेद

महाराणा की मृत्यु

प्रताप की साधना को सफलता तो मिली, परन्तु उन्हें सन्तोष न हुआ। उनके प्राणों का प्यारा, पूर्व पुरुषों की अर्जित कीर्ति का गौरव-स्थल, राजपूतों के इतिहास का प्रधान केन्द्र, राजस्थान के मुकुट का शिरोमणि चित्तौड़गढ़ मुसलमानों के अधिकार में रह गया। महाराणा इसे न ले सके। यह चिन्ता उनके हृदय को प्रतिदिन जर्जर कर रही थी। उनके शरीर में घुन लग गया। पहले ही वे तपस्या के भार से आक्रान्त हो रहे थे, शरीर में पहले जैसा बल न रहा था, अवस्था भी अब ढलने पर आ गयी थी। इस पर विजय भी अधूरी रही। महाराणा का शरीर क्रमशः टूटता गया।

चित्तौड़ के विशाल स्तम्भों को पास ही की पहाड़ी पर से देखकर महाराणा का हृदय विदीर्ण हो जाता था। 'ये कितने गौरव के स्तम्भ आज यवनों के अधिकार में उच्च होकर मानो लज्जा से अवनत हो रहे हैं, आँसू बहाते हुए मेरी ओर एक दृष्टि से देख रहे हैं। कितनी कठोरता, कितनी तपस्या, कितनी वीरता, कितना प्रांजल सतीत्व इस रत्नगर्भा भूमि ने प्रकट किया है। और मैं इसकी तुलना में कितना दुर्बल मनुष्य अधिकार लेकर पैदा हुआ कि इसका उद्धार भी न कर सका।' प्रताप की आँखों से अविराम आँसुओं की धारा बह चलती थी। वे एक दृष्टि से उन आकाशचुम्बी शृंग-तुल्य गुम्बजों को देखते ही रहते।

परन्तु इसका कोई उपाय न था। यहाँ अकबर की सेना पूर्ण शक्ति से

मुसलमानी-बादशाही झण्डा गाड़े हुए थी। स्पर्द्धा के लिए अकबर ने इसे ही अपना प्रधान केन्द्र समझ लिया था। इसकी रक्षा राजपूतों से तिगुनी सेना मुस्तैदी के साथ कर रही थी। कई मुसलमान सेनापति थे।

महाराणा प्रताप उच्चकोटि के भावक पुरुष थे, उतने ही कोमल भी थे। चित्तौड़ पर अधिकार न कर सकने के कारण उनके कोमल हृदय को जो चोट लगी थी, वह फिर अच्छी नहीं हुई। दवाएँ अनेक प्रकार की की गयीं। परन्तु रोग असाध्य होता गया। उन्हें कोई विशेष रोग तो था नहीं, जो दवा से अच्छा हो जाता। उनकी आत्मा में चिन्ता और खिन्नता का जो रोग था, उसकी दवा वैद्य की पहुँच के बाहर की बात थी। न चित्तौड़ का उद्धार हो सका, न महाराणा अच्छे हुए।

उन्हें क्रमशः क्षीण होते हुए देखकर सामन्त-सरदार गण भी चिन्तित होने लगे। महाराणा का जीवन भी अब संशयात्मक जान पड़ने लगा। उन्होंने शय्या की शरण ली। अब उठने की शक्ति भी उनमें न रह गयी।

एक रोज सन्ध्या के बाद प्रदीप के प्रकाश में महाराणा ने अपने चारों ओर बैठे सामन्त सरदारों से कहा, "अब हमारे जीवन की आशा तुम लोग छोड़ दो। परन्तु अन्तिम समय में, कहते हुए दुःख होता है, मेवाड़ के उद्धार के कार्य में अब शिथिलता आ जायगी! अमरसिंह विलासी है। वह कठोरता का ग्रहण न कर सकेगा। हाय! चित्तौड़ की दशा में कोई परिवर्तन न हुआ। हमारे वीरो! हमें विश्वास दिलाओ, सत्य कहो, स्वदेश की रक्षा में तुम लोग पीछे न हटोगे, स्वतन्त्रता की पूजा में कोई त्रुटि न हो पायेगी, व्रत के पालन में किसी प्रकार का उल्लंघन न होगा।" महाराणा तृषार्त्त नेत्रों से अपने सामन्त-सरदारों की ओर देखने लगे।

सरदार चन्दावत ने दूसरे सरदारों के मुखिया की हैसियत से ओजस्वी शब्दों में शान्त स्वर से कहा, "महाराणा, क्या आप हम लोगों को अथाह सागर में छोड़-कर चले ही जायँगे? आपके बिना हमारी शक्ति कौन-सी ऐसी है जो मुगलों का सामना कर सके? परन्तु हम आपसे अपने आदर्श गुरु से मिथ्या नहीं कहेंगे, आप विश्वास कीजिए, हमारे रहते हुए स्वतन्त्रता की उपासना आपकी ऐसी ही होती रहेगी। आप निश्चिन्त हूजिए। महाराणा की आज्ञा का उल्लंघन करे, ऐसी शक्ति मेवाड़ के किसी मनुष्य में नहीं है। क्रमानुसार महाराणा के व्रत का उपासन होता रहेगा।"

"सरदार चन्दावत, तुम नहीं समझे।" धीमे स्वर से महाराणा ने कहा,—अमरसिंह बैठे हुए पैर दबा रहे थे, "अमरसिंह विलासी है, वह कुटियों का रहना पसन्द न करेगा। तुम देखोगे, उदयपुर में हमारे बाद बड़े-बड़े महल खड़े होंगे। हम इस समय जिन कुटियों में पड़े हैं, अमरसिंह को इस तरह की कुटियों में न देखोगे।" इतना कहकर भारत का वह चमकता हुआ सितारा मुस्कुराया, यह दीपक के गुल होने के वक्त का प्रकाश था। सब सरदार खड़े हो गये। महाराणा के मुख से अस्फुट ध्वनि सुनायी दी। लोग शंकित भाव से एक-दूसरे को देखने

लगे। वह माघ सुदी 11 संवत् 1653 का दिन था। धीरे-धीरे हिन्दुओं के मुकुट-मणि प्रताप, नश्वर संसार को छोड़कर स्वर्गधाम को प्रयाण कर गये। मुसलमान, हिन्दू आदि सब वर्ण और सब सम्प्रदाय के लोग जिसकी प्रशंसा करें, ऐसे प्रताप ही एक आदर्श पुरुष थे, शत्रुओं को भी जिनकी मृत्यु से दुःख हुआ।

०००

सीखभरी कहानियां

समझदार चण्डूल

एक चण्डूल चिड़िया के कुछ बच्चे एक पके खेत के घोंसले में बिना खतरे के रहा करते थे। बच्चों की माँ ने कहा, "प्यारे बच्चो, खेत काटने का समय बहुत निकट है। किसान बहुत जल्द खेत काटने के लिए आयेगा। उस समय हमें रहने के लिए नयी जगह की तलाश करनी होगी। आज तुम जो कुछ देखो और सुनो, शाम को जब मैं लौटूं, मुझसे कहो कि क्या माजरा है !" यह कहकर सुबह को वह खाने की तलाश में उड़ गयी।

उसी शाम को जब वह अपने घोंसले लौटी, चण्डूल ने अपने बच्चों को बहुत चंचल पाया। उन्होंने कहा, "अम्मी, इस जगह से हमें जल्द हटा ले चलो। आज किसान अपने एक लड़के के साथ खेत देखने आया था। हमने उसे कहते हुए सुना, खेत काटने लायक हो गया है। अच्छा है कि कल अपने पड़ोसियों को खेत काटने के लिए बुला लो।"

बच्चों की माँ मुस्करायी। कहा, "अभी कोई खतरा नहीं है। कल फिर हाल मालूम करो और रात को मुझे बतलाओ।"

दूसरे दिन जब रात हुई, चण्डूल के बच्चे डरे हुए अपनी माँ से मिले, "हमें कल यहाँ से जरूर चला जाना चाहिए, क्योंकि वह किसान आया था। उसने अपने लड़के से कहा, 'यह खेती जरूर जल्द काट लेनी चाहिए। अगर हमारे पड़ोसी इस काम के लिए नहीं पहुँचे, तो हमें रिश्तेदारों को बुलाना होगा। जाओ, अपने चाचों और चचेरे भाइयों से कहो कि कल यह खेत काटने के लिए वे आयें'।"

यह हाल सुनकर माँ ने कहा, "प्यारे बच्चो, घबराओ नहीं। किसान के रिश्तेदार पहले अपना खेत काटेंगे। लेकिन ख्याल रखो कि कल फिर मुझे कुल हाल मालूम हो जाय।"

तीसरे दिन वह फिर बाहर निकली। जब रात को वह लौटी, बच्चों ने चिल्लाकर कहा, "माँ-माँ, उस किसान ने कहा है कि कल वह खुद खेत काटेगा, अब वह दोस्तों या रिश्तेदारों की राह न देखेगा। फस्ल बिलकुल पककर झुक गयी है।"

सुनकर बच्चों की माँ ने कहा, "मेरे बच्चो, तैयार हो जाओ। हमें घण्टे-भर की देर भी नहीं करनी चाहिए और चल देना चाहिए। अगर दूसरे के सुपुर्द काम छोड़ दिया जाता है तो वह कभी नहीं होता। मगर जब आदमी खुद काम करने पर आमादा हो जाता है तब वह जल्द-से-जल्द पूरा होता है।"

सिंह और चूहा

एक दफे एक सिंह ने एक चूहे को अपने पंजे में पकड़ा। चूहे ने चिल्लाकर कहा, "जनाबमन, मुझे मारिए नहीं, छोड़ दीजिए। अगर आपने मेरी जान बख्श दी तो मुमकिन है, बदले में किसी दिन मैं भी आपका भला कर सकूं।"

दयालु सिंह ने छोटे-से चूहे को छोड़ दिया। लेकिन चूहे जैसे एक नाचीज बशर से सहारा पाने की सोचकर वह मन-ही-मन मुस्कराया।

कुछ दिनों के बाद वह सिंह शिकारियों से पकड़ा गया। उन्होंने मजबूत रस्सियों के जाल में उसे बाँधकर वहीं डाल दिया। वह जोर-जोर से गरजा और बधने तुड़ाने की बड़ी कोशिश की, मगर काम न सधा। उस वक्त जिस चूहे की उसने जान बख्शी थी, वह वहाँ दौड़ा हुआ आया।

उसने कहा, "मैंने तुम्हें पुकारते हुए सुना, इसलिए तुम्हारी मदद को दौड़ा हुआ आया हूँ। अब समझ लो, यह मेरी बारी है।" यह कहकर वह सिंह के बधने को अपने तेज दाँतों से कुतरने लगा। कुछ ही देर में कुछ रस्सियाँ कट गयीं और बन्धन ढीले पड़ जाने से फिर निकलने का रास्ता निकल आया। एक दफे फिर वह आजाद हो गया।

बहुत कमजोर जीव भी साबित कर सकता है कि वह दया का कृतज्ञ है। और कभी-कभी बड़ी-से-बड़ी ताकतवाले भी कमजोरों के पूरे-पूरे ऋणी होते हैं।

लोमड़ी और अंगूर

एक लोमड़ी को अंगूर बहुत प्यारे थे। एक रोज एक अंगूर के पेड़ के नीचे खड़ी हुई। पक्के अंगूरों का बढ़िया गुच्छा लटक रहा था, पर वह पहुँच के बाहर था। उस तुहफ़े को पकड़ने के लिए उसने छलाँग पर छलाँग मारी, लेकिन कामयाब न हुई। हर छलाँग कुछ छोटी पड़ी। आखीर को, दम भर आने पर उसने किनारा किया। सोचा, हाथ-पाँव मारना बेकार है।

"मुझे इनकी चाह नहीं," उतरी आवाज से उसने कहा, "ये अंगूर जरूर खट्टे हैं," और चली गयी।

कुछ आदमी ऐसे हैं जो मुराद न हासिल होने पर, धोखा खिलाते हुए, दूसरों की नजर में, उस आदमी को—जिससे मतलब नहीं पूरा हुआ—गिराते रहते हैं।

मुर्ग और लोमड़ी

एक चालाक लोमड़ी ने एक रोज एक मुर्ग को पेड़ की डाल पर बैठा हुआ देखा। उसने पूछा, "वहाँ क्या कर रहे हो? मुर्ग को जमीन पर चलते-फिरते रहना चाहिए, न कि डाल पर बैठे रहना। पेड़ उसके रहने का असली मुकाम नहीं। जान पड़ता है कि वह सबसे बड़ी खबर तुम्हारे कानों तक नहीं पहुँची? आज वह हर एक की जबान पर है। वह यह है कि जितने पशु-पक्षी हैं उनमें सुलह हो गयी है। एक दूसरे पर वार न करें, इसके लिए मजबूर हो चुका है।"

मुर्ग ने कहा, "यह जरूर दुनिया की सबसे अच्छी खबर है।" कहते वक्त उसने गरदन बढ़ाकर देखा जैसे दूर की कोई चीज देख रहा हो।

लोमड़ी ने पूछा, "तुम क्या देख रहे हो?"

मुर्ग ने जवाब दिया, "कुछ नहीं। वह कुछ नहीं, सिर्फ भयंकर शिकारी कुत्तों का एक जोड़ा है। मुँह खोले हुए इसी रास्ते से आ रहे हैं। चाल बड़ी तेज है।"

घबराकर लोमड़ी ने कहा, "ऐसी बात है? अच्छा, क्षमा करना, दोस्त, मैं अब तुमसे बिदा चाहती हूँ।"

"आह! तुम इतनी घबरायी हुई क्यों हो?" मुर्ग ने पूछा, "तुम्हारी बचत का कौन-सा डर है? तुमने तो अभी-अभी कहा कि पशु-पक्षियों में सुलह हो गयी है।"

लोमड़ी ने कहा, "सच है! लेकिन अगर कुत्तों ने भी यह खबर नहीं सुनी तो वे मेरे बदन में अपने तेज दाँत चुभा देंगे और मुझे यह मालूम भी न होगा कि मैं कहाँ हूँ।" यह कहकर वह चम्पत हुई।

चालाक आदमी बात बना लेते हैं।

'मैं और हम'

दो पथिक आम रास्ते से चले जा रहे थे। एक एकाएक झुका और धूल से एक चीज उठा ली।

खुश होकर उसने आवाज लगायी, "दोस्त, देखो ज़रा इधर, मैंने रुपयों से भरी एक थैली पड़ी पायी।"

दूसरे ने कहा, "जब हम दोनों एक साथ रास्ता चल रहे हैं, तुम्हें ऐसा नहीं कहना चाहिए कि मैंने यह चीज पड़ी पायी, बल्कि यह कि हमने पायी।"

पहले ने थैली अपनी जेब में रखी। तब तक जल्द ही उनके पीछे ऊँची पुकारें उठने लगीं। उन्होंने कुछ आदमियों को पीछा करते देखा, जिन्हें एक आदमी

रास्ता दिखा रहा था। उसने तीखी आवाज से कहा—

"वे हैं—वे हैं। वे चोर। जिन्होंने मेरी थैली चुरायी है। पकड़िए, भले आदमियो, इन्हें पकड़िए और इनकी जान ले लीजिए।"

जिस राही ने थैली पड़ी पायी थी, कहा, "हाय, ऐसी दुनिया को हम क्या करें दोस्त, हम एक साथ नेस्त हुए।"

"नहीं जी," साथी ने जवाब दिया, "ऐसा नहीं कहना चाहिए। बल्कि कहो मैं कहीं का न रहा। मैं हरगिज जान से हाथ धोनेवाले मामले में साथ नहीं दूँगा।"

हिरन का छौना और हिरन

एक छौने ने एक दिन हिरन से पूछा क्यों वह शिकारी के कुत्तों को देखकर भाग खड़ा होता है। छौने ने कहा, "तुम उनसे काफी बड़े और बलवान हो। तुम चाहो तो उनसे लड़ सकते हो। तुम उनसे हथियारों से ज्यादा लैस हो। तुम्हारी लम्बी-नुकीली सीगें उनका पेट फाड़ सकती हैं। उनके दाँतों के सिवा और कुछ नहीं। तुम्हारे पैर उनके पैरों से लम्बे हैं और तुम्हारी खुरियों में ज्यादा कड़ापन और तेजी है। मेरी समझ में नहीं आता, तुम पालतू कुत्तों से क्यों घबराकर भागते हो।"

हिरन ने कहा, "तुमने जो कुछ कहा, सही है। यह वही है जो बहुत दफे मैं खुद मन-ही मन कह चुका हूँ। लेकिन कितना भी मैं दिल कड़ा करूँ जब उनकी आवाज कान में आती है, मैं भाग खड़ा होता हूँ।"

खतरे का सामना करने से बहस करना आसान है।

साँखो का पेड़ और बौंड़ी

एक मामूली छोटी-सी बौंड़ी एक बड़े और हरे-भरे साँखो के पेड़ के नीचे फैली थी। साँखो को पेड़ उससे नफरत करता था। वह यह सोचता हुआ गरूर से भरा था कि दुनिया में सबसे चतुर और सुन्दर वही है।

कभी-कभी वह कहा करता था, "मेरी ओर देखो, मैं जंगल के कुल पेड़ों में सबसे लम्बा हूँ। मेरा सर आसमान के तारों को छूता है। मैं ऐसी बहुत-सी बातों में बढ़ा-चढ़ा हूँ। मुझी से जहाजों के बड़े-बड़े मस्तूल बनते हैं, जो एक से दूसरे

सागर को आते-जाते हैं। मुझी से लोगों को लकड़ी मिलती है जिससे वे ऊँची-ऊँची इमारतें उठाते हैं। मैं दवा के काम भी आता हूँ, जिससे लोग नीरोग होते हैं। मगर, बताओ, यह नीचे पड़ी नाचीज बौंड़ी किस काम की है? वह जमीन पर घुटने टेके हुए बढ़ती है जैसे कोई मामूली कीड़ा हो। वह किसी काम में नहीं आती, केवल हानिकारक है। पास जो कुछ रहता है उसी को पंजों से बढ़कर पकड़ती है।"

बौंड़ी कुछ देर तक साँखो की गरूर से भरी बातचीत सुनती रही। फिर सादगी से जवाब दिया, "अगर तुम्हारा पारा इतना चढ़ा न होता तो तुमने यह भी कहा होता कि नाचीज होने पर भी यह अच्छे काम आ सकती है। लेकिन, खैर, तुम इतने भाग्यवान् नहीं जितनी मैं हूँ। लकड़हारा जब अपनी तेज कुल्हाड़ी लेकर पेड़ काटने आयेगा तब यह न सोचना कि तुम्हें साँखो होने से बौंड़ी होना पसन्द है।"

बहुतों का विचार है कि बौंड़ी की तरह खामोशी से बिना खतरे के निबाह करना आँख उठाकर ऊँची जगह रहने से अच्छा है।

दो घड़े

एक घड़ा मिट्टी का बना था, दूसरा पीतल का। दोनों नदी के किनारे रखे थे। इसी समय नदी में बाढ़ आ गयी, बहाव में दोनों घड़े बह चले। बहते समय मिट्टी के घड़े ने अपने को पीतलवाले से काफी फासले पर रखना चाहा।

पीतलवाले घड़े ने कहा, "तुम डरो नहीं दोस्त, मैं तुम्हें धक्के न लगाऊँगा।"

मिट्टीवाले ने जवाब दिया, "तुम जान-बूझकर मुझे धक्के न लगाओगे, सही है; मगर बहाव की वजह हम दोनों जरूर टकरायेंगे। अगर ऐसा हुआ तो तुम्हारे बचाने पर भी मैं तुम्हारे धक्कों से न बच सकूँगा और मेरे टुकड़े-टुकड़े हो जायँगे। इसलिए अच्छा है कि हम दोनों अलग-अलग रहें।"

जिससे तुम्हारा नुकसान हो रहा हो उससे अलग रहना ही अच्छा है, चाहे वह उस समय के लिए तुम्हारा दोस्त भी क्यों न हो।

लोमड़ी और कौआ

किसी समय एक चालक बुड्ढी लोमड़ी ने एक कौए को डाल पर बैठा हुआ देखा। वह चोंच में एक बढ़िया पेड़ा दबाये हुए था। लोमड़ी भूखी थी। पेड़े में नजर

गड़ाये देख रही थी। कौआ पहुँच में बहुत दूर था। कुछ अरसे के बाद उसने मन-चाही चीज पाने के लिए जल्द एक तजबीज लड़ाई।

वह पेड़ के तने के पास बैठी और ऊपर कौए की तरफ चमकीली आँखों से देखने लगी। "अजी, जनाब कौए साहब, वाह, कितने खूबसूरत हैं आप!" उसने पुकारकर कहा, "आप कुल चिड़ियों में बढ़कर हैं। आपका ऐसा रंग है जैसा कभी चढ़ा नहीं। अगर आपकी आवाज भी ऐसी ही निकली, तो बेशक आप चिड़ियों के राजा कहे जायँगे।"

तारीफ के इन अलफ़ाज़ से कौए का कलेजा उछलने लगा। अपनी आवाज की बानगी देने और यह साबित करने के लिए कि वह भी वैसी ही लासानी है, उसने चोंच खोली। पेड़ा लोमड़ी के पैरों के पास आ गिरा। उसने उसको उठाकर चट किया और चिल्ला-चिल्लाकर कहती हुई नौ-दो-ग्यारह हो गयी—"मैंने तुम्हारी खूबसूरती पर तारीफ के पुल बाँधे, जनाब कौए साहब, मगर तुम्हारी अक्ल पर परदा ही पड़ा रहने दिया।"

दुश्मन की तारीफ में आनेवाले को नुकसान उठाना पड़ता है।

जंगल और कुल्हाड़ी

किसी एक लोहार को नयी कुल्हाड़ी का काम मिला। उसे पूरा करके वह जंगल के पास गया। उससे उसने उतनी लकड़ी माँगी जितनी से कुल्हाड़ी का बेंट बन सकता था।

जंगल ने सोचा, इतनी-सी माँग पूरी करना कोई बड़ी बात नहीं। उसने लोहार को लकड़ी दी। लेकिन पेड़ों की समझ में आते ही कि इतनी लकड़ी से बाद को सारे-के-सारे पेड़ कुल्हाड़ी की धार पर उतार दिये जायँगे, वे चिल्लाये—"यह दोष हमारी ही नासमझी का है कि एक समय इससे हमारा नाश हो जायगा।"

खरगोश और मेंढक

बहुत पुराने जमाने में चौगड़े या खरगोश अपने भाग्य को बहुत रोया करते थे। अन्त में उन्होंने अपनी बुरी हालत के सुधार के लिए एक सभा की।

एक ने कहा, "भाइयो, मेरा ख्याल है, सारी दुनिया में हमीं सबसे बदनसीब हैं। हमें आदमियों, कुत्तों और बड़ी-बड़ी खूँखार चिड़ियों की कृपा पर रहना पड़ता है। ऐसे और भी बहुत से जीव हैं जिनके नाम हमें नहीं मालूम। हमें हमेशा खतरा रहता है। एक क्षण को सुख या शान्ति हमें नहीं मिलती। हम साँस लेने के लायक नहीं। हमें दरअसल इस भय और अशान्ति के कारण हमेशा के लिए दम तोड़ देना चाहिए।"

दूसरे खरगोशों ने दिल से उसकी ताईद की और कुल जमाअत का यह फ़ैसला हुआ कि सीधे पानी में डूब मरना चाहिए। पास की नदी की ओर वे तेज़-कदम बढ़े और ऐसे शोर-गुल के साथ बाँध पर पहुँचे कि उनसे मेढकों का एक दल डर-कर बदहवास हो गया।

खरगोशों से घबराकर मेढक करारे से नदी में कूदने लगे। एक पुराने गम्भीर खरगोश ने यह देखकर अपने साथियों को नदी में कूदकर जान देने से रोका।

उसने कहा, "भाइयो, हमें धीरज से काम लेना चाहिए और फिर कुछ दिन जीने के लिए लौट चलना चाहिए; क्योंकि हमारे भाग इतने नहीं फूटे जितने के लिए हम सोचते हैं। तुम देख रहे हो, दुनिया में ऐसे भी जीव हैं जो हमसे वैसे ही काँपते हैं जैसे हम दूसरों से।"

हमारे कैसे भी बुरे दिन हों, हमसे भी गिरी हालतवाले मौजूद हैं।

खच्चर और छाँह

एक दूर की देहात की बात है। गरमियों के दिन थे। एक आदमी ने एक खच्चर किराये पर लिया। उसे एक शहर में कुछ माल लाद ले जाना था। शिद्दत की गरमी थी। किरन इतनी उग्र थीं कि उस आदमी को आराम करने के लिए रास्ते के किनारे उतरना पड़ा। खच्चर की छाँह में वह आराम करने लगा। वहाँ कोई दूसरी छाँह न थी।

खच्चर का किरायेदार इस तरह आराम कर रहा था, पर उसके मालिक से वह तेज धूप खड़े-खड़े बरदाश्त न की गयी। उसने झटककर कहा, "चलो, खच्चर शहर तक के लिए किराये पर लिया गया है, न कि बीच में पेड़ की छाँह बनाने के लिए।"

किरायेदार ने कहा, "जब तक शहर का रास्ता पूरा नहीं होता, खच्चर मेरा है, तुम किराया ले चुके हो।"

"जरूर," खच्चर के मालिक ने कहा, "तुमने खच्चर को किराये पर लिया है, न कि छाँह को।"

समझदार आदमी उतना ही देता है जितना हक है। उससे ज्यादा नहीं।

सुअर और गधा

एक खास मामले में एक सुअर और एक गधे की लड़ाई हो गयी। अन्त में उन दोनों ने मन में ठान ली कि वे एक दूसरे से निपट लेंगे। सुअर को अपने लम्बे नुकीले दांतों पर भरोसा था। उसने सोचा कि उसके दुश्मन के पास सर और मुंह को बचानेवाला वैसा कोई हथियार नहीं, इसलिए वह आसानी से उसे ले-दे लेगा।

यह सोचकर वह गधे पर टूटा। ज्योंही वह पहुँच के अन्दर आया कि गधा घूम गया और गुस्से से भरकर उसके सर पर दुलत्ती जमायी। सुअर के पैर उखड़ गये, वह कांपा और पीछे हटा। जब बात करने की ताव आयी, तब उसने कहा, "मैंने कभी सोचा ही नहीं कि तुम मुझसे इस बुरी तरह पेश आओगे।"

विपत्ति ज्यादातर वहीं से आती है जहाँ से उसकी आशा नहीं की जाती।

कंजूस और सोना

एक आदमी था जिसके पास काफी जमींदारी थी, मगर दुनिया की किसी दूसरी चीज से सोने की उसे अधिक चाह थी। इसलिए पास जितनी जमीन थी, कुल उसने बेच डाली। और उसे कई सोने के टुकड़ों में बदले। सोने के इन टुकड़ों को गलाकर उसने बड़ा गोला बनाया और उसे बड़ी हिफाजत से जमीन में गाड़ दिया। उस गोले की उसे जितनी परवाह थी, उतनी न बीवी की थी, न बच्चे की, न खुद अपनी जान की। हर सुब्ह वह उस गोले को देखने के लिए जाता था और यह मालूम करने के लिए कि किसी ने उसमें हाथ नहीं लगाया, वह देर तक नजर गड़ाये उसे देखा करता था।

कंजूस की इस आदत पर एक दूसरे की निगाह पड़ गयी। जिस जगह वह सोना गड़ा था, धीरे-धीरे वह ढूंढ़ निकाली गयी। आखिर में एक रात किसी ने वह सोना निकाल लिया।

दूसरे रोज सुब्ह को कंजूस अपनी आदत के अनुसार सोना देखने के लिए गया, मगर जब उसे वह गोला दिखायी न पड़ा, तब वह गम और गुस्से से जामे से बाहर हो गया।

उसके एक पड़ोसी ने उससे पूछा, "इतना मन क्यों मारे हुए हो ? अस्ल में तुम्हारे पास कोई पूंजी नहीं थी, फिर कैसे वह तुम्हारे हाथ से चली गयी ? तुम सिर्फ एक शौक ताजा किये हुए थे कि तुम्हारे पास पूंजी थी। तुम अब भी खयाल में लिये रह सकते हो कि वह माल तुम्हारे पास है। सोने के उस पीले गोले की

जगह उतना ही बड़ा पत्थर का एक टुकड़ा रख दो और सोचते रहो कि वह गोला अब भी मौजूद है। पत्थर का वह टुकड़ा तुम्हारे लिए सोने का गोला ही होगा, क्योंकि उस सोने से तुमने सोनेवाला काम नहीं लिया। अब तक वह गोला तुम्हारे काम नहीं आया। उससे, आँखें सेंकने के सिवा काम लेने की कभी तुमने सोची ही नहीं।"

यदि आदमी धन का सदुपयोग न करे, तो उस धन की कोई कीमत नहीं।

बेवकूफ हिरन

एक हिरन तालाब में पानी पी रहा था। पानी बहुत साफ था। उस पर उसकी परछाईं पड़ रही थी। उसने देखी। 'कैसी बड़ी-बड़ी शाखोंवाली, मेरी सींगें हैं।' उसने अभिमान में भरकर सोचा। फिर उसने नीचे अपने दुबले-पतले पैर और छोटे-छोटे खुर देखे। उसने कहा, "अफसोस है ! दौड़ने के लिए कैसे दुर्बल अंग मुझे मिले हैं। अगर मेरे पैर मेरी सींगों की ही तरह सुन्दर और मजबूत होते, तो मैं अपने कुल दुश्मनों के मुकाबले बाजी मार ले जाता।"

जब वह इस तरह अफसोस कर रहा था, उसने दूर से आती हुई तुरही की आवाज सुनी। 'मेरे पीछे शिकारी आ रहे हैं' उसने आवाज लगायी और बात-की-बात में हवा हो गया।

शिकारियों की आँखों के सामने से उसके तेज पैर और हल्के खुर उसे दूर के पहाड़ और उपत्यका पर निकाल ले गये। देखते-देखते वह उनकी पहुँच से बाहर और खतरे से अलग हो गया। इसके बाद वह एक घने बन में घुसा। वहाँ पेड़ एक दूसरे से ऐसे सटे हुए उलझी लताओंवाले थे कि उसकी बड़ी-बड़ी शाखाओंवाली सींगें फँस गयीं और वह जहाँ का तहाँ बँध गया। धीरे-धीरे वे शिकारी वहाँ पहुँचे और उसको पकड़कर मार डाला।

मौत को बहुत पास देखकर हिरन ने मन मारकर कहा, "हाय, मैंने अपने सर का ही घमण्ड किया जिससे मुझे मौत का मुंह देखना पड़ा। मैंने अपने पैरों की खिल्ली उड़ाई थी, अगर मैंने उनकी वैसी की तारीफ की होती तो वे मुझे बचाव की जगह तक पहुँचा चुके होते।"

इस कहानी से यह सीख मिलती है कि आदमी जिस चीज की सबसे ज्यादा कद्र करता है उससे बाद को उसे सबसे ज्यादा चोट पहुँचती है। लेकिन वह इसको समझने में कभी-कभी देर कर जाता है। जो चीजें और जो आदमी भले और खूबसूरत मालूम होते हैं, मुसीबत और आफत के दिनों में उनसे यही सीख मिलती है कि वे विश्वास करने लायक न थे।

किसान, उसका हल और गधा

एक देहाती किसान था। दिन-भर वह अपने बैलों से खेत जोतता रहा। शाम तक तीनों थक गये। बैलों को सानी-पानी के लिए उसने घर भेज दिया, और थका हुआ अपने गधे पर हल और माची लादकर चढ़ा।

पीठ पर इतने बोझ के चढ़ने पर कमजोर गधा वहाँ से एक कदम भी न हिला, बल्कि वहीं जमीन में गड़-सा जाने लगा। किसान को यह देखकर दया आयी। उसने गधे की पीठ पर बैठे हुए ही, हल को उठाकर अपने कन्धे पर रख लिया और चुमकारकर गधे से कहा, "चलो, चलो, मेरे समझदार बच्चे, मुझे तो तुम बड़े मजे में ले चल सकते हो?—तुम्हारा बोझ हल्का करने के लिए हल को मैंने अपने कन्धे पर रख लिया है।"

महावीर और गाड़ीवान

एक गाड़ीवान अपनी भरी गाड़ी लिये जा रहा था। गली में कीचड़ था। गाड़ी के पहिये एक खन्दक में धँस गये। बैल पूरी ताकत लगाकर भी पहियों को निकाल न सके। बैलों को जुए से खोल देने की जगह, गाड़ीवान ऊँचे स्वर से चिल्ला-चिल्लाकर इस बुरे वक्त में देवताओं की मदद माँगने लगा कि वे उसकी गाड़ी में हाथ लगायें। उसी समय सबसे बली देवता महावीर गाड़ीवान के सामने आकर खड़े हो गये, क्योंकि उसने उनका नाम लेकर कई दफे उन्हें पुकारा था।

उन्होंने कहा, "अरे आलसी आदमी, पैंजनी से अपना कन्धा लगा, और बैलों को बढ़ने के लिए ललकार। अगर इस तरह गाड़ी नहीं निकली, तब तेरा काम देवताओं को पुकारना होता है। क्या तुम्हारे विचार में यह आता है कि जब तुम खड़े हो, उन्हें तुम्हारे लिये काम करना पड़ता है? यह अनुचित है।"

जो अपनी मदद करता है, ईश्वर उसी की मदद करते हैं।

बन्दर और लोमड़ी

तुमने उस चालाक शेर के बारे में सुना होगा जो किसी जंगल में जानवरों का राजा था। वह काफी बुड्ढा होकर मरा, और उसके दम तोड़ने के बाद जंगल के जानवरों

ने दूसरा राजा चुनने के लिए सभा की। कइयों ने इस पद के लिए अपना नाम रखा, मगर ऐसी ऊँची जगह के लिए एक भी लायक न साबित हुआ। आखीर चुनाव एक बड़े बन्दर का हुआ। उसकी चालाकी, खेल-तमाशे और मसखरी से भरी हरकतों से हर एक ने उसे सबसे चतुर समझा और जानवरों में सबसे लायक शासक माना।

इस चुनाव से एक लोमड़ी खुश नहीं हुई। उसने खुद राजा होने की सोची थी। एक बन्दर उस पर चढ़ा मालूम कर बहुत चिढ़ी। फिर उसके पंजे से छुटकारा पाने के लिए एक तजबीज लड़ाई।

एक रोज वह बन्दर के पास पहुँची। और कान में ऐसी लगी जैसे कोई भेद खोल रही हो। उसने कहा, "जहाँपनाह के अच्छे काम आऊँगी अगर मेरी बात सुनी गयी और दूसरे के कान न की गयी।" बन्दर को, सुनने के लिए ख़ुद-ब-ख़ुद मजबूर होना पड़ा।

लोमड़ी ने कहा, "सामने के उस निचले जंगल में धन की राशि छिपायी है; मैंने देखा है; लेकिन यह महाराज के अधिकार में है। मैंने इसको छुआ नहीं। मेरे साथ चला जाय। मैं बता दूँगी।"

दोनों साथ-साथ चल दिये। लोमड़ी बन्दर को एक खलारे में ले गयी जहाँ लम्बी-लम्बी घास और नली थी।

उसने धीरे से कहा, "यहाँ क़दमशरीफ ले चलिए, इस घास के अन्दर आपको खजाना मिलेगा।"

जैसा कहा गया, बन्दर ने वैसा ही किया। देखो, कुछ ही लमहे के बाद, एक आवाज हुई, फिर एक चीख सुन पड़ी। बन्दर जाल में फाँस लिया गया।

"विश्वासघाती नीच," महाराज ने कहा, फिर दर्द और गुस्से पर चढ़ने-उतरने लगे।

"वाह, वाह ! भोंदू महाराज !" लोमड़ी ने बात मारी, फिर कटकर कहा, "दूसरों पर शासन तुम क्या करोगे जब अपनी भी खबर तुम्हें नहीं।"

मेढक और उनका राजा

पुराने जमाने में लोगों का खयाल था कि देवता कही जानेवाली ताकतें जीवों पर मिहरबानी की निगाह रखती थीं। इस समय मेढकों का एक दल एक बड़े तालाब में एकसाथ रहता था। उनके दिल में जो बात आती थी, वही करते थे; लेकिन वे जिसके बस हों, ऐसा न कोई कानून था, न नियम; क्योंकि उन पर शासन करने-

वाला या उनसे काम लेनेवाला कोई न था। धीरे-धीरे एक ही रहन-सहन से वे आदी आ गये। उनके जी में बस गया कि एक राजा होना चाहिए। इस विचार से उन्होंने कुल देवताओं के नायक मदनदेव से निवेदन किया कि वह उनके लिए एक शासक भेज दें।

मदन ने सोचा, 'मेढक अक्ल के दुश्मन हैं।' इस विचार से उन्होंने एक बड़ा लक्कड़ उस तालाब में डाल दिया और कहा, "यह तुम्हारा राजा है।"

उस मोटे लक्कड़ के गिरने और पानी में जोर के हिलकोरों के आने से मेढक डरे। उनकी अक्ल जाती रही। हर मेढक डुबकी लगाकर अपने बिल में पहुँचा। वहाँ एक अरसे तक छिपा रहा। बाहर निकलने को बहुत घबराया।

आखीर को दूसरों से अधिक साहसी एक मेढक ने पानी के ऊपर सर निकालने की हिम्मत की। उसे यह मालूम करना था कि राजा क्या कर रहा है। तब तक हिलकोरे रुक चुके थे। लक्कड़ तालाब में चुपचाप पड़ा था। उस मेढक में कुछ और हिम्मत हुई। उसने एक छलाँग भरी और उस लक्कड़ पर हो रहा। इसके बाद उसने अपने साथियों को पुकारा, जिनकी उसे वहाँ बैठा हुआ देखकर हिम्मत बढ़ी। जल्द ही मेढकों का सारा दल राजा की पीठ पर विराजमान हुआ और उछल-कूद मचाने लगा।

कुछ ही देर में इस खेल से वे थक गये। "ऐसे राजा से कौन-सा फायदा? वह न हिलता है, न बोलता है। ऐसे राजा के होने से न होना अच्छा है।" उन्होंने मदन से गुजारिश की कि उस लकड़े की जगह कोई दूसरा राजा भेजा जाय।

खैर मदन ने उनके लिए ईल नाम की लम्बी पूंछवाली मछली भेज दी; लेकिन ईल का भी उन मेढकों ने वैसा ही मजाक बनाया; फिर उससे भी उनका कोई वास्ता न रह गया। एक दफे फिर उन्होंने मदन से राजा बदलने की आरजू की। पर इस दफे मदन देवता को गुस्सा आ गया। उन्होंने 'स्टार्क' नाम की एक दरियाई चिड़िया भेज दी। उन बेवकूफ मेढकों को तब पछताने का अवसर हाथ आया कि वे पहले राजा से खुश नहीं रह सके। भूखी स्टार्क उन पर टूटने लगी और एक-एक करके कुल मेढकों को चट कर गयी।

इस कहानी के पहले सुनानेवालों का कहना है, बने वक्त में जो बिगड़े रहते हैं उन्हें बुरे दिनों में धीरज से काम लेना चाहिए। आगे बढ़ने-बिगड़ने से और अच्छा है कि लोग जहाँ हैं वहीं जमे रहें।

सौदागर और कप्तान

एक सौदागर समुद्री यात्रा कर रहा था। एक रोज उसने जहाज के कप्तान से पूछा, "कैसी मौत से तुम्हारे बाप मरे?"

कप्तान ने कहा, "जनाब, मेरे पिता, मेरे दादा और मेरे परदादा समन्दर में डूब मरे।"

सौदागर ने कहा, "तो बार-बार समुद्र की यात्रा करते हुए तुम्हें समन्दर में डूबकर मरने का खौफ नहीं होता ?"

"बिलकुल नहीं," कप्तान ने कहा, "जनाब, कृपा करके बतलाइये कि आपके पिता, दादा और परदादा किस मौत के घाट उतरे ?"

सौदागर ने कहा, "जैसे दूसरे लोग मरते हैं, वे पलँग पर सुख की मौत मरे।"

कप्तान ने जवाब दिया, "तो आपको पलंग पर लेटने का जितना ख़ौफ होना चाहिए, उससे ज्यादा मुझे समुद्र में जाने का नहीं।"

विपत्ति का अभ्यास पड़ जाने पर वह हमारे लिए रोजमर्रा बन जाती है।

'भेड़िया, भेड़िया'

एक चरवाहा लड़का गाँव के ज़रा दूर पर पहाड़ी पर भेड़ें ले जाया करता था। उसने मजाक करने और गाँववालों पर चढ़्ढी गाँठने की सोची। दौड़ता हुआ गाँव के अन्दर आया और चिल्लाया, "भेड़िया, भेड़िया! मेरी भेड़ों में भेड़िया लगा है।"

गाँव की जनता टूट पड़ी। भेड़िये खेदने के हथियार ले लिये। लेकिन उनके दौड़ने और व्यर्थ हाथ-पैर मारने की चुटकी लेता हुआ चरवाहा लड़का आँखों में मुस्कराता रहा। समय-समय पर, कई बार उसने यह हरकत की। लोग धोखा खाकर उतरे चेहरे से लौट आते थे।

एक रोज सही-सही उसकी भेड़ों से भेड़िया लगा और एक के बाद दूसरी भेड़ तोड़ने लगा। डरा हुआ चरवाहा गाँव आया और "भेड़िया-भेड़िया!" चिल्लाया।

गाँव के लोगों ने कहा, "अबकी बार चकमा नहीं चलने का। चिल्लाता रहे।"

लड़के की चिल्लाहट की ओर उन लोगों ने ध्यान नहीं दिया। भेड़िये ने उसके दल की कुल भेड़ें मार डालीं, एक को भी जीता नहीं छोड़ा।

इस कहानी से यह नसीहत मिलती है कि जो झूठ बोलने का आदी है उसके सच बोलने पर भी, कभी लोग विश्वास नहीं करते।

भेड़ को हैरान करनेवाला कुत्ता

एक गड़रिये के पास एक कुत्ता था। वह उसे बहुत प्यारा था। दूसरे कुत्तों से उस पर उसे ज्यादा भरोसा था। वह अपने हाथ उसे खिलाता था और दिन-रात उसे साथ लिये फिरता था।

एक मुद्दत तक उस गड़रिये और कुत्ते की दोस्ती रही। एक दिन उस गड़रिये ने देखा, उसकी भेड़ें बहुत परेशान हैं। जाँच करने से मालूम हुआ कि कुत्ते के कारण कुछ की जानें भी चली गयी हैं। वह कुत्ते पर निगाह रखने लगा और जल्द ही उसे सचाई मालूम हो गयी। कुत्ते से उसका विश्वास जाता रहा, क्योंकि भेड़ों की रखवाली करने की जगह वह उन्हें दौड़ाता और परेशान करता था।

आँखें बदलकर गड़रिये ने कुत्ते को पकड़ा और मरने के लिए तैयार होने को कहा। कुत्ते ने पुकारकर कहा, "ऐ मेरे मालिक, क्या आप भूल गये कि मैं आपके परिवार का एक हूँ? इतना सोचिए कि मैं एक वफादार नौकर ही था, और अब मैं बूढ़ा हो गया हूँ। मुझे मौत की सजा न दीजिए। क्या यही सजा आपको उन भेड़ियों को न देनी चाहिए जो आपकी भेड़ों को परेशान किया करते हैं?"

सूखे स्वर से मालिक ने जवाब दिया, "नहीं, कभी नहीं, चालीस भेड़ियों का हमला मुझे कुबूल है, जिनका रोज का काम भेड़ों को मारना है, मगर एक कुत्ते का भेड़ों को हैरान करना मंजूर नहीं जिसका काम उनकी रखवाली करना है। भेड़ों को मारना भेड़ियों का स्वभाव है; मगर जब भेड़ों का रखवाला कुत्ता ऐसा करता है, वह साबित करता है कि वह दगाबाज के सिवा और कुछ नहीं।"

कहानी हमें यह सीख देती है कि झूठे दोस्त नीच से नीच दुश्मन हैं।

दुमकटी लोमड़ी

एक बार जाल में एक लोमड़ी पकड़ गयी। दाँव-पेंच करके वह उससे निकल तो भगी, मगर उसकी पूँछ जाल में फँसकर कट गयी। पूँछ के न रहने से उसके मन में बड़ा धिक्कार पैदा हुआ। उसने सोचा, 'बिना पूँछ के मुँह दिखाना मोहाल है; जो भी जानवर देखता है, मेरी खिल्ली उड़ाता है।'

एक दिन उसके मन में यह विचार आया 'अगर दूसरे जानवर भी बिना पूँछ के हो जाते तो मैं आसानी से यह कलंक धो सकती थी।'

यह सोचकर उसने कुल लोमड़ियों को एक दिन इकट्ठा किया और उनके पूँछ पर भाषण देने लगी।

उसने कहा, "पूँछ का सचमुच कोई काम नहीं। यह एक मुर्दा बोझ हर एक के पीछे लगा हुआ है। एक तो देखने से, इससे खूबसूरती घटती है, दूसरे लोमड़ियाँ इसके न रहने से भी कुल काम उसी आसानी से कर ले सकती हैं, इसलिए मुझे कहना पड़ता है कि आप लोग अपनी पूँछ काट डालिए।"

इस तरह वह कुछ देर तक समझाती रही। सुनकर एक लोमड़ी उठकर बोली, "पूँछ के बारे में तुम्हारा कहना सही हो सकता है। लेकिन तुम यह बतलाओ कि क्या यह सीख तुम उन्हें दे रही हो जिनके पूँछ है या उन्हें जो बिना पूँछ की हैं ?"

कुछ लोग ऐसे हैं जो दूसरों की भलाई के लिए उन्हें सीख नहीं देते, बल्कि इस तरह वे अपना ही कोई मतलब गाँठना चाहते हैं।

वरुणदेव और लकड़हारा

एक नदी के किनारे लकड़ी काटते समय लकड़हारे की कुल्हाड़ी धोखे से पानी में चली गयी। वह खाली-हाथ हो गया। इस घाटे की उसको गहरी चोट लगी। अपने भाग्य को कोसता हुआ वह वरुणदेव को पुकारने लगा ताकि उसकी कुल्हाड़ी उसको फिर मिल जाय।

वरुणदेव उसकी पुकार सुनकर वहीं प्रकट हो गये, और नदी में डुबकी लगाकर सोने की बनी एक निहायत अच्छी कुल्हाड़ी ले आये, और उस लकड़हारे से पूछा, "क्या यह तुम्हारी कुल्हाड़ी है ?"

"नहीं !" लकड़हारे ने जवाब दिया, "मेरीवाली इतनी नफीस नहीं।"

वरुण ने फिर डुबकी लगायी। इस बार वह चाँदी की एक चमचमाती कुल्हाड़ी ले आये और पूछा, "क्यों, यह तुम्हारी कुल्हाड़ी है ?"

"नहीं।" उस नेक लकड़हारे ने जवाब दिया, "मेरीवाली यह भी नहीं।"

फिर तीसरे बार उस देवता ने पानी में डुबकी लगायी और लकड़ी के मामूली बेंटवाली कुल्हाड़ी लिये बाहर निकले।

देखते ही खुश होकर लकड़हारे ने आवाज लगायी, "यही मेरी कुल्हाड़ी है।"

वरुणदेव ने कहा, "तुम भले आदमी हो। देवता ऐसे ही आदमियों को प्यार करते हैं। मेरे साथ तुमने जैसा बर्ताव किया है, इसके बदले में हम तुम्हें तुम्हारीवाली कुल्हाड़ी के साथ वह सोने और चाँदीवाली कुल्हाड़ियाँ भी देंगे।"

खुशी से भरकर लकड़हारा घर को लौटा, जल्द वह तअज्जुब पैदा करनेवाली कुल्हाड़ीवाली कहानी दूर-दूर तक फैली। सुननेवालों में एक ने हैरत और रश्क में आकर यह मनसूबा बाँधा कि अगर वह भी वैसा ही काम करे तो उसकी किस्मत भी उसी तरह पलट सकती है। इस खयाल से वह उस नदी के तट पर गया और

करारे पर बैठकर एक मील से सुन पड़नेवाली तेज आवाज से चिल्लाने लगा, "मेरी कुल्हाड़ी! हाय मेरी कुल्हाड़ी पानी में चली गयी। अब मैं क्या करूँ, हे मेरे वरुणदेवजी ?"

देवता उसी वक्त उसकी बगल में आकर खड़े हो गये और क्षण-भर में उन्होंने पानी में गोता लगाया। जब वह पानी से निकले, वह अपने हाथ में एक सोने की कुल्हाड़ी ले आये।

उन्होंने पूछा, "क्या यह तुम्हारी कुल्हाड़ी है ?"

उस आदमी ने जवाब दिया, "हाँ, हाँ, यही है।" उस आदमी ने लोभी हाथ कुल्हाड़ी पकड़ने के लिए फैलाया।

गुस्से में आकर वरुणदेव ने कहा, "अबे बेहूदे गधे। जो तेरे दिल तक हाल मालूम किये हुए है उससे क्या तू ओछी चाल चल रहा है ?"

यह कहकर वह गायब हो गये। वह सोने की कुल्हाड़ी अपने साथ ले गये। वह आदमी मन मारकर अपने घर लौटा, लेकिन उसके मन की आँख कुछ-कुछ खुल गयी।

साही और साँप

कड़ाके की सर्दी पड़ रही थी। एक साँप ने, खुशामद पर आकर एक साही को अपने बिल में रहने की जगह दी। वह बिल एक छोटा-सा बिल था। उसमें घूमने-फिरने की काफी जगह न थी। साही के ज़रा हिलते ही उसके काँटे साँप के चुभते थे।

साँप ने कहा, "दोस्त, इस बिल में बहुत थोड़ी जगह है; दो इसमें मुश्किल से अट सकते हैं, तुम्हें बड़ी तकलीफ होती होगी ?"

आराम की आवाज में साही ने कहा, "ऐसी हालत में जिसे रहने की दिक्कत हो उसे चला जाना चाहिए। मेरी पूछते हो, तो मैं बड़े आराम से हूँ। अगर तुम्हें आराम नहीं तो तुम जब चाहो, इस बिल को छोड़ जाओ।"

यह कहकर उसने अपनी रीढ़ घुमायी और साँप को अपनी सूरत निकाल लेने को छोड़ दिया। वह उन आदमियों जैसी थी जो अपने मिले हुए हिस्से से ज्यादा लेने की ताक में रहते हैं।

खरगोश और कछुआ

एक चौगड़े या खरगोश को अपनी तेज रफ्तार का घमण्ड था। उसने धीमी चालवाले एक कछुए से मजाक करना शुरू किया। उसने कहा, "भगवान जाने मैंने सिकुड़कर चलनेवाला ऐसा लिब-लिब जानवर जिन्दगी में नहीं देखा। अगर तुम दुनिया का छोर ढूंढ़ने निकलो तो जरूर तुम हजार साल लगा दोगे।"

कछुए ने कहा, "अच्छा, आज मैं तुमसे बदकर एक दौड़ दौड़ूंगा।"

"पक्की," चौगड़े ने हँसकर कहा। फिर दोनों जज चुनने के लिए लोमड़ी के पास गये।

लोमड़ी राजी हो गयी और दौड़ में दोनों को छोड़ दिया। कछुआ शान्त चित्त से चलने में लगा रहा। मगर चौगड़ा कुछ दूर चलकर जमीन पर लेटकर आराम करने लगा। 'मैं ज़रा देर झपकी भी तो ले सकता हूँ', उसने कहा, 'क्योंकि मैं जब चाहूँगा इस बूढ़े मट्ठर को पकड़ लूँगा।'

यह सोचकर ठण्डे दिल से वह खर्राटे लेने चला। लेकिन बदकिस्मती से वह देर तक सोता रहा। जब उसकी आँख खुली, कछुआ दौड़ की खूँटी के पास पहुँच रहा था। खरगोश चौकन्ना हुआ और उसके पीछे तेज रफ्तार बढ़ा। लेकिन अपनी पूरी ताकत लगा देने पर भी वक्त के रहते उसको पकड़ न सका। कछुआ उसके छूने से पहले जीतनेवाली खूँटी को पार कर गया। इस तरह बाजी उसी के हाथ रही।

धीमा और इरादेदार होना जल्द और लापरवाह होने से अच्छा है।

मछुआ और उसकी बंसी

एक मछुआ था। जीविका के लिए मछली न पकड़कर वह बंसी बजाया करता था। एक दिन नदी के करारे पर बैठा और बंसी बजाने लगा। उसने सोचा, बंसी के स्वर से मोहकर मछलियाँ पानी के ऊपर निकल आयेंगी। तब वह बिना मेहनत के उन्हें पकड़ लेगा।

लेकिन इस तरह एक भी मछली की सूरत न देख पड़ी। तब उसने बंसी एक किनारे रख दी और अपना जाल निकालकर डाला। धीरे-धीरे वह जाल खींचने लगा और देखा, बड़ी सुन्दर-सुन्दर मछलियाँ फँस गयी हैं। जाल के भीतर वे एक दूसरी पर उलट-पलट रही थीं।

उसने कहा, "तुम महामूर्ख हो, जब तक मैंने बंसी बजायी, तुम नहीं नाचीं। जान पड़ता है, बिना संगीत के ही तुम नाचती हो।"

बुड्ढा आदमी और गधा

एक बुड्ढा अपने छोटे-से लड़के के साथ बाजार एक गधा लिये जा रहा था। गधे के पीछे दोनों पैदल चल रहे थे। कुछ आदमी आपस में हँसी-मजाक करते हुए चले जा रहे थे। उन बाप-बेटों को देखकर वे एक-दूसरे को धक्के मारते हुए कहने लगे, "कैसे बुद्धू तुम दोनों हो कि इस गधे को बिना सवारी के लिये जा रहे हो। तुम दोनों में यह एक को पीठ पर ले सकता है। इस तरह एक की पैदल चलने की तकलीफ बच जायगी।"

"आपकी बात मारकेकी है," उस बूढ़े ने जवाब दिया। इसके बाद उसने लड़के को गधे की पीठ पर चढ़ा दिया। वे फिर राह चलने लगे।

धीरे-धीरे उनकी कुछ और लोगों से चार आँखें हुईं। देखने पर उन आदमियों को जैसे काठ मार गया। वे खड़े-के-खड़े रह गये। फिर आपस में बातचीत करने लगे—"उस नालायक आलसी बच्चे को देखो जो मजे में गधे पर चढ़ा चला जा रहा है। यह बेचारा बूढ़ा बाप पैदल चलता हुआ धूल फाँक रहा है। लानत ! नालायक आलसी बच्चे। उतर और अपने बाप को चढ़ा।"

यह सुनकर उस बूढ़े बाप ने बच्चे को उतार दिया और खुद गधे की पीठ पर जा बैठा। रफ्ता-रफ्ता जब वे एक गाँव से गुजर रहे थे, औरतों का एक झुण्ड रास्ते के किनारे मिला। देखकर कुछ औरतें चीख उठीं—"देखो तो इस आलसी बुड्ढे को। बचकाने गधे की पीठ पर ऐंठता चला जा रहा है और यह छोटा-सा बच्चा पीछे-पीछे दौड़ रहा है। बेचारे की साँस फूलती आ रही है, मुश्किल से भी साथ नहीं पूरा कर पा रहा। इस बुड्ढे को चुल्लू-भर पानी की तलाश करनी चाहिए।"

ये बातें सुनकर बुड्ढे ने बच्चे को भी चढ़ा लिया और तीनों आगे बढ़े।

कुछ देर बाद एक आदमी आम सड़क पर उन्हें मिला। रुककर उसने उनकी तरफ देखा। "अर्ज है, जनाबमन" उसने बूढ़े से कहा, "बतलाइयेगा, क्या यह आपका गधा है ?"

"इसमें क्या शक ?" उसने जवाब दिया।

"अच्छा" उस राही ने हँसकर कहा, "इस पर जैसा बोझ आपने रक्खा है, देखकर मैं उस नतीजे पर पहुँचा था।" यह कहकर हँसता हुआ वह चला गया।

"हे राम" उस बूढ़े ने कहा, "ऐसी हालत में क्या किया जाय ? लोग घूरेंगे, हँसेंगे और कहाँ मुझसे नहीं बनी—इशारा करेंगे, चाहे मैं गधे को खाली पीठ चलाऊँ, या एक सवार हो या दोनों। अच्छा, एक दूसरा रास्ता निकाला जाय।"

खैर, उसने उलटकर, एक लट्ठे में गधे के पैर बाँधे और बाप-बेटे ने दोनों सिरों में कन्धा लगाया और उसे ढोकर ले चले। इस तरह वे एक पुल के पास पहुँचे जिसका रास्ता नदी के ऊपर से एक शहर के बाजार को गया था।

शहर की तमाम जनता उन्हें देखकर ठहाके लगाती, गला फाड़-फाड़कर

चिल्लाती और तालियाँ पीटती हुई बाहर निकल आयी। कहने लगी, क्या पहले भी कभी ऐसा नज्जारा देख पड़ा ! एक मोटा-ताजा जिन्दा गधा एक लट्ठे से बँधा हुआ दो आदमियों के कन्धे पर ढोया आ रहा है, जिस पर चढ़कर भी ये लोग आ सकते थे। भीड़ इतनी बढ़ी और चिल्लाहट इतनी ऊँची हुई कि वह गधा रेंकने और पैर झटकने लगा। आखीर को, पैरों को बाँधनेवाली रस्सियाँ तुड़ाकर नदी के पुल पर गिर पड़ा।

वह बुड्ढ़ा लड़के का हाथ पकड़कर घर के लिए लौटा और जितने तेज कदम चल सकता था, चला। उसकी त्यौरियाँ बदली हुई थीं, मगर वह बेवकूफ न बन रहा था। उसने हर एक को खुश रखने की कसर न उठा रखी, अकसर जैसा होता है, मगर किसी को भी न खुश कर पाया। बदले में बेचारा बुड्ढा अपना गधा गँवा बैठा।

शारदा और मोर

शारदा देवताओं की रानी थीं। वैसी रूपवती दूसरी देवी नहीं थी। उनकी प्यारी चिड़िया मोर था। खुशनुमा परों और भारी-भरकम आकार के कारण वह देवताओं की रानी सरस्वती का वाहन होने लायक था।

कुछ हो, एक दिन मोर ने मन में सोचा, 'मेरे साथ बड़ा बुरा बर्ताव किया गया है। मुझे वैसी अच्छी आवाज नहीं दी गयी जैसे कोयल को, नहीं तो रूप के अनुरूप ही मेरा स्वर होता।' उसने शारदा से कोयल की-सी आवाज माँगी। देवी ने उसकी विनय पर यह उत्तर दिया—

"हर चिड़िया को उसके योग्य दान मिला है। कोयल काली और सीधी चिड़िया है। उसको मधुर स्वर मिला। तुम्हारी आवाज तीखी और दिल को वैसी लुभाने-वाली नहीं, मगर तुम्हारे पर इतने सुन्दर हैं कि देखकर दूसरों को जलन होती है। तुम्हें जो कुछ मिला है, उसके लिए कृतज्ञ रहो। जो तुम्हें नहीं मिल सकता, उसके लिए हाथ न बढ़ाओ। अपने भाग्य से सन्तोष रखना सीखो।"

धनी और गरीब

चिल्ले जाड़े की सुबह को एक गरीब आदमी, नंगे पैर, नंगे सिर, थोड़े से कपड़े पहने हुए, आम सड़क पर खुशी-खुशी चला जा रहा था। दैवयोग से घोड़े पर सवार

एक शरीफ चले आ रहे थे। वे अच्छे पशमीने का कुरता पहने, टोपी दिये, नली के जूते पहने हुए थे।

मारे जाड़े के उस शरीफ के दाँत बज रहे थे, उसने उसे पुकारकर कहा, "तुम्हारा भला हो, मित्र, ऐसे जाड़े में बराये नाम कपड़े पहने हुए कैसे तुम राह चल रहे हो ?"

वह आदमी हँसा। कहा, "क्यों जनाब, तुम्हारा खुला हुआ मुँह किस तरह ऐसी सर्दी बरदाश्त करता है ?"

शरीफ ने जवाब दिया, "मेरे मुँह को सह गया है।"

गरीब ने कहा, "ऐसा ही हाल मेरे शरीर का है। मैं मुँह-ही-मुँह हूँ।"

सह जाने पर मुश्किलें आसानी से झिल जाती हैं।

गधा और मेढक

एक गधा लकड़ी का भारी बोझ लिये जा रहा था। वह एक दलदल में गिर गया। वहाँ मेढकों के बीच जा लगा। रेंकता और चिल्लाता हुआ वह इस तरह साँसें भरने लगा जैसे दूसरे ही क्षण मर जायगा।

आखीर को एक मेढक ने कहा, "दोस्त, जबसे तुम इस दलदल में गिरे, ऐसा ढोंग क्यों रच रहे हो ? मैं हैरत में हूँ, जबसे हम यहाँ हैं अगर तबसे तुम होते तो न जाने क्या करते ?"

हर बात को जहाँ तक हो सँवारना चाहिए। हमसे भी बुरी हालतवाले दुनिया में हैं।

घोड़ा और सिंह

एक भूखे बुड्ढे सिंह ने कुछ दिनों तक एक सुन्दर घोड़े को ताका। उसने सोचा, इसमें बड़ा उत्तम और पूरा भोजन है। फिर उसने उसको पकड़ने की ठानी। लेकिन घोड़ा बहुत तेज था, इसलिए सिंह को मालूम हो गया कि उसको पकड़ना सीधा काम नहीं। दौड़ में घोड़ा सिंह से सदा बाजी मार लेता था। दौड़ में हार खाकर सिंह ने उसे पकड़ने की दूसरी सूरत निकाली। वह जालसाजी थी।

वह एक वैद्य बना और घोड़े के पास चलकर ऊँचे दरजे की बातचीत करने लगा कि हर तरह के रोग को वह क्षण-भर में दूर कर सकता है। घोड़ा सुनता रहा,

लेकिन वह इतना बुद्धू न था कि जनाब शेर की बातों में आ जाता। उसने यह तय किया कि इसका नतीजा कुछ भी नहीं हासिल होने का।

कुछ देर की बातचीत के बाद घोड़े ने कहा, "वैद्यजी, उस दिन उस झाड़ी से निकलते समय मेरे पैर में एक काँटा चुभ गया, इसमें बड़ा दर्द हो रहा है। मैं एक तरह से लँगड़ा हो गया हूँ।"

सिंह ने कहा, "जरा हमें देख तो लेने दो।" उसे खुशी हुई कि घोड़ा उसके जाल में फँस रहा है। फिर कहा, "जरा देर खुर उठाये रहो, मैं अभी दर्द दूर किये देता हूँ।"

घोड़े का खुर लेने के लिए सिंह सामने पंजों के बल झुका। पर घोड़ा उसके लिए बहुत तेज था। उसी समय सिंह की आँखों पर घोड़े ने टापें रख दीं जिससे उसका सर चकराने लगा। वह सर मरोड़ता हुआ पंजों के बल पीछे दबा। उसी वक्त उछलकर घोड़ा दूर जा रहा और बाल-बाल बच गया। फिर अपने मन में मुस्कराने लगा। अपनी चालाकी से वह चालबाज दुश्मन को मात दे सका।

पथिक और सीपी

दो पथिक एक दिन समुद्र के किनारे से गुजर रहे थे। उस समय भाटा था। उन्होंने बालू पर पड़ी एक सीपी देखी। "बड़ी अच्छी सीपी है," दोनों एक साथ चिल्लाये और साथ ही इसकी ओर बढ़े।

एक ने झुककर उसे उठाना चाहा, मगर उसके साथी ने धक्का मारकर उसे हटा दिया। "यह किसने कहा कि यह तुम्हारी है?" उसने ऊँचे स्वर में कहा, "तुम्हारे साथ-साथ मैंने भी इसे देखा है।"

"यह जरूर मेरी है।" दूसरे ने नाराज होकर कहा, "क्या मैं ही इसके लिए पहले नहीं बढ़ा?"

"मैं तुमसे कहता हूँ, यह जितनी मेरी है, उतनी ही तुम्हारी है।" जवाब मिला।

जब वह आपस में लड़कर फैसला कर रहे थे, एक दूसरा आदमी उधर से गुजरा। दोनों पथिक उसकी ओर मुड़े और एक साँस में कुल माजरा कह सुनाया। फिर पूछा कि, "दोनों में सीपी पर दरअसल किसका अधिकार था?"

इस नये राही ने बड़ी गम्भीरता से उस सीपी को उठाया। उसे चीरकर उसके भीतर का मांस खा लिया और सीपी को ढीला करके उनकी आँखों के सामने फेंक दिया। वे दोनों ताज्जुब से भरे हुए देखते रहे। एक शब्द भी नहीं कह सके। खाकर वह राही होंठ चाटता हुआ उनकी ओर घूमा और गम्भीरता से एक समझदार

जज की आवाज में कहा, "महाशयो, अदालत ने आप दोनों को सीपी का एक-एक हिस्सा दिया है। ले लीजिए और घर चलकर आराम से जिन्दगी बसर कीजिए।"

जब दो आदमी किसी एक चीज को पाने के लिए लड़ते हैं तब वह एक तीसरे के ही हाथ लगती है।

बकरा और अंगूर की लता

एक बकरा शिकारियों से खेदा गया तो भगकर अंगूर की घनी लता के अन्दर छिप गया। शिकारियों की नजर उस पर नहीं पड़ी, वे देखते हुए निकल गये। उन्हें जाते हुए देखकर बकरा बाहर निकला और लता की पत्तियाँ और फुनगियाँ कुतरकर चरने लगा।

शिकारी बहुत दूर नहीं गये थे। उन्होंने पत्तियों का हिलना देखा। मर्मर भी सुना। फिर खोजने के लिए वे लौट पड़े। इस तरह बकरा पकड़ में आ गया। उसे वह सजा मिली जिसके बारे में वह कभी सोच नहीं सका। जिसने उसे अपनी अँधेरी गोद में छिपाया था, उसी को चरकर साफ कर देने का उसका कसूर था।

मच्छड़ और शेर

किसी जंगल में एक शेर रहता था। उसको अपनी ताकत और हिम्मत का घमण्ड था। एक रोज उसकी गरूर से भरी बातें एक मच्छड़ ने सुनीं। उसने कहा, "जनाब शेर साहब ! मुझे आपके दाँतों या पंजों की ज़रा परवा नहीं। ये बूढ़ी औरत के हथियार हैं जो अपने पड़ोसी को काटना और नोचना चाहती है। अगर हिम्मत की कहो, तो मुझे विश्वास है कि मैं तुम्हें यहीं पछाड़ दूँ; मगर चलो, जब तक तुम ऐसे लड़ाके नहीं बनते, हम दोनों लड़कर फैसला कर लें।"

शेर तैयार हो गया। दोनों मैदान में उतरे। मच्छड़ ने सीधे शेर की नाक पर हमला किया। वहाँ इस बुरी तरह काटा कि शेर ने पंजों से अपनी पूरी नाक नोंच डाली। फिर मच्छड़ शेर के इधर-उधर भनभनाने लगा, और घात मिलते ही डंक चुभाने लगा। ऐसा बीसियों जगह किया। शेर के छक्के छूट गये। उसने एक किनारा लिया। आखीर को हार मान ली।

एक बड़े दुश्मन पर गालिब होकर मच्छड़ खुशी से इतराता फिरा। मगर

अफसोस, बगैर मालूम किये कि कहाँ उड़ा जा रहा है, वह मकड़े के एक जाले से जा उलझा। फिर ऐसा फँसा कि निकलने की राह न रह गयी। एक किनारे बैठा मकड़ा शिकार की ताक में था। उसके फँसते ही उस पर टूटा और दबा बैठा। उसकी जान लेकर पलक मारते उसे निगल गया। मच्छड़ की आखिरी ख्वाहिश यह थी—"यह मेरी हालत! जरा देर पहले शेर पर मैंने फतह पायी। अब एक मामूली कीड़े से पछाड़ा गया।"

बड़ी-बड़ी मुश्किलों के मुँह से हम निकल सकते हैं, मगर कभी-कभी मामूली उलझनें हमें फँसा लेती हैं।

भेड़िये और भेड़ें

बहुतों को मालूम है भेड़ियों और भेड़ों में दुश्मनी थी। लेकिन जब तक भेड़ों की रक्षा में कुत्ते लगे रहते थे, भेड़िये होंठ चाटकर रह जाते थे। घात में लाने की सोचकर भेड़ियों ने भेड़ों के पास अपना दूत भेजा और यह कहलाया,—

"हममें काफी दुश्मनी है इसमें शक नहीं। अब हमें सुलह कर लेनी चाहिए। दोनों में किसी को खतरा न रहे, इसलिए चाहिए कि कुत्ते हमारे यहाँ आयें और हमारे बच्चे तुम्हारे यहाँ जायँ।"

सीधी भेड़ों को यह सलाह मंजूर हो गयी। लेकिन चूंकि भेड़िये के बच्चों को सिखा दिया गया था, इसलिए वे ज्यों ही भेड़ों के यहाँ पहुँचे कि चीखना शुरू कर दिया। इस पर भेड़ियों ने कहा कि, "भेड़ों ने शर्तों को नहीं माना, इसलिए हम भी भेड़ों की शर्त ठुकरा देंगे," यह कहकर वे कुत्तों पर टूट पड़े और उनका काम तमाम कर दिया। भेड़ें बिना रखवालों की हो गयीं। जल्द उन्हें भी भेड़िये चट कर गये। दुश्मन की बात पर आना नादानी है।

बिल्ली और मुर्ग

एक दिन एक अभागा मुर्ग एक बिल्ली से पकड़ा गया। बिल्ली ने उसे चट कर जाना चाहा। लेकिन ऐसा करने से पहले उसने एक पायेदार बहाना ढूंढ़ा।

उसने पुकारकर कहा, "अबे गधे, मुझे पूरा विश्वास है कि तेरे बिना भी दुनिया बहुत सुखी रहेगी। तू क्यों हर रात चीखता रहता है और लोगों की नींद

इराम करता है ?"

"नहीं जनाब," मुर्ग ने जवाब दिया, "जब तक बिस्तरा छोड़ने और टहलकर दिन का काम शुरू करने का वक्त नहीं होता, मैं किसी को नहीं जगाता।"

"अब बस कर।" बिल्ली ने कहा, "इस सुबह को मैं तेरी दूसरी बात नहीं सुनना चाहती, क्योंकि मेरे नाश्ते का समय है, और मैं तुझे बता दूँ कि बिल्लियाँ बातों पर जीती हैं।"

यह कहकर वह उस पर टूटी और अपने दाँत और पंजे गड़ा दिये। फिर मुर्ग और कहानी दोनों का अन्त हो गया।

शिकार को निकला शेर

एक शेर एक रोज जंगल में शिकार के लिए निकला। उसके साथ एक गधा और कुछ दूसरे जानवर थे। सब-के-सब का यह मत ठहरा कि शिकार का बराबर हिस्सा लिया जायगा। आखिरश एक हिरन पकड़ा और मारा गया। जब साथ के जानवर हिस्सा लगाने चले, शेर ने धक्के मारकर उन्हें अलग कर दिया और कुल हिस्से छाप बैठा।

उसने गुर्राकर कहा, "बस हाथ हटा लो। यह हिस्सा मेरा है, क्योंकि मैं जंगल का राजा हूँ; और यह हिस्सा इसलिए मेरा है क्योंकि मैं इसे लेना चाहता हूँ, और यह इसलिए कि मैंने बड़ी मिहनत की है। और इस चौथे हिस्से के लिए तुम्हें मुझसे लड़ना होगा अगर तुम इसे लेना चाहोगे।" खैर, उसके साथी न तो कुछ कह सकते थे, न कर सकते थे; जैसा अक्सर होता है, शक्ति सत्य पर विजय पाती है, वैसा ही हुआ।

सूरज और हवा

एक बार सूरज और हवा की यह बहस छिड़ी कौन ज्यादा ताकतवर है। दोनों ने इस तरह इसका फैसला किया। एक राही कपड़े लत्ते से लैस आम सड़क से चला जा रहा था। उन्होंने कहा, "जो इसके कपड़े उतरवा दे वह ज्यादा ताकतवर।"

पहले हवा की बारी आयी। अपनी पूरी ताकत से हवा बही। आँधी उठी, गुस्से से भरे हुए झोंके-पर-झोंके बिजली के जैसे उस राही पर टूटने लगे। लेकिन वह

आदमी हिम्मत बाँधे हुए आँधी के रुख के खिलाफ चलता गया। बदन में गरमी पहुँचाने के लिए उसने अपने कपड़े मजबूती से लपेट लिये। फिर बाँकपन से सर झुकाये बागी कदम उठाये। कुछ देर में आँधी का वेग धीमा पड़ा। वह मिटती-मिटती मिट गयी। तब सूरज ने अपना काम जारी किया। राही पर कड़कीली किरनें डालने लगा। उसका बदन झुलस चला। फिर भी वह हिम्मत बाँधे हुए राह चलता गया। कुछ देर में पसीने-पसीने हो गया। मत्थे और ठोढ़ी से बूँदें टपकने लगीं। आखिर को वह हिम्मत हार गया। कपड़े उतारने को मजबूरी हुई। छाँह की भी ख्वाहिश हुई। जब तक बदन ठण्डा न हो, पेड़ के तले लेटे रहने को जी चाहा। उसने वैसा ही किया।

इस तरह सूरज ने मैदान मारा।

कौए और घोंघा

एक दिन एक कौआ एक दूसरे कौए के पास गया। वह उसका दोस्त था। वह बैठा अपनी पूरी ताकत से खाने के लिए चुने हुए घोंघे की खपरी फोड़ रहा था। मगर खपरी मजबूत थी; वह किसी तरह भी भीतर गोश्त तक चोंच चला नहीं पा रहा था।

पहले कौए ने कहा, "सुनो, दोस्त, इसे कैसे तोड़ना चाहिए, मैं तुमसे कहता हूँ। आसमान पर जहाँ तक ऊँचा उड़ सको इसको लेकर उड़ जाओ, फिर वहाँ से एक पत्थर पर छोड़ दो। देखना, इसका वजन ही इसे तोड़ देगा।"

दूसरे कौए ने कहा, "बड़ी बढ़िया बात।" यह कहकर वह उस घोघे को लेकर उड़ गया। वहाँ से एक शिला पर इसको छोड़ दिया। शिला पर गिरते ही इसके दो टुकड़े हो गये। लेकिन बदकिस्मती से जब वह कौआ काफी ऊँचाई पर ही था, जमीन पर बैठे ताकते हुए उसके दोस्त ने एक झपट्टा मारा और घोंघे को लेकर उड़ गया।

जो हमें ऐसी सीख देते हैं, वे ऐसा अपने फायदे के लिए कहते हैं, न कि हमारे फायदे के लिए।

शिकारी और चमार

एक चमार एक रोज रीछ की खाल के लिए एक शिकारी के पास गया और दाम लगाये। शिकारी ने कहा, "कल हम तुम्हें खाल भेज देंगे। अभी तक हमें खाल

मिली नहीं। सुबह को मैं रीछ मारने निकलूँगा।"

चमार को रीछ का शिकार देखने का शौक चर्राया। दूसरे दिन वह शिकारी के साथ उस जगह गया जहाँ रीछ बेखबर पड़ा था। गुफा के मुँह के पास वे रुके। शिकारी ने गुफा में कुत्ते चला दिये। चमार शिकार का खेल देखने के लिए पास के एक पेड़ पर चढ़ा।

रीछ, देखते-देखते तेज कदम गुफा से बाहर निकला। कुत्ते पीछे लगे थे। शिकारी बिलकुल पास, रीछ के रास्ते पर था। उसने उसको गोली मारी। लेकिन वार खाली गया। रीछ बचने की जल्दबाजी में लेटे हुए उस आदमी के ऊपर आ गया। शिकारी साँस रोके पत्थर की तरह पड़ा रहा। रीछ ने उसे सूँघा और उसे मुर्दा जानकर जंगल की तरफ चला गया।

जब रीछ चला गया, चमार पेड़ से उतरा और शिकारी से पूछा, "मैंने देखा है, रीछ ने कान से लगकर तुमसे कुछ कहा है। वह क्या बात है?"

शिकारी ने जवाब दिया, "उसने कहा, भविष्य में हम रीछ के लिए ही निश्चय करें, खाल के लिए नहीं।"

कोई वादा न कीजिए यदि पूरा करने में सन्देह हो।

कुत्ता और परछाईं

एक कुत्ता एक रोज एक गहरी नदी का सँकरा पुल पार कर रहा था। मुँह में वह मांस का एक बड़ा टुकड़ा दबाये हुए था। पुल को पार करते समय उसने एकाएक नीचे पानी की तरफ देखा। वहाँ एक बड़ा कुत्ता मांस का एक दूसरा टुकड़ा दबाये हुए देख पड़ा।

उसने सोचा, 'वाह, मैं यह टुकड़ा लूंगा।' यह ख्याल में लाकर वह नदी में कूद पड़ा। उस बेवकूफ कुत्ते की समझ में यह नहीं आया कि वह दूसरा कुत्ता उसी की परछाईं थी। उसने परछाईंवाले टुकड़े को पकड़ने के इरादे से अपना मुँहवाला टुकड़ा भी खो दिया।

चीजें जैसी दिखती हैं, बहुत समय वैसी ही नहीं होतीं। पास जो कुछ है, उसको रखना अधिक पाने की ओर हाथ बढ़ाने से अधिक अच्छा है।

०००

7 ? 798

निराला

सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'

जन्म : 21 फरवरी, 1899 (स्थान : बंगाल के मेदिनीपुर जिले का महिषादल नामक देशी राज्य। मूल निवास : उत्तर प्रदेश के उन्नाव जिले का गढ़ाकोला नामक गाँव) **मृत्यु :** 15 अक्टूबर, 1961 (दारागंज, इलाहाबाद) **शिक्षा :** हाई स्कूल तक। हिन्दी, बंगला, अंग्रेजी और संस्कृत का ज्ञान स्वतन्त्र रूप से प्राप्त किया। **वृत्ति :** प्रायः 1918 ई० से लेकर 1922 ई० के मध्य तक महिषादल राज्य की सेवा में। उसके बाद से सम्पादन, स्वतन्त्र लेखन और अनुवाद-कार्य। 1922-23 ई० में 'समन्वय' (मासिक, कलकत्ता) का सम्पादन। 1923 ई० के अगस्त से 'मतवाला'-मण्डल में। 'मतवाला' से सम्बन्ध किसी न किसी रूप में 1929 ई० के मध्य तक बना रहा। इस बीच स्वतन्त्र लेखन और बाजार का काम' भी करते रहे। कलकत्ता छोड़ा तो लखनऊ आये, जहाँ गंगा-पुस्तकमाला-कार्यालय और वहाँ से निकलनेवाली मासिक पत्रिका 'सुधा' से 1935 ई० के मध्य तक सम्बद्ध रहे। प्रायः 1940 ई० तक लखनऊ में। तत्पश्चात् कभी इलाहाबाद और कभी उन्नाव में। 1942-43 ई० से स्थायी रूप में इलाहाबाद में रहकर स्वतन्त्र लेखन और अनुवाद-कार्य। **साहित्य :** पहली प्रकाशित कविता : 'जन्मभूमि' ('प्रभा', मासिक, कानपुर, जून, 1920)। पहला प्रकाशित निबन्ध : 'बंगभाषा का उच्चारण' ('सरस्वती', मासिक, प्रयाग, अक्तूबर, 1920)। पहली प्रकाशित पुस्तक : **अनामिका** (1923 ई०)। प्रमुख कृतियाँ : **परिमल, गीतिका, द्वितीय अनामिका, तुलसीदास, कुकुरमुत्ता, अणिमा, बेला, नये पत्ते, अर्चना, आराधना, गीत गुंज, सान्ध्य काकली** (कविता), **अप्सरा, अलका, प्रभावती, निरुपमा, कुल्ली भाट, बिल्लेसुर बकरिहा** (उपन्यास), **लिली, चतुरी चमार** (कहानी), **रवीन्द्र-कविता-कानन, प्रबन्ध-पद्म, प्रबन्ध-प्रतिमा, चाबुक, चयन, संग्रह** (निबन्ध) और **महाभारत** (पुराकथा)।

यह कवि अपराजेय निराला,
जिसको मिला गरल का प्याला;
ढहा और तन टूट चुका है,
पर जिसका माथा न झुका है;
शिथिल त्वचा, ढलढल है छाती,
लेकिन अभी सँभाले थाती,
और उठाये विजय पताका—
यह कवि है अपनी जनता का।

रामविलास शर्मा

राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड नयी दिल्ली - पटना